सम्पा. डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल

साहित्यशास्त्र के सौ वर्ष

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

साहित्यशास्त्र के सौ वर्ष

संपादक

डॉ० त्रिभुवननाथ शुक्ल

एम. ए. (हिंदी), एम. ए. (भाषाविज्ञान)
शास्त्री, साहित्याचार्य, पी-एच. डी., डी. लिट्
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी एवं भाषाविज्ञान विभाग,
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर (म. प्र.)
निदेशक :– मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी भोपाल (म० प्र०)

विकास प्रकाशन कानपुर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मूल्य : पाँच सौ रुपये मात्र

पुस्तक	:	साहित्यशास्त्र के सौ वर्ष
सम्पादक	:	डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल
प्रकाशक	:	**विकास प्रकाशन**
		३११ सी, विश्व बैंक बर्रा, कानपुर– २०८०२७
संस्करण	:	प्रथम, २०१० ई.
आवरण-सज्जा	:	छपाई घर, ब्रह्मनगर, कानपुर
शब्द-सज्जा	:	हर्षित ग्राफिक्स, जवाहरनगर, कानपुर
मुद्रक	:	अजित आफसेट, कानपुर
मूल्य	:	५००/–
I.S.B.N.	:	81-88570-87-7

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

साहित्यशास्त्र के शलाका पुरुष
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी
को
सादर समर्पित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भूमिका

'साहित्यशास्त्र के सौ वर्ष' शीर्षक से प्रकाशित होने जा रही यह कृति आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के षष्टिपूर्ति के अवसर पर तैयार की गई थी। किन्हीं कारणों से यह ग्रंथ उस समय अपना आकार नहीं ले सका था। इसी बीच त्रिपाठी जी के पचहत्तर वर्ष के अवसर पर इसे पुनः प्रकाशित करने का प्रयत्न हुआ, मगर वह भी नहीं हो सका। इधर त्रिपाठी जी गोलोकवासी हो गए। यह प्रक्रिया चलती रही अब जाकर पूरी हुई। मुझे लगता है कि नियति सबकुछ कराती है, हम मुनष्य तो मात्र माध्यम हैं। साहित्यशास्त्र का भारतीय चिंतन (संस्कृत साहित्य एवं अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्यशास्त्रीय पक्ष) इनका सुदीर्घ, बहुआयामी, जटिल एवं संश्लिष्ट है कि उस पर नए ढ़ंग प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। इस पर उसके सभी पक्षों पर जो भी कार्य हुआ है, जैसा भी हुआ है और आज उसका व्यावहारिक पक्ष क्या हो, विचार करने की जरूरत है। इसी उद्देश्य से त्रिपाठी जी से विमर्श करके कुछ बिन्दु निकाले गए थे। विद्वानों से आग्रह करके उनके आलेख प्राप्त किए गए। अब जाकर उसे पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत किया जा सका है। आज हमारा साहित्यशास्त्र ज्यों का त्यों सहेजा जाए अथवा उच्च शिक्षा के अध्ययन का विषय हो हमारी यह मंशा नहीं रही है। अपितु मंशा यह थी कि इधर जो सौ वर्षों का चिंतन है, उससे छनकर क्या आया, वह हमारी पीढ़ी को प्राप्त हो। यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति तो कुछ हद तक हुई है, फिर भी मैं पूरी तरह से संतुष्ट नहीं हूँ। कारण कि साहित्यशास्त्र की अनवरत चली आ रही परंपरा के उन सभी पड़ावों का इसमें चाहते हुए भी समावेश नहीं हो पाया है। यदि ईश्वर ने समय दिया तो इस कार्य को सामने रखकर 'वर्तमान शती का साहित्यशास्त्र' शीर्षक से एक ग्रंथ तैयार करूँगा, जिसमें साहित्यशास्त्र पुनर्पाठ प्रस्तुत हो सकेगा। तथापि संतोष है कि मेरे आग्रह पर विद्वानों ने जो कुछ भी दिया है, वह में पुनः विचार करने की एक दिशा तो देता है। आज आवश्यकता एक ऐसे समेकित साहित्यशास्त्र की है जो भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य के समस्त एवं असमान तत्त्वों के आधार पर खड़ा हो। उपलब्ध साहित्यशास्त्र का मंथन करके एक ऐसा मानक पक्ष सामने आए जो हमारे साहित्य के विश्लेषण का आधार बन सके। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर शैली वैज्ञानिक चिंतन तक सभी पक्ष अपने मूलरूप में अत्यन्त समृद्ध होते हुए भी आज के साहित्य विश्लेषण की दिशा तय करने असमर्थ हैं। दोष उसमें शास्त्र का नहीं, अपितु कमी हमारे उस श्रम में है कि आज तक हम उन समान साँचों (Comon

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

Core) को मथकर निकाल नहीं सके हैं, जिनके आधार पर आज के साहित्य का ठीक-ठीक विश्लेषण हो सके। यह कार्य मेरे अवचेतन में बराबर चल रहा है। मुझे विश्वास है कि एक दिन वह आकार ले सकेगा। पुस्तक के प्रकाशन में अत्यधिक तत्परता दिखाने हेतु विकास प्रकाशन के प्रबंधक श्री बाजपेयी को मैं साधुवाद देता हूँ। जिन विद्वानों ने इसमें सहयोग दिया है, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए भविष्य में उनसे पुनः सहयोग प्राप्त करने के लिए आश्वस्त हूँ।

भोपाल
२/६/१०

प्रो० त्रिभुवननाथ शुक्ल
निदेशक, साहित्य अकादमी
मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद
भोपाल (म. प्र.)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनुक्रमणिका

१. भारतीय काव्यशास्त्र की लक्ष्यानुसारिता और अन्तरानुशासनात्मक प्रकृति ११-२१
डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

२. वैदिक युग में साहित्य एवं संगीत का परस्पर संबंध २२-२६
डॉ. पंकजमाला शर्मा

३. वैदिक संगीत का सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धांत २७-३४
प्रो० ब्रजबिहारी चौबे

४. प्रतिभा-स्वरूप ३५-४६
डॉ. कमलनयन शुक्ल

५. संस्कृत काव्यशास्त्र में रसवत् अलंकार ४७-५५
डॉ. राजेन्द्र मिश्र

६. औचित्य सिद्धान्त के प्रणेता ५६-५८
डॉ. उषा माथुर

७. रीति के कतिपय रंग ५९-६६
डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

८. शब्द शक्ति और उसके विविध रूप ६७-७८

९. महाकाव्य तत्त्व-विमर्श ७९-९९
डॉ. रहस बिहारी द्विवेदी

१०. संगीत और काव्य का अविनाभाव संबंध (सूरसागर के परिप्रेक्ष्य में) १००-१०८
डॉ. प्यारेलाल श्रीमाल 'सरस पंडित'

११. भारत में काव्य और संगीत की समवेत परम्परा १०९-११३
डॉ. सुधारानी शर्मा

१२. रंगमंच ११४-११७
डॉ. धर्मध्वज त्रिपाठी

१३. रंगमंच ११८-१२२
डॉ. शैलजा पाण्डेय

१४. वृत्तयो नाट्मातरः १२३-१३२
डॉ. कृष्ण चन्द्र झा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१५. मत्तवारणी १३३-१४३
डॉ. श्रीमती इला घोष
१६. अवस्था : अर्थ, प्रकृति और संधि १४४-१४६
डॉ. जयकुमार जलज
१७. मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के मर्मी समीक्षक आचार्य द्विवेदी १५०-१५६
डॉ. देवकीनंदन श्रीवास्तव
१८. चमकृति : मूल काव्य तत्त्व १६०-१६६
सूर्यनारायण द्विवेदी
१६. नायिका भेद (प्रथम रीति कवि कृपाराम के विशेष संदर्भ में) १७०-१८३
डॉ. राजकुमार सिंह
२०. हिंदी काव्यशास्त्र १८४-२०१
डॉ. पुष्पा बंसल
२१. शास्त्रीय दृष्टि : नया आलोक २०२-२०६
डॉ. मणिशंकर आचार्य
२२. मिथकीय समीक्षा और संभावनाएँ २०७-२२१
डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
२३. रंगकर्म की भारतीय परम्परा : सामान्याभिनय २२२-२२७
डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल,
२४. काव्य स्वरूप और उसके स्रोत : २२८-२३७
रहस बिहारी द्विवेदी
२५. आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का साहित्य शास्त्रीय चिन्तन २३८-२४५
डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल
२६. संस्कृत काव्यशास्त्रियों की अनौचित्य विषयक दृष्टिः २४६-२६२
डॉ. देवीदत्त शर्मा
२७. शैली विज्ञान और भारतीय काव्य शास्त्र : २६३-२८६
डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव
२८. काव्य की रचना प्रक्रिया-अभिनवगुप्त की दृष्टि में २६०-३०४
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी
२६. वक्रोक्ति मत का स्वरूप : ऐतिहासिक और
दार्शनिक पीठिकाएँ ३०५-३१६
डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१
भारतीय काव्यशास्त्र की लक्ष्यानुसारिता और अन्तरानुशासनात्मक प्रकृति

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी

लक्षणों का निर्धारण और व्यवस्थापन लक्ष्य के अनुसार होता है। आनन्दवर्धन ध्वन्यालोक के आरंभ में ही कहते हैं कि सहृदय जन ध्वनितत्त्व को रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रंथों में परिलक्षित करते आ रहे हैं।[1] निश्चय ही आनन्दवर्धन की दृष्टि में काव्यशास्त्र के लक्ष्यग्रंथों में रामायण और महाभारत का नाम सबसे ऊपर था। अपने ग्रंथ के उपसंहार में भी उन्होंने कहा है कि बाल्मीकि और व्यास जैसे प्रख्यात कवीश्वरों की रचनाओं के अभिप्रायों को समझबूझ कर उनके आधार पर हमने अपना सिद्धांत गढ़ा है, उनसे बाहर जा कर नहीं।[2]

आनन्दवर्धन ने लक्ष्य के रूप में रामायण और महाभारत का निदर्शन इसलिये भी किया है कि ये दोनों ग्रंथ कविता के अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण तो हैं ही, वे लौकिक संस्कृत साहित्य के आद्य ग्रंथ हैं। वे समस्त भारतीय साहित्य के उपजीव्य और प्रेरक हैं। पर रामायण और महाभारत के पूर्व भी तो उत्कृष्ट काव्य की परंपरा वैदिक कविता में मिलती है, उसका निदर्शन आनन्दवर्धन ने लक्ष्य के रूप में क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि एक तो रामायण, महाभारत के आगे 'आदि' कह कर उपलक्षण से उन्होंने काव्य की इससे पूर्ववर्ती और परवर्ती परंपरा का संकेत कर दिया है। दूसरे वे वेद को अपौरुषेय काव्य मानने के कारण लौकिक काव्य के संदर्भ में उसका निदर्शन प्रस्तुत करने से बचना चाहते हैं। पर क्या वेद की पहचान कविता के रूप में और कविता के शास्त्र के प्रेरक के रूप में नहीं की जानी चाहिये? काव्यशास्त्र के आचार्यों में इस दृष्टि से राजशेखर अधिक साहसी हैं। वे कहते हैं कि वेद की भी पूरी परख तभी हो सकती है, जब काव्य के रूप में भी उसे पहचाना जाय।[3] भारतीय परंपरा ज्ञान के समस्त प्रस्थानों का स्रोत वेद में देखती है, तो काव्य और काव्यशास्त्र को उससे अलग कैसे रखा जा सकता है? भरतमुनि का नाट्यशास्त्र काव्यशास्त्र का भी आ कर ग्रंथ है और उसमें नाट्यवेद की उत्पत्ति चार वेदों से बताई गयी है–

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यों गीतियेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।

ऋग्वेद से पाठ्य लेने की बात काव्य और काव्यशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि नाट्य का पाठ्य अंश हमारी परंपरा में काव्य ही है। नाट्यशास्त्र इस

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

दृष्टि से नाट्य की पहचान काव्य के रूप में किये जाने पर बल देता है और अभिनव इसके व्युत्क्रम में काव्य की पहचान रूपक के रूप देखते हैं– "काव्यं तावन्मुख्यतो दशरूपकात्मकमेव।"[४]

अतएव ऋग्वेद में कविता का समुज्जवल निदर्शन ही नहीं, काव्यशास्त्रीय चिंतन का उपक्रम भी देखा जाना चाहिये। ऋग्वेद के अनेक स्थलों में कविता की भाषा और संरचना के विषय में चिंतन के सूत्र दिये गये हैं। इन सूत्रों से ही भारतीय काव्यशास्त्र की आधारभूमि बनी है।

इन स्थलों में वाक् की पहचान सर्जना की मूल शक्ति के रूप में की गयी है। उसे 'भूरिस्थात्रा' और 'भूर्यावेशयन्ती' (सर्वव्यापिनी और सबमें समाई हुई) कहा गया है।[५]

यह वाक् दिव्य शक्ति है, जो प्रत्येक प्राणी में स्वतः अन्तर्निहित है, पर उसका प्रकटीकरण और प्रतिफलन सबमें समान नहीं होता। इसलिये वैदिक ऋषि का संकल्प है–

देवीं वाचमजनयन्त देवा–
स्तां विश्वरूपां पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना–
धेनुर्वागस्मानुप० सुष्ट० तैति।।– ऋ० ४. १००.१

सर्वव्यापिनी होने के कारण यह वाक् सर्जना की शक्ति (कारयित्री प्रतिभा) के रूप में रचनाकार के भीतर रहती है। उसके कारण वस्तुओं के गुह्य रूप को कवि देख पाता है। उसी के कारण काव्य विश्व की नाम रूपात्मकता है।[६] वाक् के द्वारा हम वस्तुतत्त्व का दर्शन (साक्षात्कार) भी करते हैं और उसे नाम भी देते हैं। काव्यशास्त्री भट्टतौत ने इस दृष्टि से कवि को ऋषि तथा काव्यरचना प्रक्रिया को दर्शन और वर्णन के दो सोपानों से लक्षित किया है–

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किलदर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्व प्रख्या च दर्शनम्।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढ़ा लोके कविश्रुतिः।।
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येप्यादिकवेर्मुनेः।,
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना।।
(काव्यानुशासन, अ. ८ की विवृति में उद्धृत)

दर्शन और वर्णन की काव्यप्रतिभाजन्य परिणतियों को अभिनवगुप्त ने प्रख्या और उपाख्या के रूप में परिभाषित किया।[७]

वस्तुतः शैवदर्शन, व्याकरणदर्शन तथा अलंकार शास्त्र में प्रतिभा के विचार का पल्लवन ऋग्वेद में निरूपित वाक्तत्त्व से ही हुआ है। वहाँ वाक् को समस्त विश्व की जन्मदात्री कहा गया है (वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे)। बृहदारण्यरक इसी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परंपरा में कहता है कि वाक् से रहित पृथ्वी पर कुछ भी नहीं है।[८] शैवदर्शन की परंपरा में इसी आधार पर कहा गया कि प्रतिभा से रहित संसार में कोई जंतु है ही नहीं।[९]

> यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोऽपि जन्तुकः। व्युत्पन्तेर्हि–
> प्रतिभात्मकमेव वस्तु मूलम्।.... अत एव व्यवहाराः प्रती–
> यन्ते तिरश्चामपि यद्वेशात्।– तन्त्रालोक १३/८६

वाक्यपदीयकार ने भी व्याकरण दर्शन की परंपरा में प्रतिभा को अयत्नज माना।[१०] अलंकारशास्त्र की परंपरा तो प्रतिभानिरूपण में सीधे ऋग्वैदिक वाक् के स्वरूप से अनुगृहीत हुई। महिमभट्ट ने इसी परंपरा में प्रतिभा को ईश्वर का तृतीय नेत्र कहा, जो त्रिलोकी की वास्तविकता से साक्षात्कार कराता है।[११]

काव्यसर्जनाव्यापार में स्वतः स्फुरण और काव्यानुकूलशब्दार्थ को अनायास जुटाने की क्षमता प्रतिभा की देन कही गयी है। भवभूति ने इसे 'आकस्मिक प्रत्यवभास' के द्वारा लक्षित किया है।[१२] रुद्रट कहते हैं कि अभिधेय या कथ्य का जो स्वतः स्फुरण करा दे तथा सहज रूप में पदावली को प्रकट करा दे वह शक्ति या प्रतिभा है।[१३] प्रतिभा के कारण काव्यार्थ में विराम नहीं होता है[१४] कविता कभी चुकती नहीं, क्योंकि– "आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना।"[१५] काव्यरचना प्रक्रिया का यह निरूपण और उसमें प्रतिभा के अवदान की पहचान वस्तुतः वैदिक कवियों के उन उद्‌गारों की परंपरा में है, जहाँ वे मंत्रों या सूक्तों की अपनी सर्जना प्रक्रिया पर स्वयं चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे आसमान से बौछार स्वतः होने लगती है, वैसे मेरे मन से स्तुति स्वतः उपजती है।[१६] स्तुतियाँ या कविताएँ उन्हें पहाड़ से फूटते सोतों या नदियों की तरह झरती या स्रवित होती प्रतीत होती हैं।[१७] वे हृदय के महासागर से अनंत धाराओं में फूट पड़ती हैं।[१८]

सर्जनाव्यापार में स्वतः स्फूर्ति और आकस्मिकता के साथ-साथ उसमें परिष्कार, अभ्यास, आयास और व्युत्पत्ति के योग की अपेक्षा से भी ये कवि सुपरिचित हैं। वे कहते हैं कि धीर पुरुषों ने वाणी को मन से उसी तरह परिष्कृत किया है, जिस तरह चलनी से सत्तू को छान कर साफ किया जाता है।[१९] वेद का कवि स्वयं कहता है कि मैंने अपने काव्य को ऐसे ही तराशा और बनाया है जैसे रथकार रथ को बनाता है या जुलाहा वस्त्र को।[२०] उसके लिये काव्य हृदय से तराशा हुआ और मन से गुना तत्त्व है।[२१] इस प्रकार काव्यशास्त्र में प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों को काव्यरचना का हेतु मानने की परंपरा का[२२] बीजवपन यहाँ हुआ।

कारयित्री प्रतिभा के साथ भावयित्री प्रतिभा का भी विचार वैदिक कवियों ने सूत्र रूप में दिया है। वाक् प्रतिभा है, प्रतिभा की परिणतियों का साक्षात्कार भी वही व्यक्ति कर सकता है, जिसके भीतर वाक् तत्त्व स्पंदित हो। वाक् तत्त्व जिसके भीतर झंकृत नहीं, वह तो वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता और सुनता हुआ भी नहीं सुनता। वाक् जिसमें स्पंदित है उसके भावबोध में काव्य की देह उसी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रकार स्वतः उन्मीलित हो जाती है, जिस प्रकार प्रेम से भरी पत्नी अपने देह को पति के आगे खोलती है।[२३] वैदिक कवि के इस कथन की सरणि ही आचार्य आनन्दवर्धन कहते हैं कि काव्य का मर्म केवल भाषाज्ञान से नहीं खुलता, काव्यार्थ का तत्त्व जानने वाला ही उसे खोल पाता है।[२४]

यद्यपि वैदिक दर्शन में यह समस्त जगत् वाक् की ही परिणति है, पर वाक् की एंक विशिष्ट परिणति शब्दार्थयुग्म में है। ऋग्वेद के कवि ने शब्दार्थयुग्म के रूप में वाणी की परिणति उन सोपानों की चर्चा की है, जो भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन की नींव हैं और काव्यशास्त्र का प्रतिभानिरूपण भी जिनसे अनुषक्त है–

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि इङ्गिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचं मनुष्या वदन्ति।। ऋ. १. १६४. ४५

वाक् के तीन चरण जिस गुहा में यहाँ छिपे हुए कहे गये हैं, वह वस्तुतः प्रतिभा ही है। वाक् का चतुर्थ चरण शब्दार्थ– युगल के रूप में उसकी वह परिणति है, जिसे बैखरी कहा गया है। काव्य के रचनाव्यापार में कवि की अभिव्यक्ति वाक् के प्रथम तीन चरणों से गुजर कर इसी चरण तक पहुँचती है और काव्य का भावक भी शब्दार्थ युग्मरूप इस बैखरी वाक् से पहले साक्षात्कार करता है। वाक् के इस रूप में शब्द और अर्थ का सहभाव रहता है। वैदिक कवि कहीं अर्थ को शब्द का सखा कहते हैं कहीं उसे वाक् का पुष्प या फल बताते हैं।[२५] वस्तुतः ये कथन भामह के काव्य-लक्षण-शब्दार्थो सहितौ काव्यम्– तथा काव्य की संरचनावादी मीमांसा की पीठिका निर्मित करते हैं।

काव्य की इस विषयगत स्थिति के साथ उसकी विषयीगत परिणति– काव्य के प्रभाव या सौंदर्यानुभूति से ऋग्वेद के कवि सुपरिचित हैं। उनकी दृष्टि में काव्याभिव्यक्ति हृदय को उसी प्रकार छूती है, जिस प्रकार प्रेमातुर पत्नी प्रेमातुर पति को।[२६] वह हृदयस्पर्शी और चित्त का शमन करने वाली होती है।[२७] इन कथनों में निश्चय ही रसास्वाद की अवधारणा और कलानुभूति विषयक चिंतन के बीज हैं।

काव्य प्रतिभा, रचनाप्रक्रिया, रस और रसास्वाद के विषय में इन सूक्ष्म पर महत्त्वपूर्ण और साभिप्राय संकेतों के साथ ऋग्वेद के कवि अलंकार, वक्रोक्ति, गुण और रीति की अवधारणाओं पर भी प्रकारांतर से विचार करते प्रतीत होते हैं। ''इन्द्र. .... का ते अस्ति अरङ्कृतिः सूक्तैः'' (ऋ० ७, २१. ३३) जैसे स्थलों में 'अरंकृति' शब्द के प्रयोग में विद्वानों ने काव्यालंकार की अवधारणा का सुस्पष्ट संकेत माना ही है। काव्यगत उक्तिवैचित्र्य या वक्रोक्तिका सूक्ष्म संकेत भी 'अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्' (ऋ० १०. ११६.५) आदि मंत्र देते हैं। वाक् के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त अनेक विशेषण काव्यगुणों के सूचक हैं। उदाहरणार्थ–

– नवस्रक्तिं ऋतस्पृशम्।– ८. ८. ७७ (नवस्रक्ति = मौलिक, वामन का

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

समाधिगुण)

— पर्जन्यश्चित्रां वदति त्विषीमतीम्।— ६. ३. ६६ (कान्ति गुण)

इनके अतिरिक्त द्योतमाना (कांतिमय) स्वादुमत् (मधुर) द्युमती इषिरा (सोद्देश्य), अनभीवा (निर्दोष) आदि विशेषणों में कान्ति, अर्थव्यक्ति, माधुर्य, ओजस् आदि वामन प्रोक्त गुणों का आभास है।

वस्तुतः वैदिक कवियों के अपने काव्य या उसकी रचनाप्रक्रिया के विषय में प्रकट किये गये इन मंतव्यों में समस्त भारतीय कलाचिंतन और सौंदर्यशास्त्र की पीठिका अनुस्यूत है। वाक् चैतन्य रूप है। इसकी एक परिणति शब्दार्थयुगल में तथा उसके द्वारा काव्यार्थ बोध या रसास्वाद में होती है। वैदिक कवियों के कथनों से निकले इस सूत्र को उपनिषदों ने दार्शनिक आधार दिया। चैतन्य आनंद रूप है। वह सर्जना व्यापार में अपने को ही विभक्त या विस्तारित करता है। इसकी परिणति आनंद में ही होती है। अतएव उपनिषद् के द्रष्टा आनंद को ही सृष्टि का मूल बताते हैं। प्रत्येक प्राणी उसी से जन्मा, उसी में जीता और उसी के लिये खटता मरता है।[२८] जब कुछ भी नहीं था, तब पुरुष ने यह सृष्टि अपने आपको दो में विभक्त करके की, क्योंकि वह एकाकी नहीं रम पा रहा था, अपने अकेलेपन से वह डर रहा था।[२९] कला की सृष्टि भी अपने आपको तोड़ कर, विभक्त और फिर विस्तारित करके और अपने अकेलेपन को दूर करते हुए समष्टि से जुड़ने के लिये होती है। अतएव वैदिक काव्य परंपरा के सातत्य में पल्लवित इस औपनिषदिक दर्शन को रसवादी आचार्यों ने यदि अपने लिये प्रमाण के रूप में उदाहृत किया[३०] तो यह उनके लिये स्वाभाविक ही था।

दूसरी ओर ब्राह्मण ग्रंथों ने वैदिक सूक्तों की आनुष्ठानिकता को केंद्र में रखा, तो उससे शिल्प या रूप को लेकर हमारा चिंतन अग्रसर हुआ। इंद्र की रूप का प्रतिरूप-रचने की क्षमता की बात वैदिक कवियों ने की थी।[३१] शतपथ ब्राह्मण ने प्रतिरूप को ही शिल्प कहा।[३२] नृत्य, गीत, वादित्र— ये तीन शब्द के प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में माने गये।[३३] फिर छदोमयी वाक् को भी उसमें परिगणित किया गया। इस शिल्प से व्यक्ति अपने को संस्कारित करता है।[३४] शिल्प की इस धारणा को ब्राह्मण ग्रंथों ने अनुकरण की प्रक्रिया से भी जोड़ा और कहा कि अनुकृति ही शिल्प है।[३५] अनुकृति काव्यानुभूति का एक बीज शब्द है, जिसकी अवधारणा इस वैदिक परंपरा ने दी।

वैदिक परंपरा ने निर्विकल्पक रूप में काव्यशास्त्र की जिन कोटियों का निरूपण किया, रामायण और महाभारत की रचना के समय उनका सविकल्पक बोध होने लगा। रामायण में शृंगार, करुण, हास्य, रौद्र, भयानक और वीर— इन छह रसों का नाम देकर 'आदि' लगा कर रसभेदों की समग्र अवधारणा का संकेत किया है।[३६] माधुर्य,[३७] उदारता[३८], ओजस् आदि[३९] काव्यगुणों का भी सुस्पष्ट परिज्ञान यहाँ परिलक्षित होता है। महाभारत ने तो उत्तम काव्य को सीधे-सीधे इस प्रकार

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परिभाषित ही कर दिया है–

अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैदिव्यमानुषैः।
छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्।।
सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।

कविता के वैशिष्ट्य को आँकने के लिये उपयुक्त पदावली तथा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण का उपक्रम हम महाभारत में पाते हैं।[४०]

(२)

१. वाक् केंद्रित वैदिक चिंतन का विकास एक ओर रस या आनन्द के परम की गवेषणा में औपनिषदिक दर्शन में हुआ या तो दसूरी ओर वाक् का विचार षड्दर्शनों में वाकोवाक्य या रेटोरिक्स के रूप में पल्लवित होने लगा। वाक् का स्वरूप व्याकरण दर्शन तथा शैवदर्शन में प्रतिभा विचार के अंतर्गत भी विवेचित हुआ। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने रसविषयक चिंतन का उत्स 'रसो वै सः' इत्यादि औपनिषदिक वाक्यों में ही देखा। इसके साथ ही शास्त्रीय चिंतन की आधारभित्ति खड़ी करने के लिये षड्दर्शनों से भी विभिन्न अवधारणाएँ तथा कोटियाँ लेना उनके लिये आवश्यक था।

२. गौतम ने अपने न्यायसूत्र में स्मृति का विशद विवेचन किया है। उन्होंने स्मृति के २५ कारण बताये हैं।[४२] इनमें सादृश्य ज्ञान भी एक है। काव्यशास्त्र में स्मृति व्यभिचारी भाव तथा स्मरणालंकार के विवेचन में भी सादृश्यज्ञान (समान वस्तुदर्शन को विभाव या कारण माना गया है।[४३]

३. छल न्यायदर्शन के सोलह पदार्थों में परिगणित है। यह तीन प्रकार का बताया गया है– वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल।[४४] वक्ता के कथन को प्रतिवादी द्वारा अन्य अर्थ में लेना वाक्छल है।[४५] वस्तुतः यही लक्षण वक्रोक्ति अलंकार का मम्मट और रुद्रट ने दिया है। वात्स्यायन भाष्य में वाक्छल का उदाहरण दिया है– 'नवकम्बलोऽयं माणवकः'– इस माणवक के पास नव (नया) कंबल है इस वाक्य का प्रतिवादी 'इस माणवक के पास नौ कंबल हैं'– यह आशय लेता है। रुद्रट और मम्मट के वक्रोक्ति अलंकार का भी यही उदाहरण होगा।

उपचारच्छल के द्वारा तो न्यायसूत्रकार ने लक्षणा का संपूर्ण वृत्त समेट लिया है। अर्थसदभाव प्रतिषेध (मुख्यार्थबाध) ही उपचारच्छल है।[४६] वात्स्यायन भाष्य ने इसका उदाहरण दिया है– 'मञ्चाः कोशन्ति' जो काव्यप्रकाश आदि ग्रंथों में लक्षणा का सुप्रसिद्ध उदाहरण है। भाष्यकार उपचार में लक्षणा को पूर्णतया गतार्थ देखते हैं।[४७]

उपचार के दस हेतु न्यायसूत्रकार ने बताये हैं। यदि काव्यशास्त्र के आचार्य लक्षणाविवेचन में इस हेतु दर्शक को भी जोड़ लेते, तो उनका विवेचन और भी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सयुक्तिक हो सकता था। तथापि इन दस हेतुओं के भाष्यकार द्वारा दिये गये उदाहरणों में से कुछ काव्यशास्त्र के ग्रंथों में बराबर प्रचलित रहे हैं, जो उपचार हेतुओं और क्रमशः उनके उदाहरणों की तालिका से स्पष्ट ही हैं–[४८]

हेतु	न्यायभाष्य में उदाहरण	काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में उदाहरण
१. सहचरण	यष्टिकां भोजय	यष्टयः प्रविशन्ति
२. स्थान	मञ्चाः क्रोशन्ति	(वही)
३. तादर्थ्य	कटं करोति	स्थूणा इन्द्रः
४. वृत्त	यमो राजा, कुवेरो राजा	गोर्वाहीकः
५. मान	आढकसक्तवः	–
६. धारण	तुलाचन्दनम्	–
७. सामीप्य	गङ्गायां गावश्चरन्ति	गङ्गायां घोषः
८. योग	कृष्णः शाटकः	–
६. साधन	अन्नं प्राणाः	आयुर्वै घृतम्
१०. आधिपत्य	अयं पुरुषः कुलम्, अयं गोत्रम्।	राजकीयः पुरुषो राजा

न्यायदर्शन के १६ पदार्थों में निग्रहस्थान भी एक है। २२ निग्रह स्थानों में से निरर्थक, अपार्थक, न्यून, अधिक तथा पुनरुक्त– ये पाँच तो सीधे-सीधे काव्यदोष बनकर काव्यशास्त्र में आ गये हैं।

न्यायसूत्र के अतिरिक्त एक अन्य शास्त्र जिसका सीधा प्रतिफलन काव्यशास्त्रीय प्रस्थानों में दिखायी पड़ता है, कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। अर्थशास्त्र के अध्यक्ष प्रचार में २८ वें प्रकरण के अंतर्गत लेखसम्वत् का निरूपण किया गया है। लेखसम्वंत् में छः गुण बताये गये हैं, जो एक राजा द्वारा अन्य राजा को प्रेषणीय लेख में अपेक्षित हैं– अर्थक्रम, सम्बन्ध, परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व। इनमें से माधुर्य और औदार्य के लक्षण प्रायः अर्थशास्त्रकार ने वे ही दिये हैं[४९] जो उनके कई शताब्दियों बाद दण्डी या वामन जैसे आचार्यों ने दिये।[५०] स्पष्टत्व भी भरत तथा वामन अर्थव्यक्ति गुण का स्थानापन्न है। लेखसम्वत् के प्रथम दो गुण काव्यशास्त्र में क्रमभंग, अविर्धयाविमर्श आदि दोषों के अभाव में अनुसंहित हो गये हैं, जबकि कौटिल्य ने तृतीय गुण परिपूर्णता का जो लक्षण दिया है, वह साहित्य और कतिपय अलंकारों की अवधारणा को भी समाहित किये हुए है–

'अर्थ– पदाक्षराणामन्यूनातिरिक्तता हेतूदाहरण–
दृष्टान्तैरर्थोपवर्णना श्रान्तपदतेति परिपूर्णता'

इसी प्रकार कौटिल्य ने पाँच लेखदोष बताये हैं– अकान्ति, व्याघात, पुनरुक्त, अपशब्द तथा सम्प्लव।[५१] इनमें व्याघात का लक्षण काव्यशास्त्र के विरोध से तादाम्त्य रखता है और अपशब्द का च्युतसंस्कृति दोष है। पुनरुक्त तो इसी नाम

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

से काव्यशास्त्र में प्रचलित रहा ही है। सम्प्लव का संबंध भी भरत द्वारा प्रतिपादित अभिप्लुतार्थ काव्यदोष से है।[५२]

कौटिल्यनिरूपित लेखसम्वत् का संबंध यदि लेख के रूप (फार्म) से है, तो लेखार्थ का आशय वस्तु (कंटेंट) से है। कौटिल्य ने लेखजनित अर्थ की तेरह प्रवृत्तियाँ बतायी हैं– निन्दा, प्रशंसा, पृच्छा, आख्यान, अर्थना, प्रत्याख्यान, उपालम्भ, प्रतिषेध, चोदना, सान्त्व, अभ्युपपत्ति, भर्त्सना, अनुनय।[५३]

भरत निरूपित काव्यलक्षणों में आख्यान, पृच्छा, याच्ञा, प्रतिषेध, गुणकीर्तन तथा प्रियोक्ति का संबंध या तादात्म्य उपर्युक्त अर्थगत प्रवृत्तियों में क्रमशः आख्यान, पृच्छा, अर्थना, प्रतिषेध, प्रशंसा तथा अनुनय के साथ है।

निश्चय ही वैदिक वाग्विषयक चिंतन तथा इतर प्रस्थानों के अंतरवलंबन से भारतीय काव्यशास्त्र की नींव बनी और पुख्ता हुई।

संदर्भ

१. रामायण महाभारत प्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्ध व्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' .... ध्वन्यालोक १/१ वृत्ति।

२. वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः। तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः।।– वही ३.१६

३. काव्यमीमांसा, बड़ौदा सं., पृ. ३

४. अभिनवभारती

५. ऋग्वेद १०.२५.३

६. वही, ६.६५.२

७. ध्वन्यालोक-लोचन-१

८. यावत्येव वाक् तावती पृथिवी।– बृह. उप. १५.११

६. महार्थमञ्जरी– १०५ भी द्रष्टव्य।

१०. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता। सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।।– वा० प० २/१४५

यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा।।
वाक्यपदीय २/१४५, १४८

११. सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः।।

व्यक्तिविवेक २.११८

१२. उत्तररामचरित द्वितीय अंक– 'आकस्मिक प्रत्यवभासां दैवीवाचम्–

१३. मनसि सुसमाधिनि स्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि च पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रतिभेत्यपरैरूदिता....।– रुद्रटः काव्यालङ्कार, १. १५,१६

१४. न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः।

ध्वन्यालोक ४, ६

१५. क्षेमराजकृत स्तोत्रावली व्याख्या में उद्धृत।

१६. इयं वामस्य मन्मना इन्द्राग्नी पूर्व्या स्तुतिरभ्राद् वृष्टिरिवाजति ऋ. ७.६४.१.

१७. सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेनाः।– वही. ४. ५८.६

१८. एता अर्षन्ति हृदात् समुद्रात्छतव्रजाम्– वही. ४. ५८.५

१६. सक्तुमिव तितउना पुनन्नो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रता-वही, १०.२१.१

२०. रथं न धीराः स्वपा अतक्षाम्।– वही, ५. १६.१५
वस्त्रेण भद्रा सुकृता वसूय।– वही १०.७१.८

२१. हृदा तष्टेषु मनसो. जवेषु।– वही, ५. १६.१५

२२. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाम्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

–काव्यप्रकाश १. २

२३. उत त्वः पश्यन्न ददर्शवाचमुतत्वः शृणवन्न शृणोत्येनाम्।
उत त्वस्मै तन्वो विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।

ऋ० १०. ७१. ४

२४. शब्दानु शासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम्।।– ध्वन्यालोक १. ७

२५. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष
यस्ति त्याज सचिविदं सखायं न वाच्यपि भागोऽस्ति।

ऋ० १०. ७१. ५, ६

अर्थो हि वाचः फलं पुष्पं च ।.... वाचः सखायं सखि–
भूतमर्थम्।– उपर्युक्त की व्याख्या में उदगीथ।

२६. पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं
स्पृशन्ति त्वां शवसान्मनीषा।। ऋ. १. ६२. ११
जायेव पत्यावधि शेव मंह से।. ऋ. १. ८२. ४

२७. स्तोमो अग्नियो हृदिस्पृशस्तु शन्तमः। ऋ. १. १६. ७

२८. असद् वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्
तत् सुकृतमुच्यते। यद् वैं सुकृतं रसो वै सः। रसं ह्योवायं लब्ध्वानन्दीभवति।।–

तैत्ति० उप. २. ७

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाध्येव खल्विमानि
भूतानि जायन्ते, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशति– वही, ३. ३. ६

२६. सो ऽ बिभेंत् तस्मादेकाकी बिभेति, स हायमीक्षाञ्चक्रे यन्मदन्यन्नास्ति, कस्मान्नु
बिभेमीति? तत एवास्य भयं वीयाय। कस्माद्ध्यभेष्यद्, द्वितीयाद् वै भयं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भवति। स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमतेः–

बृहदा. उप. १. ४. २. ३

३०. द्र. ध्वन्यालोक २. ४ पर लोचन।

३१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। (ऋ.)

३२. यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्।– शतपथब्रा. ३. १. ५.५

३३. तानि वै तृचानि भवन्ति। त्रिवृद् वै शिल्पम्
नृत्तं गीतं वादितामिति।– कौषी. ब्रा. २६.५

३४. शिल्पं ह्यस्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद, यदेव शिल्पानि आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि छन्दोमयं वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्क्रुरुते।– ऐत० ब्रा. ६. २७

३५. देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते हस्तीकं सो वां सो हिरण्यमश्वतरीरथः शिल्पम्– वही, ६.२७

३६. रसैः शृङ्गारकरुण हासरौद्रभयानकैः।
वीरादिमी रसौर्युक्तं काव्यमेतदगायंताम्।।

– रामायण १. ४. ६

३७. पाठ्ये गेये च मधुरम्।– वही १. २. ८
अहो गीतस्य माधुर्य श्लोकान ांच विशेषतः।– वही, १. २. २७

३८. उदारवृत्तार्य पदैर्मनोरमैः ततः स रामस्य
चकार कीर्तिमान्। – वही, १. २. ४२

३६. तदुपगतसन्धि समासयोगं
समधुरोपनतार्थ वाक्यबद्धम्।।– वही. १. २. ४३
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमात्मवान्।– वही, १. ४. ४३
अविस्तरमसन्दिग्धमविलम्बितमव्यथम्।–. वही ४. ३. ३१

४०. तस्याख्यानवरिष्ठस्य विचित्रपदपर्वण ।

—महाभारत, आदि। १.२४

विचित्रार्थ पदाख्यानम् ।– वही, २. २४५
वाक्यमुच्चैर्जगादेवं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम्।
अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः।
छन्दोवृतैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्।।–
प्रस्तुतलेखक की पुस्तक ''भारतीय नाट्य-स्वरूप और परंपरा' भी द्रष्टव्य।

४१. द्र० पा० टि० – २८।

४२. प्रणिधान- निबन्धाभ्यास- लिङ्ग- लक्षण- सादृश्य- परिग्रहाश्रयाश्रित सम्बन्धानन्तर्य वियोगैककार्य विरोधातिशय- प्राप्ति- व्यवधान- सुख- दुःखेच्छा- द्वेष- भयार्थित्व क्रिया- राग- धर्माधर्म- निमित्तेभ्यः।– न्यायसूत्र ३. २. ४१

४३. स्मृतिर्नाम सुखदुःखकृतानां भावानामनुस्मरणम्।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सा च स्वास्थ्य रात्रिजघन्यनिद्राच्छेदसमानदर्शनो दाहरण चिन्ताभ्यासादिर्विभावैः समुत्पद्यते।

सादृश्यज्ञानोद्‌बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः।–

४४. त्रिविधं छलं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति।– न्यायसूत्र १ २. ११

४५. अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पन वाक्छलम्।– न्यायसूत्र १. २. १२

४६. धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्‌भाव प्रतिषेध उपचारच्छलम्। वही, १. २. १४

४७. भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनमुपचारविषयं छल मुपचारच्छलम्।
उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्‌भावे तद्‌वदभिधानमुपचार इति।– उपरिलिखित पर वात्स्यभाष्य।

४८. सुखोपनीत चार्वर्थशब्दाभिधानं माधुर्यम्।– अर्थशास्त्र २. १०. १०

४६. अग्राम्य शब्दाभिधानमौदार्यम्।– अर्थशास्त्र २. १०. ११

५०. (१) उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः (काव्यपद्धति) – काव्यादर्श १. ७६

(२) अग्राम्यत्वमुदारता।– (अर्थगुण) – काव्यालङ्कारसूत्र ३. ३२

५१. अकान्तिर्व्याघातः पुनरुक्तमपशब्दः सम्प्लव इति लेखदोषः।–
अर्थशास्त्र, २. १०. ५७

५२. अवर्गे वर्गकरणं वर्गे चावर्गक्रिया गुणविपर्ययसिः सम्प्लवः। वही २. १०. ६२
अभिप्लुतार्थं विज्ञेयं यत् पदेन समस्यते। नाट्यशास्त्र १६. ६२

५३. अर्थशास्त्र २. १०. २३, २४

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२
वैदिक युग में साहित्य एवं संगीत का परस्पर संबंध

डॉ. पंकज माला शर्मा

विश्व सर्जन की क्रिया जिस क्षण प्रारम्भ हुई उसी क्षण से साहित्य का भी सृजन प्रारम्भ हुआ। हाँ, यह बात दूसरी है कि वह साहित्य सर्जन शब्दात्मक न होकर तत्त्वात्मक था। इसीलिये तो विश्व को या प्रकृति जगत् को भी परमात्मा का एक काव्य कहा गया। 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' के द्वारा वैदिक ऋषि ने उसी काव्य की ओर संकेत किया है। यह प्रकृति अपने समस्त तत्त्वों के साथ अनेक विविधताओं को लिये हुए नित्य सर्जन की दिशा में बढ़ रही है, वही परमात्मा का प्रथम काव्य था। इसीलिये वैदिक ऋषि ने उस प्रकृति को ही लक्ष्यकर उसे देव का काव्य कहा। इसी बात को थोड़े दूसरे ढंग से प्लेटो ने प्रकृति को परमेश्वर की अनुकृति कहा। यह प्रकृति जो परमेश्वर की सृष्टि या अनुकृति है, तत्त्वात्मक है। यही तत्त्वात्मक सृष्टि मानव स्रष्टा के मन में आकर जब सर्जन के लिये या अभिव्यक्त होने के लिये उद्वेलित होने लगती है, तब एक विशिष्ट शब्दात्मक सृष्टि का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार तत्त्वात्मक सृष्टि, परमात्मा का काव्य बनती है उसी प्रकार मानव मस्तिष्क से तत्त्वात्मक सृष्टि की अनुभूति की अभिव्यक्ति के रूप में जो सर्जन होता है, वही काव्य या साहित्य कहलाता है। परमात्मा का सर्जन और मानव का सर्जन दोनों ही काव्य हैं अन्तर केवल इतना ही है कि एक तत्त्वात्मक है दूसरा शब्दात्मक।

इन तत्त्वात्मक तथा शब्दात्मक काव्यों में परस्पर क्या सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध को कैसे व्यक्त किया जाये जिससे विशेष रस की अनुभूति हो वही तत्त्व संगीत है। इन दोनों में समान तत्त्व नाद है। इन्हीं दोनों नादों का सामञ्जस्य स्थापित करना किंवा समरूपता स्थापित करना साम है। दूसरे शब्दों में प्रकृति जगत् के नाद को इस रूप में प्रस्तुत करना, जिससे शब्द के अन्दर निहित नाद का सामञ्जस्य स्थापित हो सके, संगीत है। वायु के प्रवाह, नदी के प्रवाह, पक्षियों के कलरव आदि में जितनी ध्वनियां हैं, उन ध्वनियों को व्यक्ति किस प्रकार से आत्मसात करके उसे ज्यों का त्यों उत्पन्न करें यही संगीत के मूल में है। अब यह बात स्पष्ट हुई कि जैसे तत्त्वात्मक प्रकृति की अनुकृति काव्य है, वैसे ही तत्त्वात्मक नाद की सुनियन्त्रित अनुकृति संगीत है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

चतुर्दिक फैली हुई परमात्मा की काव्य रूप प्रकृति ने ही सबसे पहले अपने सौन्दर्य से, अपने आश्चर्यजनक कृत्यों एवं नानाविध रूपों से मानव को आकृष्ट किया और उसके अन्तःकरण में आनन्द का संचार किया। इसी आकर्षण और तद्जन्य आनन्द के कारण सबसे पहले मानव ने उन तत्त्वों को जैसा उसने अपने अन्दर अनुभव किया शब्द के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। यही शब्दात्मक अभिव्यक्ति 'वेद' के नाम से प्रसिद्ध हुई और जिन प्राकृतिक तत्त्वों ने उस वेद में अभिव्यक्ति पायी, वे ही देव या देवता तत्त्व से अभिहित हुए। इस प्रकार विश्व का प्राचीनतम साहित्य जो सत्ता में आया वह 'वेद' है।

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रकृति जगत् के अन्दर निहित ध्वनि तत्त्व की अनुकृति से संगीत का विकास हुआ। यह मूलतः आनन्द की प्राप्ति के लिये ही था। प्रकृति जगत् की ध्वनि को स्वयं अपने मुख से या अन्य किसी साधन से उत्पन्न करने में एक चमत्कार होता है और यह चमत्कार उसमें उतना ही अधिक होगा जिसमें उस प्राकृतिक ध्वनि को सुनियन्त्रित ढंग से पुनः प्रस्तुत करने की जितनी अधिक क्षमता होगी। इसी सिद्धान्त पर नाद को संगीत का प्राण माना गया है। किन्तु केवल ध्वन्यात्मक नाद प्रारम्भ में साधक के लिये भले ही आनन्द उत्पादक रहा हो, किन्तु यह भी अनुभव किया गया होगा कि उस नाद को एक सुव्यवस्थित रूप देने के लिये और उसमें विशेष भावों को समाविष्ट करने के लिये अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। इस प्रकार नाद का अर्थतत्त्व के साथ सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता के परिणामस्वरूप साहित्य या काव्य में सृष्ट पंक्तियों को आधार बना कर गान की परम्परा चली। इस प्रकार जिसमें अर्थतत्त्व और नादतत्त्व दोनों स्पष्ट रूप से झलकते थे उस रचना को आधार बना कर गान का प्रादुर्भाव हुआ। इसका प्राथमिक स्वरूप हम वहाँ देखते हैं जहाँ देवताओं के लिये की जाने वाली स्तुतियों को गाकर प्रस्तुत किया जाता था। किसी भी भाव की अभिव्यक्ति काव्य की किसी भी विधा के रूप में हो, यदि उसको एक लयात्मकता प्रदान की जाये तो वह अधिक प्रभावशाली होती है। चाहे गद्य या पद्य द्वारा हम देवताओं की स्तुति करें लेकिन वही स्तुति जब गाकर की जाती है तो उसमें भावना की उत्कट अभिव्यक्ति होती है। इसी सिद्धान्त पर स्तुतिपरक ऋचात्मक काव्य को आधार बनाकर देवताओं को प्रसन्न करने के लिये गान रूप में साम का विकास हुआ। इस बात को लक्षण ग्रन्थों ने भी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। 'ऋच्यध्यूढं साम गीयतें अर्थात् ऋचा के ऊपर ही साम का गान होता है। साहित्य और संगीत के सम्बन्ध का द्योतक इससे बड़ा प्रमाण कोई दूसरा नहीं हो सकता। 'ऋक्' वस्तुतः साहित्य है और 'साम' संगीत है। ऋचा आधार है जिस पर विविध प्रकार से गान किया जाता है। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं जो ऋचा तथा साम के अटूट सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। ऋग्वेद में 'ऋचीषम्' पद आठ बार आया है, जिसका अर्थ है ऋचा के ऊपर साम का गाया जाना।[1] अथर्ववेद १४. १.

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

११ में ऋचा तथा साम के मंजुल सामञ्जस्य का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ यह कहा गया है कि सूर्या के विवाह पर जो रथ सजाया गया था, उसके बैल वैसे ही सौमनस्य से चल रहे थे जैसे कि ऋक् तथा साम।[२] अथर्ववेद में दम्पति के रूप में ऋक् तथा साम के घनिष्ठ सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है। इस मन्त्र में वर वधू का आह्वान करते हुए कहता है कि मैं 'अम्' हूँ तुम 'सा' हो; मैं आकाश हूँ, तुम पृथिवी हो, मैं साम हूँ तुम ऋक् रूपा हो अतः हम दोनों का सम्बन्ध प्रगाढ़ तथा अभिन्न हो।[३] इसी प्रकार साम तथा ऋक् की क्रमशः पति-पत्नी के रूप में कल्पना का उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी मिलता है।[४] वहाँ इन्हीं मन्त्रों में साम पद को 'सा' तथा 'अम्' इन दो भागों में विभक्त किया गया है। इन्हीं दो सा रूपी ऋचा तथा अम् रूपी गान के मेल से साम की व्युत्पत्ति मानी गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में अनेक प्रकार से इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। वहाँ ऋक् और साम के सम्बन्ध का उल्लेख आध्यात्मिक, आधिभौतिक आदि कई दृष्टियों से किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से 'वाक्' ही ऋचा है और 'प्राण' ही साम है। ये जो ऋक् और साम रूप वाक् और प्राण हैं, वे परस्पर मिथुन हैं अर्थात् जिस प्रकार वाक् और प्राण घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार ऋचा और साम भी सम्बद्ध हैं।[५] 'चक्षु' ही ऋक् है और आत्मा साम है। इस प्रकार चक्षुरूप ऋक् में आत्मा रूप साम अधिष्ठित है। इसलिये ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है।[६] श्रौत्र ही ऋक् है और मन साम है इस प्रकार श्रौत्र रूप ऋक् में मन रूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गान किया जाता है।[७] आँखों का जो शुक्ल प्रकाश है वह ऋक् है और जो नीलवर्ण है वह साम है। इस प्रकार शुक्लवर्ण रूप ऋक् में नीलवर्ण रूप साम अधिष्ठित है। यहाँ नेत्र के शुक्ल प्रकाश में 'सा' तथा श्यामता में 'अम्' की भावना की गयी है।[८] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में अधिदैविक दृष्टि से ऋचा तथा साम के सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार इन दोनों का सम्बन्ध जहाँ सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों में देखा गया, वहाँ मानव जीवन में भी इनका सम्बन्ध अटूट है कि इस प्रकार के साहित्य के लिये जिस पर गान किया जाता है उसे सामयोनि की संज्ञा दी गयी अर्थात् साम का आधार। आधार और आधेय का सम्बन्ध कितना अटूट है इस बात से सब भलीभाँति परिचित हैं।

ऋक् जिसमें मात्रा या पादगत वर्णों की संख्या का एक नियम है, उस पर तो गान मिलता ही है, गद्यात्मक यजुष, में भी जिसमें वाक्यगत वर्णों की संख्या का कोई नियम नहीं, उसको भी एक निश्चित लय में उपस्थित करने की प्रवृत्ति वैदिक साहित्य में दिखायी पड़ती है। यजुष् मन्त्रों में भी स्वरांकन की प्रवृत्ति इस कथ्य को पुष्ट करती है। ऋक् का साम के रूप में एक निश्चित स्वरूप ग्रहण करने के अतिरिक्त भी ऋचाओं के शंसन में एक लयात्मकता दिखायी पड़ती है, जिसको हम

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

संगीत से अलग नहीं कर सकते। इस प्रकार साम जो निश्चित रूप से ऋक् के ऊपर आश्रित है, इसके अतिरिक्त ऋक् का शंसन तथा यजुष् मन्त्रों का उच्चारण, इनमें भी एक सुनिश्चित लय है। इन लयों की विविधता वैदिक परम्परा में अलग-अलग स्थान पर पायी जाने वाली वैदिक शाखाओं में परिलक्षित होती है।

साहित्य और संगीत के सम्बन्ध का जो स्वरूप मन्त्र साहित्य में दिखायी पड़ता है, वही स्वरूप ब्राह्मण साहित्य में सामेतर संगीत के रूप में भी दिखायी पड़ता है। दो वीणागाथियों के द्वारा राजा के कार्यों को आधार बना कर निर्मित गाथात्मक साहित्य पर वीणावादक के साथ गान करने का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण करता है। ब्राह्मण वीणागाथी राजा के द्वारा किये गये यज्ञ, उसके द्वारा दिये गये दानादि विषयों को आधार बना कर स्वयं रचित गाथाओं पर गान करता है तथा क्षत्रिय वीणागाथी राजा के द्वारा किये गये वीरतापूर्ण कार्यों को, उसके द्वारा की गयी विजयों को आधार बनाकर स्वनिर्मित गाथाओं का गान करता है। इन गाथाओं में साहित्य और संगीत का अद्भुत सम्बन्ध दिखायी पड़ता है। लोक में आज भी भर्तृहरि आदि राजाओं के चरित्र को आधार बनाकर उस पर निर्मित कथा गीतों का गान सारंगी बजाकर वैरागी योगियों के द्वारा किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक वीणागाथियों की यह विकसित परम्परा है। इस परम्परा में प्रचलित गीत्यात्मक साहित्य निश्चित रूप से साहित्य और संगीत के सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। वैदिक गाथायें केवल पठन के लिये न होकर मुख्य रूप से गान के लिये थीं। यह बात गाथा शब्द के निवर्चन से स्पष्ट होती है। ब्राह्मणों में उद्धृत इन गाथाओं का यदि संग्रह किया जाये तो यह तत्कालीन संगीत के आधार साहित्य की महत्त्वपूर्ण सामग्री होगी और अध्ययन तथा अनुसंधान के लिये भी उपयोगी होगी।

ब्राह्मण साहित्य के पश्चात् आरण्यक तथा उपनिषद काल में जो साहित्य प्रणीत हुआ वह ज्ञान प्रधान एवं निवृत्तिमूलक होने के कारण गान का आधार तो नहीं बना किन्तु एक महत्त्वपूर्ण बात यह सामने आयी कि आरण्यक एवं उपनिषदों के रचयिता इन ब्रह्मज्ञानियों ने नादब्रह्म एवं स्वरब्रह्म का विशेष रूप से विवेचन किया। नाद एवं स्वर ब्रह्म की प्रतिष्ठा इसी काल की देन है। संगीत सम्बन्धी सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचन भी इस साहित्य की बहुत बड़ी देन है। वस्तुतः साहित्य और संगीत का जो व्यावहारिक रूप मन्त्र साहित्य में या गाथा साहित्य में दिखायी पड़ता है, उसी का तत्त्वात्मक एवं दार्शनिक आधार या स्वरूप इस साहित्य में मिलता है। जैसे कि हमने छान्दोग्य उपनिषद आदि के कतिपय उदाहरण पूर्व में विवेचित किये हैं। यहीं से स्वर या नाद का दार्शनिक विवेचन प्रारम्भ होता है जिसकी परम्परा आगे तक चलती रही। भरत आदि काव्य एवं नाट्यशास्त्रियों ने उसी परम्परा को आगे बढ़ाया और संगीत के सिद्धान्त पक्ष को प्रतिष्ठित किया जिसके ऊपर आज भी संगीत शास्त्र प्रतिष्ठित है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

संदर्भ

१. ऋ० वे १.६१.१; ६.४६.४, ८.३२.२६; ८.३८.६, ८.६२.६; ८.६०.१; ८.६२.६; ८.६०.१; ८.६२. ६; ६.२२.२.

२. ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्। अ. वे. १४.१.११

३. अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वंम्।
तावेिह संभवाव प्रजामा जनयाव है। अ० वे० १४.२.७१

४. ऐ. ब्रा. ८. २७' बृह० उप० १.४.२०' आश्व. गृ० सू० १.५.८।

५. छा० उप० १.१.५

६. छा० उप० १. ७. २

७. श्रौत्रमवर्ङ्मन साम। छा० उप० १. ७. ३

८. वही, १. ७. ४

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३

वैदिक संगीत का सौन्दर्यशास्त्रीय सिद्धान्त

प्रो. ब्रजबिहारी चौबे

सृष्टि दो प्रकार की है– एक ब्रह्म की और दूसरी मनुष्य की। दोनों सृष्टियों के मूल में आनन्द प्राप्त करने की भावना सन्निहित है। प्रजापति ने सृष्टि इसलिये की कि वह अकेला था और उसको अपना अकेलापन अच्छा नहीं लगा। उसके मन में 'एको ऽहं बहु स्याम' मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ की इच्छा उत्पन्न हुई। इस सिसृक्षा के उत्पन्न होते ही यह सम्पूर्ण सृष्टि सत्ता में आई। यह विविध सृष्टि अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ ब्रह्मा की अद्‌भुत कला थी जिसकी सर्जनात्मकता अनन्तकाल से निरन्तर अबाध रूप से चलती आई है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। इसी अभिप्राय को लक्ष्य कर वेद के ऋषि ने 'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति' अर्थात् देव के काव्य को देखो, यह न तो कभी मरता है और न ही कभी जीर्ण होता है। ब्रह्मा ने आनन्द की प्राप्ति के लिये तथा अकेलापन दूर करने के लिये सृष्टि रूप कला का निर्माण किया। अपनी कला को देखकर उसका अकेलापन दूर हुआ या नहीं, अथवा आनन्द की प्राप्ति हुई या नहीं, यह तो हम देख नहीं सकते, किन्तु अपनी बुद्धि से उसका अनुमान तो अवश्य लगा सकते हैं। मानव स्वयं उस कला का एक अंग होकर उसका आनन्द लेता रहा है। मानव सृष्टि ब्रह्मा की सृष्टिकला का एक अंग है, किन्तु वह ब्रह्मा की सृष्टि का आनन्द लेता हुआ भी केवल उसी से सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह सन्तुष्ट हो भी कैसे सकता था? ब्रह्मा ने मानव सृष्टि तो की किन्तु ब्रह्मत्व की सृष्टि नहीं की। इसी ब्रह्मत्व की खोज में मानव बेचैन रहा। ब्रह्मत्व का दर्शन कभी सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों में करता, कभी इनसे परे करता। 'तत् सृष्ट्‌वा तदेवानु प्रातिशत्' इस श्रुति ने उसको यह बताया कि वह ब्रह्मा इस संसार की सृष्टि कर इसी में प्रविष्ट हो गया है, इसलिये इसी में उसको खोजना चाहिये। किसी ने यह बताया कि ब्रह्म अपनी कृति में समाविष्ट नहीं हो सकता, वह तो उससे अलग है, इसलिये उसकी कृति में उसको खोजना ठीक नहीं। प्लेटो ने इसीलिये कहा कि यह समस्त प्रकृति परमात्मा की कृति वा अनुकृति है स्वयं परमात्मा नहीं, इसलिये उसमें परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। आचार्य शंकर आदि दार्शनिकों ने भी यही मत व्यक्त किया। इन दार्शनिकों ने जगत् को मिथ्या माना तथा प्रकारान्तर से ब्रह्मा की कला में अनास्था व्यक्त की। उन्होंने अपनी दृष्टि से परमात्मा की कला से ऊपर उठकर ब्रह्मत्व का विवेचन दार्शनिक पृष्ठभूमि में किया। किन्तु वह विवेचन सर्वजन सुलभ एवं इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सका। ब्रह्म तत्त्व किस प्रकार इन्द्रियग्राह्य हो सकेगा इसकी खोज में मानव ने विभिन्न कलाओं की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सृष्टि की। काव्यकला संगीत कला, एवं वास्तुकला ये तीन कलायें ही परब्रह्म तत्व को क्रमशः रस ब्रह्म, नाद ब्रह्म, तथा वास्तु–ब्रह्म के रूप में अपना प्रतिपाद्य ग्रहण करती हैं, इसलिये परब्रह्म के साथ इनका सम्बन्ध होने के कारण ये स्वतन्त्र कलायें कहलाती हैं। अन्य कलायें जो उपयोगितामूलक धरातल पर प्रतिष्ठित हैं, आश्रित कहलाती हैं।

भर्तृहरि ने "साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाण हीनः" के द्वारा जहाँ साहित्य, संगीत और कला की मानव जीवन के लिये अनिवार्यता का उल्लेख किया, वहीं साहित्य, संगीत और कला का अलग-अलग उल्लेख कर इनके पार्थक्य का भी संकेत किया। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या साहित्य, संगीत और कला अलग-अलग हैं या एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। साहित्य एक व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत सभी प्रकार की शब्दात्मक सर्जनात्मक कृतियाँ आती हैं। कलाओं की सूची में काव्य समस्या पूर्ति तथा दूसरे के अभिप्राय को समझकर कविता करना भी यद्यपि समाविष्ट है किन्तु, काव्य का क्षेत्र व्यापक होने के कारण अन्य विधाओं का उसमें परिगणन नहीं है। इसी प्रकार संगीत भी कलाओं की सूची में इस नाम से परिगणित नहीं हैं। यह तो वस्तुतः गीत, वाद्य, नृत्य एवं नाट्य का सामूहिक अभिधान है और इन्हीं अलग-अलग नामों से कलाओं की सूची में परिगणित है। परम्परागत जिन चौंसठ कलाओं का उल्लेख किया है गया वे जीवन में श्रृंगार के परिवेश में विकसित प्रतीत होती हैं। इसीलिये नाट्य साहित्य में इनका उल्लेख नायक-नायिकाओं के प्रसंग में ही किया गया; नायक-नायिकाओं को ही इन चौंसठ कलाओं की जानकारी अपेक्षित बताई गई। यही कारण था कि बुद्धिजीवियों में इनके प्रति आकर्षण नहीं रहा और जिनके प्रति आकर्षण हुआ वहाँ उनका उदात्तीकरण किया गया। गीत, वाद्य, नृत्य जहाँ नायक-नायिकाओं के व्यक्तिगत आमोद-प्रमोद के विषय थे वहाँ उनका देवताओं के प्रति उन्मुख होना उनका उदात्तीकरण था। चित्रकला नायक-नायिकाओं के चित्र बनाने के साथ जुड़ी थी वह देवताओं की प्रतिमाओं के निर्माण की ओर उन्मुख हुई। काष्ठ, पत्थर आदि में देवी-देवताओं की प्रतिमा उभारकर उसको दैवी व्यक्तित्व प्रदान कर मूर्तिकला भी विकसित हुई जिसका उल्लेख कलाओं की सूची में नहीं मिलता। वस्तुतः कामशास्त्र के साथ जुड़ी होने के कारण जिन चौसठ कलाओं का विकास हुआ, उनका नायक-नायिकाओं के साथ जुड़ा होना स्वाभाविक था। किन्तु भारतीय मानस की यह प्रवृत्ति रही है कि उसने काम का भी उदात्तीकरण तथा आध्यात्मिकीकरण किया है। 'धर्माविसद्धः कामोऽस्मि' अर्थात् 'धर्म का अविरोधी काम' इस गीता वचन में जहाँ काम को महत्ता प्रदान की गई है वहाँ उसके धर्म का अविरोधी होना भी एक आवश्यक लक्षण माना गया। यही थी भारतीय मानस की सौन्दर्य चेतना। अद्भुत रूप सम्पन्न पार्वती की तपस्या को देखते हुये कालिदास को कहना पड़ा 'न रूपं पापवृत्तये' रूप पापवृत्ति के लिये नहीं है। इसीलिये कालिदास ने मांसल सौन्दर्य की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अपेक्षा आध्यात्मिक सौन्दर्य को अधिक महत्ता प्रदान की। प्रियेषु सौभाग्यकला हि चारुता के अभिधेयार्थ को न केवल मनुष्य प्रेमी या प्रेमिका द्वारा अपने प्रेमिका या प्रेमी को आकृष्ट करने में सौन्दर्य की इयत्ता मानी बल्कि 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', के परम अधिष्ठान पर ब्रह्म के प्रति उन्मुख होकर उसकी प्राप्ति में ही सौन्दर्य का अभीष्ट देखा। यही दृष्टि माघ के 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैंति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् जो प्रति क्षण बदलता हुआ दिखाई पड़े वही सौन्दर्य का स्वरूप है, इस कथन में व्यक्त हुई है। प्रतिक्षण बदलाव में सौन्दर्य देखने का अभिप्राय क्या है? क्या प्रतिक्षण अपनी मान्यताओं को बदलते रहना सौन्दर्य है? क्या प्रतिक्षण अपनी आस्थाओं का बदलाव सौन्दर्य है। नहीं, कदापि नहीं। तो क्या वस्तु में प्रतिक्षण बदलाव सौन्दर्य है। कदापि नहीं, क्योंकि वस्तु तो वही रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। और यदि यह भी मानें कि वस्तु में तो नित्य परिवर्तन होता है जो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण हमें दिखाई नहीं पड़ता। किन्तु सौन्दर्य के लिये यह परिवर्तन अभीष्ट नहीं। तो फिर सौन्दर्य का प्रतिक्षण बदलाव क्या है। वस्तुतः सौन्दर्य के प्रतिक्षण बदलाव में निहित है द्रष्टा अथवा स्रष्टा की वस्तु के प्रति नित्य नवीन दृष्टि। स्थूल धरातल पर भी देखें तो सम्मुख स्थित प्रिय वस्तु को देखते समय द्रष्टा में निरन्तर नूतन भाव जागृत होते रहते हैं। जब तक यह निरन्तर नवीन भाव जागृत होते रहेंगे, तब तक वह उस वस्तु को देखता रहेगा। व्यक्ति यही चाहेगा कि वह उसको थोड़ी देर तक और देखता रहे। अगर उससे अलग होने की भी स्थिति आती है तो वह इसलिये अलग नहीं होता कि उसके अन्दर की नित्य नवीनता की दृष्टि समाप्त हो गई बल्कि इसलिए कि अलग होने के अन्य कारण हैं। अन्यथा अलग होने पर भी उसके विषय में वह निरन्तर क्यों सोचता रहता। प्रिय वस्तु में सौन्दर्य दृष्टि व्यक्ति के अपने संस्कारों पर आधृत है। कुछ लोग किसी वस्तु को देखकर, गीत को सुनकर उसे सुन्दर कहते हैं, किन्तु बाद में उसको देखने या सुनने की उनमें ललक नहीं होती। यह स्थिति सौन्दर्य चेतना की द्योतक नहीं। परिस्थितिवश व्यक्ति प्रिय वस्तु से भले अलग हो, किन्तु उसको देखने, सुनने की ललक नित्य बनी रहनी चाहिये। यही ललक सौन्दर्य चेतना की द्योतक है। जहाँ यह दृष्टि नहीं वहाँ 'मोनोटनी' (Monotony) 'ऊबन' आती है। जैसे जीवन गतिशील है, गति का अभाव मृत्यु है, उसी प्रकार दृष्टि में नित्य नवीनता बनी रहना, उसको देखने या सुनने की नित्य ललक बनी रहना सौन्दर्य चेतना है और इस ललक का अभाव सौन्दर्य की अन्त्येष्टि है। भारतीय मानस ने इस तथ्य को पहचाना है और इस सौन्दर्य के आलम्बन के रूप में परम ब्रह्म को देखा है। इसी की अभिव्यक्ति श्रीकृष्ण के माध्यम से हुई है। भक्त कवियों तथा गायकों ने श्रीकृष्ण में इसी नित्य नवीनता का दर्शन किया है। यही नित्य नवीनता की चेतना सौन्दर्य बोध की एक आवश्यक शर्त है। वैदिक ऋषियों ने भी इस सौन्दर्य चेतना का उल्लेख नव्यसी या 'नवीयसी' शब्द के द्वारा किया है। चाहे साहित्य हो या कला हो या संगीत हो सर्वत्र

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उसमें नित्य नवीनता की अनुभूति सौन्दर्य बोध के लिये आवश्यक है।

सौन्दर्य बोध के मूल में निहित कुछ सामान्य तत्त्वों का संकेत करने के पश्चात् हम वैदिक संगीत के सौन्दर्य सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे। परवर्ती सौन्दर्य शास्त्रियों ने गीत, वाद्य एवं नृत्य के समुदाय रूप संगीत को भी एक कला माना, और इसमें सन्देह नहीं कि संगीत एक महत्त्वपूर्ण कला है। किन्तु वैदिक ऋषियों ने संगीत को कला नहीं माना। गीत, वाद्य, नृत्य तथा तीनों के एक साथ सम्पादित करने का उल्लेख वैदिक साहित्य में पर्याप्त मात्रा में मिलता है, किन्तु संगीत शब्द वहाँ नहीं मिलता। वैदिक परम्परा में गीति या गान के लिये 'साम' शब्द का प्रयोग मिलता है। आचार्य जैमिनि ने 'गीतिषु सामाख्या' रूप में साम को गीति रूप में परिभाषित किया। किन्तु साम के स्वरूप का विश्लेषण से यह बात स्पष्ट होती है कि सभी गीति साम नहीं। वस्तुतः ऋचाओं को आधार बनाकर उन पर जो गान किया जाता है उसी की साम संज्ञा है। वैदिक परम्परा में साम न तो काव्य है और न ही कला। वह तो ऋक् एवं यजुष् की तरह वेद है। साम के इसी वेदत्व रूप को भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहकर स्वीकार किया। आज भी परम्परा से चार वेदों में सामवेद की गणना होती है। आज सामवेद के नाम से दो प्रकार की संहिताएँ मिलती हैं, एक है आर्चिक संहिता और दूसरी है गान संहिता। आर्चिक संहिता उन ऋचाओं का संकलन किया गया है, जिन पर साम गान किया जाता है। आर्चिक संहिता में संकलित ऋचाओं पर जो गान किया जाता है, उनका संकलन 'गान संहिता' है। पूर्वार्चिक में संकलित ऋचाओं पर जो गान किये जाते हैं, उनको 'ग्रामेगेम गान' या 'वेयगान' या 'प्रकृतिगान' तथा 'आरण्यगान' कहा जाता है। उत्तरार्चिक में संकलित ऋचाओं पर जो गान किया जाता है उन्हें 'ऊह गान' तथा 'उह्यगान' कहा जाता है। इस प्रकार सामवेद की दो प्रकार की संहिताओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ऋचायें साम की आधार हैं और साम ऋचाओं पर किया गया गान है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ का समुदाय काव्य है, उसी प्रकार ऋक् और गान का संयोग साम है। ऋक और साम के परस्पर सम्बन्ध के प्रतिपादन में वैदिक ऋषियों की सौन्दर्य दृष्टि मानवीय धरातल से ऊपर उठकर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। ऋक् और साम के सम्बन्ध वाचक जितने प्रतीक दिये गये हैं, उनसे इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जागतिक धरातल पर ऋक् स्त्री है, साम पुरुष है। आधिदैविक धरातल पर ऋक् पृथिवी है, साम द्यौ है, ऋक् नक्षत्र है, साम चन्द्रमा है। आध्यात्मिक धरातल पर ऋक् वाक् है तथा साम प्राण है; ऋक् चक्षु है तथा साम आत्मा है; ऋक् श्रोत्र है तथा साम मन है। ऋक् एवं साम का आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक धरातल पर जिस सम्बन्ध का दर्शन किया गया है, वह साम का बाह्य स्वरूप वर्णन नहीं; वह तो उपनिषद्कालीन ऋषियों के परम सौन्दर्यबोध का परिणाम है। जो सृष्टि के हर तत्त्व में समान रूप से दिखाई पड़ता है। ऋक् और साम का जो

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध साम शब्द के अवयवभूत 'सा' तथा 'अम' अक्षरों में भी ऋषियों ने देखा है। भौतिक धरातल पर सा स्त्री रूप है, अम पुरुष रूप है। आधिदैविक धरातल पर 'सा' पृथिवी है तथा 'अम' अग्नि है; 'सा' द्यौ है तथा आदित्य 'अम' है; सा नक्षत्र है, तथा अम चन्द्रमा है। आध्यात्मिक धरातल पर सा वाक् है तथा अम प्राण है; सा चक्षु है तथा अम आत्मा है; सा श्रोत्र है तथा अम मन है। साम शब्द के अवश्वभूत सा और अम के संयोगबोधक आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रतीकों में आज का निर्वचनशास्त्री आदिम मस्तिष्क में प्राथमिक कल्पना का दर्शन भले करे, किन्तु इसके मूल में निहित जो भावना है वह वैदिक सौन्दर्य शास्त्रियों के सौन्दर्यबोध की चरम परिणति है।

ऋक् और साम के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुये जहाँ हमने यह देखा कि साम ऋक् पर ही आधृत होता है, वहाँ साम विकास परम्परा में ऐसे भी साम मिलते हैं, जो किसी ऋक् पर आधृत नहीं। ऐसी स्थिति में 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते' का सिद्धान्त व्यभिचरित होता प्रतीत हैं होने लगता है। किन्तु ऐसे साम संख्या में अत्यल्प हैं। इन्हें 'छन्न गान' कहा जाता है। वस्तुतः सामगान करते समय कुछ ऐसे अक्षरों, वर्णों या पदों का प्रयोग किया जाता है जो ऋक् में नहीं हैं। ऐसे सार्थक या निरर्थक वर्णों या पदों को स्तोभ कहा जाता है। ये स्तोभ साम वे साम हैं, जो गान में स्वरपूर्ति के लिये आहारित किये जाते हैं। इनका प्रयोजन अर्थबोध कराना नहीं बल्कि ऋक् पर गान करते समय स्वर पूर्ति करना है तथा गान को पूर्णता प्रदान करना है। ये स्तोभ संख्या में १३ हैं। इन ऋग् व्यतिरिक्त स्तोमाक्षरों के गान में भी वैदिक ऋषि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य का दर्शन करता है। हावु (हाउ) में पृथिवी की भावना, 'इह' में आत्मा की भावना, 'ई' में अग्नि की भावना; 'उ' में आदित्य की भावना 'ए' में निहव की भावना 'ओहाइ (ओहायि) में विश्वेदेवा की भावना, 'हिं' में प्रजापति की भावना, स्वर में प्राण की भावना, वाक् में अन्न की भावना, 'हुं' में संवर की भावना वैदिक ऋषि के वैदिक संगीत में आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सौन्दर्यबोध का परिणाम है।

जिस प्रकार काव्यशास्त्रियों ने काव्य का विवेचन करते समय काव्य के स्वरूपाधायक शब्द और अर्थ के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया है, उसी प्रकार सामगाचार्यों ने साम के अवयवों का विवेचन किया है। ऋचायें पारबद्ध होती हैं किन्तु सामगान करते समय ऋचाओं के पद विभाग को न स्वीकार कर गान का अलग से विभाग किया जाता है। एक ऋचा को कितने खण्डों में विभक्त कर गान करना है, इसके लिए जो विभाग किया जाता है, उसे पर्व कहते हैं। इन्हीं पर्वों के साथ स्तोभ भी होते हैं। ऋक् गत पाद तथा सामगत पर्व में यही अन्तर है। गान करते समय प्रत्येक साम को पाँच भागों में विभक्त कर गाया जाता है। इन्हीं भागों को साम की भक्ति कहा जाता है। ये हैं– प्रस्ताव, उद्गीथ, उपद्रव तथा निधन। हिंकार तथा ओम् को अलग भक्ति मान लेने पर इनकी संख्या सात हो जाती है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

जिस प्रकार ऋक् तथा साम के सम्बन्ध के विषय में हमने देखा, साम की विभिन्न भक्तियों के पीछे भी सामग ऋषियों की सौन्दर्य चेतना भौतिक धरातल से ऊपर उठकर आधिदैविक तथा आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित दिखाई पड़ती है। साम गान के प्रारम्भ में जो हिंकार किया जाता है, उसमें सामग ऋषियों ने साम का रस तत्त्व देखा है– एष वै साम्नां रसो यद् हिंकारः। यद् हिंकृत्य प्रस्तौति रसेनैवेत्ता अभ्युदय प्रस्तौति (तां ब्रा. ६. ८. ७)। आधिदैविक धरातल पर हिंकार पृथिवी है, प्रस्ताव अग्नि है, उद्गीथ अन्तरिक्ष है, प्रतिहार आदित्य है तथा निधन द्यौ है। साम के गान में चूँकि आरोह और अवरोह क्रम दिखाई पड़ते हैं इसलिये वैदिक सामगों के भक्ति प्रतीकों में भी आरोह-अवरोह क्रम दिखाई पड़ता है। हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार तथा निधन में जो क्रमशः पृथिवी, अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य तथा द्यौ की भावना की गई है वह आरोह क्रम से है। अवरोह क्रम में हिंकार द्यौ है, प्रस्ताव आदित्य है, उद्गीथ अन्तरिक्ष है, अग्नि प्रतिहार है तथा पृथिवी निधन है। आध्यात्मिक धरातल पर हिंकार प्राण है, प्रस्ताव वाक् है, उद्गीथ चक्षु है, प्रतिहार श्रोत्र है तथा निधन मन है। यहाँ प्राण, घ्राण नामक इन्द्रिय का वाचक है तथा वाक् वागेन्द्रिय है। साम की पाँच भक्तियों में पाँच इन्द्रियों की भावना तथा उत्तरोत्तर में श्रेष्ठता की दृष्टि वैदिक सौन्दर्य बोध की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दृष्टि है। घ्राणेन्द्रिय से वागेन्द्रिय श्रेष्ठ है, वागेन्द्रिय से चक्षुरिन्द्रिय श्रेष्ठ है, चक्षुरिन्द्रिय से श्रोत्रेन्द्रिय श्रेष्ठ है तथा श्रोत्रेन्द्रिक से मन श्रेष्ठ है। सौन्दर्य बोध इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। जब किसी वस्तु का स्पर्श करते हैं उसमें सुखद स्पर्शवाली वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं, जब किसी वस्तु को सूंघते है तो सुगन्ध प्रदान करने वाली वस्तु को सुन्दर कहते हैं, जब किसी वस्तु को चखते हैं तब स्वाद देने वाली वस्तु को सुन्दर कहते हैं। जब किसी रूप को देखते हैं तब आँखों को अच्छी लगने वाले रूप को सुन्दर कहते हैं, तथा जब कोई ध्वनि सुनते हैं तब कानों को सुस्वर सुनाई पड़ने वाली ध्वनि को सुन्दर कहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण की जाने वाली वस्तु में सुन्दर की अभिव्यक्ति होती है। प्रश्न है क्या इन विभिन्न इन्द्रियों के धरातल पर होने वाली सुन्दर की अभिव्यक्ति समान स्तर की है? इसी प्रश्न के समाधान में व्यक्ति के सौन्दर्यबोध की परख होती है। पाँच इन्द्रियों में त्वक् वाग् और घ्राण स्थूल हैं इनके द्वारा जो वस्तु का संयोग होता है वह स्थूल होता है। वस्तु का जब तक स्पर्श नहीं करेंगे त्वक् द्वारा ज्ञान नहीं हो सकता; जिह्वा के साथ जब तक भोज्य पदार्थ का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक उसके स्वाद का पता नहीं चल सकता। इसी प्रकार घ्राण के द्वारा जब तक वस्तु का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक गन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये इन इन्द्रियों के धरातल पर जो सौन्दर्यबोध होता है वह स्थूल सौन्दर्यबोध है। चक्षुः इन्द्रिय के द्वारा रूप को देखकर जो सौन्दर्यबोध होता है वह पूर्व तीन इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सौन्दर्य बोध से श्रेष्ठ है तथा श्रोत्रेन्द्रिय के माध्यम में होने वाला सौन्दर्यबोध चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा प्राप्त सौन्दर्यबोध से बढ़कर है। नाट्य

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

का सम्बन्ध चक्षु से है तथा संगीत का सम्बन्ध श्रोत्रेन्द्रिय से है इसीलिये इन दोनों का सौन्दर्य बोध त्वक्, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय से प्राप्त सौन्दर्यबोध से श्रेष्ठ माना जाता है। चक्षु और श्रोत्र में श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्राप्त सोन्दर्यबोध चक्षुरिन्द्रिय द्वारा प्राप्त सौन्दर्यबोध से श्रेष्ठ होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्त सौन्दर्यबोध की अपेक्षा मन के धरातल पर सुनाई पड़ने वाली ध्वनि का सौन्दर्यबोध श्रोत्रेन्द्रिय से प्राप्त सौन्दर्यबोध से भी बढ़कर होता है जिसका अनुभव 'अनहद नाद' के रूप में योगियों को ही होता है। इसी सौन्दर्यबोध की ओर संकेत 'Heard melodies are sweet but those un unheard are sweeter, के द्वारा अंग्रेजी कवि कीट्स ने भी किया है। उपनिषदिक ऋषि विभिन्न इन्द्रियों के धरातल पर होने वाले सौन्दर्यबोध में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता का सिद्धान्त 'परोवरीय साम' की उपासना द्वारा प्रतिपादित करता है–

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत। प्राणो हिंकारो
वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम्।
परोवरीयांसि वा एतानि। (छा. उप. २. ७. १)

परोवरयि पद की व्याख्या करते हुये सायण लिखता है–
'भक्तीनामुत्तरश्रैष्ठयात्परोवरीयस्त्वं साम्नः' अर्थात्
भक्तियों की उत्तरोत्तर श्रेष्ठता के कारण साम का परोवरीयस्त्व है।

साम के स्वरूप तथा उसके आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रहस्य का प्रतिपादन करने के पश्चात् साम के प्रयोजन पर विचार करेंगे। भारतीय परम्परा वेद को अपौरुषेय मानती है। साम भी वेद है अतएव वह भी अपौरुषेय है। जहाँ तक सृष्टि के कार्यकारण भाव रूप विद्या का प्रश्न है वह मानवकृत नहीं, किन्तु उस ज्ञान को प्राप्त कर जब व्यक्ति उसको अभिव्यक्त करता है तब वह अभिव्यक्ति उस व्यक्ति की होती है, इसलिये ऐसी स्थिति में जो वेद शब्दानुपूर्वी के रूप में हमें प्राप्त हैं उनके ऋषिकृत होने में सन्देह नहीं किया जा सकता। और जब कोई भी कृति मनुष्य के द्वारा की जाती है तब उसके पीछे उसका एक निश्चित प्रयोजन होता है। वैदिक काल में सामगान का जिस पृष्ठभूमि में विकास हुआ उसके परिशीलन से यह बात स्पष्ट होती है कि जिन अग्नि, इन्द्र, सोम आदि देवताओं की उपासना वैदिक काल में प्रचलित थी और जिनको प्रसन्न करने के लिये अनेक यज्ञ यागादि कर्म सम्पादित किये जाते थे, उन्हीं देवताओं को प्रसन्न करने के लिये साम का भी विकास हुआ। कविता या गद्य के द्वारा किसी की प्रशंसा की जा सकती है, किन्तु उसके हृदय का स्पर्श नहीं किया जा सकता। हृदय का स्पर्श करने के लिये तो संगीत ही सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। शतपथ ब्राह्मण में एक आख्यान आता है जिसमें बताया गया है कि जब गायत्री सोम लाने के लिये असुरों के पास गई तब असुरों ने उसको अपने पास ही रखना चाहा। इधर देवता भी उसको प्राप्त करना चाहते थे। असुरों ने गायत्री की स्तुति करनी शुरू की किन्तु गायत्री आकृष्ट नहीं हुई। इधर देवताओं ने उसे आकृष्ट करने के लिये गान शुरू किया। गायत्री संगीत से

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आकृष्ट होकर देवताओं के पास चली आई। इस आख्यान का निष्कर्ष देते हुये शतपथ बताता है कि इसीलिये स्त्रियाँ स्तुति की अपेक्षा गीत से आकृष्ट होती हैं। साम के द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने का उल्लेख संहिताओं में भूरिशः मिलता है। जिस किसी भी प्रकार की कामना हो साम के द्वारा उसकी प्राप्ति होती है। छान्दोग्य उपनिषद् बताता है– "अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत यत्कामः स्तुवीतेति" (१. ३. १२)।

ब्राह्मणकाल में स्वर्ग मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य बन गया था। सभी यज्ञ आदि कर्म उसी स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त सम्पादित किये जाते थे। छान्दोग्योपनिषद् में शालावत्य द्वारा पूछे गये प्रश्नों के समाधान में दाल्भ्य ने जो उत्तर दिये हैं उनसे इस तथ्य की स्पष्ट पुष्टि होती है कि साम का उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति है- का साम्नो गतिरिति। स्वर इति होवाच। स्वरस्य का गतिरिति। प्राण इति होवाच। प्राणस्य का गतिरिति। अन्नमिति होवाच। अन्नस्य का गतिरित्याय इति होनाव।

अपां का गतिरिति। असौ लोक इति होवाच। अमुष्य
लोकस्य का गतिरिति। न स्वर्गलोकमतिनयेदिति होवाच।
स्वर्ग वयं लोकं सामभिः संस्थापयामः। स्वर्गसंस्तावं हि सामेति (छा. उप. १. ८. ४. ८)

वैदिक वाङ्मय में सामों द्वारा विभिन्न विघ्नों तथा अनिष्टों की शान्ति का भी भूरिशः उल्लेख किया गया है। सामविधान ब्राह्मण नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्त कर्मों में साम का विनियोग बताता है। मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में 'शिवेतरक्षति' का जो उल्लेख किया, सामो में भी वह शिवेतरक्षति' दिखाई पड़ती है।

उपनिषदों में साम का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। उससे यह तथ्य उदघाटित होता है कि जो साम देवताओं की उपासना का साधन था वही साध्य भी बन गया। 'ओमित्यक्षरंमुद्गीथमुपासीत' (छा. उप. १. १. १) में उद्गीथ ईश्वर का प्रतीक है। इस प्रकार साम साधक जब साम का गान करता है उस समय उसकी दृष्टि में सामाक्षर ब्रह्मस्वरूप हैं और उस साम का गानकर वह परमानन्द की प्राप्ति करता है। जिस प्रकार काव्य रसिक विभावानुभाव व्यभिचारी भावों के संयोग से काव्यानन्द रस की प्राप्ति करता है, उसी प्रकार सामग स्वर रूप ब्रह्म की उपासना कर परमानन्द की प्राप्ति करता है। इस स्वरसाधना में उसे बाह्य जगत् का बोध भी समाप्त हो जाता है। वस्तुतः साम की जो आत्मा है वह स्वर ही है। जो साम के स्वर स्वरूप को जानता है वही नाद ब्रह्म को जानता है। बृहदारण्यक उपनिषद् का स्पष्ट कथन है–

तस्य है तस्य साम्नः यः स्वं वेद भवति दास्य स्वं
तस्य स्वर एव स्वम्। (वृ. उप. १. ३. २. ५.)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

४
प्रतिभा स्वरूप

डॉ. कमल नयन शुक्ल

मनुष्य की अन्तश्चेतना में अवस्थित अभिव्यक्ति की उत्कट इच्छा ही काव्य का मूल उत्स है। इस काव्य निर्मिति की दो मूलभूत प्रक्रिया रही हैं– प्रथम कवि द्वारा गावों का दर्शन या साक्षात्कार, द्वितीय अनुभूत दर्शन की शब्दिक अभिव्यक्ति। सूक्ष्म स्तर पर या दर्शन की स्थिति में कवि या रचनाकार का कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता, जबकि स्थूल स्तर पर अर्थात् शाब्दिक अभिव्यक्ति में वह क्रियमाण होती है। दर्शन एवं वर्णन की इस द्विविध प्रक्रिया से ही ऋषियों द्वारा वैदिक ऋचाओं का प्रणयन हुआ। काव्य के प्रथम उन्मेष का वर्णन करते हुये वैदिक ऋषि कहता है कि यह रचना मेरे भीतर से इस प्रकार निकलती है जैसे बादल से वर्षा की बूँदें।[1] पुनः इस साक्षात्कृत (काव्य या मंत्र) को शब्दार्थ द्वारा उसी प्रकार रचा या बुना गया जैसे बढ़ई के द्वारा रथ या जुलाहे द्वारा कपड़ा।[2]

इस प्रकार वैदिक मतानुसार काव्य का प्रणयन दर्शन एवं वर्णन इन द्विविध प्रक्रियाओं से हुआ है। कई सौ वर्षों बाद इन्हीं ऋषि-मान्यताओं को पाश्चात्य विद्वान् कोलरिज, शैली, कीट्स तथा वर्ड्सवर्थ ने भी साक्षात्कार के रूप में स्वीकार किया। कीट्स के अनुसार कविता, कवि के हृदय से उसी तरह निकलनी चाहिए जैसे वृक्षों से पत्तियाँ निकलती हैं। वर्ड्सवर्थ ने भावनाओं के निष्प्रयास उद्गार को काव्य माना जबकि कोलरिज ने इसे साक्षात्कार जन्य निरूपिल किया। भारतीय काव्य चिन्तन की धारा में पाश्चात्य के समान एक पक्षीय दृष्टिकोण से हटकर अनुभूति तथा अभिव्यक्ति दोनों पक्षों को समान महत्त्व दिया गया। 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' अर्थात् कवि में अतीत एवं अनागत व्यवहित एवं अव्यवहित वस्तुओं के दर्शन की क्षमता होनी चाहिए। साथ ही साथ उसमें अनुभूति दर्शन को शब्दों के कमनीय कलेवर में अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य होनी चाहिए। दोनों ही गुण एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिये कवि में ऋषित्व एवं ऋषि में कवित्व की समान अपेक्षा भारतीय प्रतिभा चिन्तन का आधार रहा है।

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्माश तत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद्वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः।।[3]

प्रतिभा का प्राचीन स्वरूप वैदिक वाक्तत्त्व की अवधारणा में भी परिव्याप्त है। वेदों में काव्य या कविता का मूल 'वाक्' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। यही नहीं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सृष्टि के सम्पूर्ण कार्य व्यापारों के मूल में वाक् शक्ति ही समाहित है। वाक् शक्ति के द्वारा मनुष्य ऋषि एवं सुमेधा की स्थिति को प्राप्त करता है।[४] वाक् ही वह मूल स्रोत है जहाँ से पदार्थों के गुप्त श्रेष्ठ एवं परिपूर्ण भावों का उदय होता है।

'यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रभासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।'[५]

वृहदारण्यक के अनुसार शब्द के द्वारा अर्थावबोध की भावना का मूलाधार भी वाक्शक्ति है।[६] इस प्रकार बाह्यजगत् के स्थूल दृश्य कवि की अन्तर्मेधा को उद्बुद्ध करते हैं जो वाणी के रूप में प्रकट होकर उन्हीं पदार्थों की पुनर्रचना करती है। इस प्रकार काव्यगत अभिव्यक्ति के प्रेरक वाक् के जिस रूप को वेदों में मेधा कहा गया इसी को परवर्ती चिन्तकों ने प्रतिभा या शक्ति नाम दिया।[७] वास्तव में चार रूपों (परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी) में विभक्त वाणी में ही सूक्ष्म एवं स्थूल प्रतिभा का निदर्शन किया जा सकता है।

लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रतिभा का आदि स्वरूप वाल्मीकिकृत रामायण में प्रतिबिम्बित हुआ है। प्रतिभा के इस प्रथम उन्मेष का उल्लेख महाकवि कालिदास, भवभूति तथा आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थों में किया है।[८] रामायण वर्णित ब्रह्म एवं वाल्मीकि के संवाद में प्रतिभा के कर्तृत्व पर अवान्तर रूप से प्रकाश डाला गया है।[९] परिणामस्वरूप वाल्मीकि जो कि तत्त्वद्रष्टा ऋषि थे, वे काव्यस्रष्टा आदिकवि की पदवी से अलंकृत हुये। कवि के लिए द्रष्टा के अतिरिक्त सृष्टा होना आवश्यक है, जैसा कि आदि कवि के सम्बन्ध में आचार्य भट्टतौत की यह उक्ति प्रसिद्ध है–

स तत्त्वदर्शनादेव शात्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढालोके कविश्रुतिः।।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कवितालोके यावज्जाता न वर्णना।।[१०]

इस प्रकार क्रौञ्च द्वन्द्व वियोग से उत्थित शोक द्वारा स्फुरित हुयी छन्दोबद्ध रचना ब्रह्मा द्वारा प्रतिभा के रूप में वाल्मीकि के अन्तःकरण में प्रवृत्त हुयी। इस प्रतिभा शक्ति से ऋषि को अतीत एवं अनागत पदार्थों का प्रत्यक्ष के समान बोध संभव हुआ।[११] प्रतिभा के इसी स्फुरण का वर्णन भामह ने भाविक अलंकार तथा राजशेखर ने शक्ति निरूपण में किया।[१२] महाकवि कालिदास ने काव्य सर्जना की प्रेरक प्रतिभा को 'एकस्थ सौन्दर्य दिदृच्छा' अर्थात् कवि के अन्तःकरण में विद्यमान एकस्थ भाव या सौन्दर्य को देखने की इच्छा कहा है।[१३] वाल्मीकि की रचना को 'आकस्मिक प्रत्यवभास' निरूपित करते हुये महाकवि भवभूति ने ब्रह्मा द्वारा कवि को 'आर्षचक्षु' कहलवाया, जिसके द्वारा वाणी स्वतः ही कविवशवर्त्तिनी हो जाती है।[१४] इस प्रकार संस्कृत वाङ्मय में प्रतिभा का क्षेत्र व्यापक धरातल पर अवस्थित है। शब्द और अर्थ, स्फुरण तथा अभिव्यञ्जना, दर्शन तथा वर्णन प्रख्या तथा उपाख्या इन नित्य सिद्ध युगलों के उन्मीलन का हेतु ही प्रतिभा है। प्रतिभा का शब्दिक अर्थ 'झलक' है। आचार्यों ने शक्ति के रूप में भी इसको माना है। सामान्य रूप से

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रतिभा अपूर्ववस्तु– निर्माण की शक्ति है। काव्य के सन्दर्भ में यही महाकवियों के अलोकसामान्य अभिव्यक्ति का प्रमुख कारण है। यही शिव का ज्ञान रूप तृतीय नेत्र है जिसके द्वारा कवि के लिये संसार का कोई भी पदार्थ अनालोकित एवं अज्ञात नहीं रह सकता।[१५]

प्रतिभा का किसी न किसी रूप में विवेचन प्रायः सभी साहित्याचार्यों ने किया है किन्तु भट्टतौत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, राजशेखर, महिम भट्ट तथा पण्डितराज जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप पर विशेष ध्यान दिया है। आचार्य भरत, वामन, रुद्रट, मम्मट, वाग्भट्ट इत्यादि ने भी प्रतिभा को अपनी अपनी दृष्टियों से रेखांकित करने का प्रयास किया है।

नाट्यशास्त्र में स्फुटरूप से प्रतिभा या काव्य हेतुओं की चर्चा नहीं की गई है, परन्तु आद्योपान्त ग्रन्थावलोकन से प्रतिभा के सम्बन्ध में भरत का दृष्टिकोण स्पष्ट किया जा सकता है। 'बुद्धि विवर्द्धनम्' (बुद्धि ही प्रतिभा है) कि व्याख्या में अभिनवगुप्त ने 'स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरति' अर्थ किया है।[१६] नाट्यशास्त्र में प्रतिभा के लिये शक्ति का प्रयोग भी किया गया है।[१७] इनमें मेधा वर्तमान कालिक, स्मृति अतीत विषयक तथा मति को भविष्य दर्शिनी स्वीकार किया गया है। भरत के अनुसार आचार्य की प्रतिभा में मेधा, स्मृति एवं मति का समावेश रहता है, जबकि शिष्य की प्रतिभा में मति का अभाव होता है।

ऊहापोहौ मतिश्चैव स्मृतिर्मेधा तथैव च।
एतानि पञ्च यो बेत्ति स आचार्य प्रकीर्तितः।।
मेधास्मृतिर्गुणश्लाघा रागः संघर्ष एव च।
उत्साहश्च षडेवैतान् शिष्यस्यापि गुणान्विदुः।।[१८]

प्रतिभा को शक्ति के रूप में वर्णन करते हुये भर्तृहरि ने इसे शब्दब्रह्म से अभिन्न होती हुयी भिन्न, तथा एक होते हुये भी उसमें अनेकत्व की प्रतीति बोधिका कहा है–

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्तेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनैव वर्तते।।[१९]

आचार्य भर्तृहरि के अनुसार प्रत्येक जीव में स्वभावतः रहने वाली यह प्रतिभा एक अनाख्येय शक्ति है। अविचारित ही यह पदार्थों का उपश्लेष करती है। यह साक्षात् शब्द से अथवा भावानुगमन से व्यक्त होती है। इतिकर्तव्यता में इसका (प्रतिभा का) अतिक्रमण नहीं किया जा सकता।[२०] आचार्य भामह काव्य सर्जना के लिए कवि में प्रतिभा को अपहिरहार्य मानते हैं और यह प्रतिभा कभी-कभी किसी में आविर्भूत होती है।[२१] भामह के विपरीत आचार्य दण्डी कवि में प्रतिभा को अपरिहार्य कारण नहीं मानते। यद्यपि दण्डी नैसर्गिकी प्रतिभा को अमन्द अभियोग एवं निर्मलशास्त्रज्ञान सहित काव्य का हेतु स्वीकार करते हैं, परन्तु किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में अभ्यास एवं व्युत्पत्तिज्ञान से प्रतिभा के बिना भी वे काव्यसृष्टि संभव

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मानते हैं।[२२] आचार्य वामन भी इस मत में यद्यपि दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं, परन्तु उन्होंने संभवतः वाल्मीकि, कालिदासादि से प्रेरणा प्राप्त करके काव्य हेतुओं में अवधान एवं अवेक्षण को स्थान दिया।[२३] वामन ने काव्य के अनेक कारणों में 'कवित्व वीजं प्रतिभानम्' स्वीकार करते हुये 'चित्तैकाग्रयं अवधानम्' द्वारा प्रतिभा के आन्तरिक परिवेश की व्याख्या प्रस्तुत की। वामन के अनुसार एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही काव्य अर्थों का साक्षात्कार करता है तथा उसमें तत्क्षण के लिये बाह्य पदार्थों की निवृत्ति हो जाती है।[२४] इस अवधान का सम्बन्ध देश एवं काल से होता है। एकान्त तथा निर्जन स्थान में एवं ब्रह्ममुहूर्त में जब चित्त स्वयं प्रफुल्लित रहता है, काव्य साधक को साधना में अवश्य सफलता मिलती है। इस प्रकार वामन ने परवर्ती आचार्यों के लिए समाधि की व्यावहारिकता का मार्ग प्रशस्त किया। अवेक्षण के विषय में वामन द्वारा उद्धृत दो प्राचीन श्लोक द्रष्टव्य हैं–

आधानोद्धरणे तावद् यावद्दोलायते मनः।
पदस्य स्थाविते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।
यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।[२५]

वामन की उक्त धारणा को ही रुद्रट ने 'शक्ति' के रूप में अभिव्यक्त किया। रुद्रट के अनुसार चित्त की इस समाहित दशा में अभिधेय का अनेक प्रकार से स्फुरण होने लगता है तथा कमनीय पदावली स्वयं कवि के समक्ष प्रतिभाषित होने लगती है।

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकविधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः।।
प्रतिभेत्यरैरुदिता ....।[२६]

रुद्रट प्रतिपादित सहजा प्रतिभा ही काव्य का मूल हेतु है, जो व्युत्पत्ति से उत्पन्न होने वाली उत्पाद्य प्रतिभा द्वारा संस्कारित होती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने अलोकसामान्य की अभिव्यक्ति को कवि की परिस्फुरित प्रतिभा का प्रतिफल कहा।[२७] यह प्रतिभा अनन्त एवं निरवधि है। इसके द्वारा दुर्घट अलंकार भी कविमानस में अहमहमिकया फूट पड़ते हैं तथा काव्यार्थ का कभी विराम नहीं होता।

अलङ्कारान्तराणि निरुप्यमाण दुर्घटान्यपि रससमाहितचेतसः
प्रतिभानवतः कवेरहंपूर्विकया परावतन्ति।
X X X X
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभा गुणः।[२८]
X X X X
अनेनान्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः।[२९]
सत्स्वपि पुरातनकवि प्रवन्धेषु यदिस्यात् प्रतिभागुणः।
तस्मिन्त्वसति न किञ्चिदेव बस्त्वस्ति।[३०]

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रतिभा क्या है? प्रतिभा अपूर्व वस्तु निर्माण की शक्ति है। इस अपूर्व वस्तु के निर्माण का सम्बन्ध प्रायः जीवनोपयोगी सभी विषयों से हो सकता है। इसलिए यह प्रतिभा के व्यापक स्वरूप को व्यक्त करता है, जबकि काव्यप्रतिभा का सम्बन्ध काव्यसर्जना से होता है। काव्यप्रतिभा को स्पष्ट करते हुये आचार्य भट्टतौत का यह कथन प्रतिभा की क्रियाशीलता का परिचायक है–

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनीमता।
तदनुप्राणजीवद् वर्णनानिपुणः कविः।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम् ....।[31]

नये-नये अर्थों को उन्मीलित करने वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा है। इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त का लक्षण भी अपने गुरु के अनुकूल है–

प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा तस्याः विशेषो
रसावेशवैशद्यसौन्दर्य काव्य निर्माणक्षमत्वम् ।[32]

प्रतिभा वह स्रोत है जहाँ से प्रत्येक रचनात्मक वस्तु का निर्माण होता है। कवि प्रतिभा इस सामान्य प्रतिभा का एक भेद है, जिसमें कवि रसावेश की विशदता तथा सुन्दरता के कारण काव्य निर्मिति में कृतकार्य होता है। सत्कवियों की बुद्धि को स्फुरित करने वाली इसी प्रतिभा को वाग्भट्ट ने सर्वतोमुखी बतलाया है–

प्रसन्न पदनव्यार्थ युक्त्युद्‌बोधविधायिनी।
स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी।।[33]

इन आचार्यों के पूर्व रुद्रट ने प्रतिभा (शक्ति) में इसी प्रकार अभिधेयार्थ के स्फुरण की बात कही है। आचार्य वामन एवं मम्मट ने जिस प्रतिभा को काव्य का बीज कहा था उसको परवर्ती आचार्य कुन्तक ने 'वीजाक्ङ्रण' द्वारा उपवृंहित किया। कुन्तक के अनुसार प्रतिभा से शब्द एवं अर्थ उसी प्रकार फूट पड़ते हैं, जिस प्रकार बीज से अंकुर।[34] अंकुरण की क्रिया जिस प्रकार स्वाभाविक होती है, उसी प्रकार प्रतिभा द्वारा काव्य सर्जना में भी स्वाभाविकता होती है। कुन्तक की यह अवधारणा पाश्चात्य विचारक कीट्स की मान्यता से मेल खाती है। कीट्स के अनुसार कविता उसी प्रकार मन से फूटनी चाहिये, जिस प्रकार पेड़ों से कोपल फूटती है। कुन्तक के अनुसार काव्य में कवि प्रतिभा का ही चरमोत्कर्ष रहता है[35] तथा काव्य में जो कुछ भी वैचित्र्य अथवा सौन्दर्यधायक तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वह सब प्रतिभा का ही परिणाम होता है–

कविप्रतिभाप्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते।'
'यत्किञ्चनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्‌भवमेव।'[36]
'यद्यपि रसभावालंकाराणां सर्वेषां कवि कौशलमेव जीवितं
तथापि अलंकारस्य विशेषतः तदनुग्रहं बिना न मनागपि वैचित्र्यमुत्प्रेक्षामहे।[37]

निर्मल प्रतिभा से उद्‌भिन्न नूतन शब्द तथा नवीन अर्थ के साहचर्य (अम्लानप्रतिभोद्‌भिन्न नक्वशब्दार्थबन्धुर) से ही काव्य में रमणीयता आती है। पण्डितराज

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

ने भी रमणीयता का सम्बन्ध प्रतिभा (सहजा) से स्थापित किया है। आचार्य राजशेखर ने शक्ति एवं प्रतिभा को अलग-अलग स्वीकार करते हुये उनकी सूक्ष्म विवेचना का प्रयास किया, किन्तु उनके कार्य व्यापार में वे स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींच सके। जबकि कुन्तक ने प्रतिभा एवं शक्ति को अपृथक् मानते हुये भी इनमें मौलिकता का समावेश किया।

कविचेतसि प्रथमञ्च प्रतिभाप्रतिभासनम्
अघटितपाषाणशकलकल्पमणि वस्तुविदग्ध
कविविरचित वक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणि–
मनोहरतया तद्विदाह्लादकारि काव्यत्वमीधरोहति।[३८]

अर्थात् कविचेतना में प्रतिभा द्वारा सर्वप्रथम जो वस्तु स्फुरित होती है, वह अनगढ़ मणि के समान होती है। तत्पश्चात् प्रतिभा ही उसे शब्दों एवं वाक्यों में सुगठित करके आह्लादक बनाती है। प्रतिभा की इस द्विविध प्रक्रिया को अभिनवगुप्त प्रख्या एवं उपाख्या कहते हैं। प्रख्या का अर्थ है प्रतिभा तथा उपाख्या का तात्पर्य है कथन, अभिधान अथवा शब्दों का प्रयोग। कवि के लिए दोनों का महत्त्व है। उपाख्या, प्रख्या की अनुवर्तिनी है। सरस्वतीतत्त्व (सारस्व तत्त्व या वाक्) ही प्रख्या एवं उपाख्या को उन्मीलित करता है–

क्रमात् प्रख्योपाख्यप्रसर-सुमगं भासयति यत्।
सरस्वत्यास्तत्त्वं कविहृदयाख्यं विजयताम्।।[३९]

अभिनव की यह व्याख्या भट्टतौत के 'दर्शनात् वर्णनाच्चाथ' पर आधारित है। आचार्य कुन्तक ने भी कवियों में दो प्रकार की काव्यसृष्टियों का वर्णन किया है। एक तो वह जिसमें वस्तुओं के भीतर निहित सूक्ष्म तत्त्व वाणी द्वारा उद्घाटित होता है, दूसरी वह जिसमें वाणी इस मनोरम जगत् का निर्माण करती है। प्रथम प्रकार की सृष्टि में प्रतिभा वस्तुओं के अन्तर्निहित सूक्ष्मतत्त्व का साक्षात्कार करती है जबकि दूसरी में वह उनके बाह्य रूप पर केन्द्रित रहती है।[४०] इसी क्रम में प्रतिभा जागतिक रहस्यों का दर्शन किस प्रकार करती है? इसके समाधान में महिमभट्ट का कथन सारगर्भित है–

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।
स एव सत्कवि गिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्।।
रसानुगुणशब्दार्थ– चिन्तास्मित चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्त्तिनः।।[४१]

अर्थात् भट्ट के अनुसार पदार्थ के दो रूप होते हैं सामान्य एवं विशिष्ट। सामान्य जन पदार्थ के सामान्य रूप को देखते हैं, जबकि कवि प्रतिभा के द्वारा इसके विशिष्ट रूप का दर्शन करता है। जब कवि सरस काव्य चिन्तन में समाहित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होता है तब प्रज्ञा क्षण भर के लिए कवि मानस में पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को जागृत कर देती है। इसी का नाम प्रतिभा है। यही शिव का तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा कवि त्रैकालिक भावों का साक्षात्कार करता है। प्रतिभा के इसी स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या करते हुये हेमचन्द्र का कथन है कि आत्मा सूर्य के समान स्वयं प्रकाश है, इस पर अज्ञानरूपी मेघ का आवरण रहता है। अज्ञानरूपी आवरण के विच्छिन्न हो जाने पर यह प्रतिभा स्वतः प्रतिभासित होने लगती है।[४२] यह प्रतिभा सर्वव्यापिनी और मूलतः एक होते हुये भी अलग-अलग कवियों में अलग-अलग प्रतिभासित होती है। इस तथ्य को विशेष रूप से न केवल कुन्तक ने रेखांकित किया अपितु इसके पूर्व भट्टतौत, आनन्दवर्धन ने भी प्रतिभा के नवोन्मेष एवं आनन्त्य गुणों का उल्लेख किया था। प्रतिभा की अनेक रूपता पण्डितराज को भी स्वीकार्य है। इस अनेकरूपता का कारण भी स्पष्ट है क्योंकि जन्मान्तर संस्कारों से निर्मित अदृष्ट एवं देवतादिजन्य वरदान रूप अदृष्ट में एकरूपता हो सकती है, परन्तु व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की असमानता से प्रतिभा में विविधता आ जाती है। इस कारण काव्य में विलक्षण रूपता परिलक्षित होती है।[४३]

कुन्तक के अनुसार कवि अपने काव्य में जिन पदार्थों का वर्णन करता है वे सत्ता मात्र से परिस्फुरित होते हैं। कवि अपनी प्रतिभा द्वारा उसमें अतिशयता का आधान करता है, जिससे काव्य में सहृदयहृदयहारिणी रमणीयता उत्पन्न हो जाती है।[४४] इस प्रकार कुन्तक की दृष्टि में अतिशयता का विधान ही प्रतिभा का कार्य है।

प्रस्तुतातिशय विधानमन्तरेण न किञ्चिद्पूर्वमनास्ति
त एव पदविन्यासस्त एवार्थविभूतयः।
तथापि नव्यं भवति काव्यं ग्रथनकौशलात्।।[४५]

प्रतिभा के इस रहस्य का उद्घाटन आनन्दवर्धन ने भी किया है–

न च तेषां घटतेऽवीचः न च ते दृश्यन्ते पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्।।[४६]

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी आचार्यों ने प्रतिभा एवं शक्ति को अभिन्न रूप में स्वीकार किया है। राजशेखर इस सन्दर्भ में भेदवादी हैं। राजशेखर के अनुसार– "समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता आन्तरिक प्रयत्न है। अभ्यास वाह्य प्रयत्न है। दोनों शक्ति को उद्भासित करते हैं। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति के द्वारा शक्ति का प्रसार होता है। शक्तिमान् ही प्रतिभाशाली तथा व्युत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार राजशेखर की दृष्टि में शक्ति एक व्यापक तत्त्व है, जबकि प्रतिभा का क्षेत्र सीमित है।"[४७] प्रतिभा की व्याख्या में इन्होंने रुद्रट की भावनाओं को ही आगे बढ़ाया है।

या शब्दग्रामं– अर्थशार्थ–अलंकारतंत्रं उक्तिमार्गं अन्यदपि तथाविधमधि–
हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्धः परोक्षएव।
प्रतिभावतः पुनः अपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष एव।[४८]

इस प्रकार काव्यमीमांसा के अनुसार जो शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्तिमार्ग

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इत्यादि काव्यतत्त्वों को कविहृदय में प्रतिभासित करती है, वह प्रतिभा है। प्रतिभाहीन के लिये प्रत्यक्ष पदार्थ भी परोक्ष होता है जबकि प्रतिभासम्पन्न कवि के लिये परोक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष रूप में प्रतिभासित होता है। आगे चलकर राजशेखर प्रतिभा एवं शक्ति के भेद को उपचार मात्र मान लेते हैं।[४९] संक्षेप में राजशेखर काव्य के प्रमुख हेतु शक्ति को स्वीकार करते हुये भी प्रतिभा से उसका तात्त्विक अन्तर नहीं कर सके।

प्रतिभा के स्वरूप-वर्णन में पण्डितराज जगन्नाथ ने रुद्रट एवं राजशेखर की दृष्टियों का अनुमोदन किया है। वे काव्यहेतुओं में केवल प्रतिभावादी हैं, यहाँ तक कि वे काव्यकारणता में 'कारयित्री प्रतिभा' को ही स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्होंने भावयित्री प्रतिभा का विवेचन नहीं किया। पण्डितराज ने प्रतिभा के कारणों पर भी गम्भीरता से चिन्तन किया है। प्रतिभा के स्वरूप का वर्णन पण्डितराज ने इन शब्दों द्वारा किया है–

सा च काव्य घटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिः तद्‌गतं प्रतिभात्वञ्च
काव्यकारणतावच्छेदकतया सिद्धोजातिविशेषः उपाधिरूपं वा खण्डम्।[५०]

इस प्रकार प्रथम वाक्य में पण्डितराज ने प्रतिभा के कार्य पक्ष को लक्षित किया है। इसमें वे काव्य की घटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दार्थ की उपस्थिति पर विशेष ध्यान देते हैं। प्रतिभा लक्षण की इस परम्परा में वे भट्‌टतौत, अभिनवगुप्त, रुद्रट्, वाग्भट्‌ट, राजशेखरादि के लक्षणों का ही विशेष रूप प्रस्तुत करते हैं। इसके अतिरिक्त पण्डितराज स्वतः प्रतिपादित काव्य-लक्षण में रमणीयार्थ का सम्बन्ध इसी प्रतिभा से स्थापित करते हैं। पंडितराज की दृष्टि में रमणीयार्थ ही काव्यार्थ कहलाने की क्षमता रखता है और यह अनुकूल शब्दार्थोपस्थिति से ही संभव होता है। इसके पूर्व आनन्दवर्धन ने प्रतीयमानार्थ का सम्बन्ध महाकवियों में स्फुरित होने वाली प्रतिभा के साथ प्रतिपादित किया था। व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के द्वारा सहृदय हृदयाह्लादक काव्य की सर्जना दुष्कर है।

प्रतिभा निरूपण के द्वितीय पक्ष में पंडितराज ने उसके मूल स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या की है। प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व है। न्याय की दृष्टि से प्रतिभात्व वह तत्त्व है जो विविध रूपों से प्रतिभासित होने वाली प्रतिभाओं में प्रतिभारूप अनुगत आकार या एकाकार की प्रतीति कराता है। इस प्रकार प्रतिभात्व एक जाति है। जिस प्रकार गोत्व के बिना गाय की कल्पना निरर्थक है, उसी प्रकार प्रतिभात्व के बिना काव्यहेतु रूपा मूलप्रतिभा की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार पंडितराज ने 'तद्‌गतं प्रतिभात्वं ...... उपाधिरूपं वा खण्डम्।' में प्रतिभा को अखण्ड उपाधि कहकर इसकी वेदान्त के अनुसार व्याख्या की। प्रतिभा का क्षेत्र व्यावहारिक है, अतः वे इसे अखण्ड मात्र न कहकर अखण्ड उपाधि कहते हैं। संक्षेप में पंडितराज की दृष्टि में प्रतिभा का मूल रूप प्रतिभात्व तो अखण्ड उपाधि अर्थात् निर्विकल्पक चेतना है। अदृष्टादि कारणों से उन्मीलित होने वाली प्रतिभा सखण्ड

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अर्थात् सविकल्पक चेतना है। अनेकरूपता के कारण प्रतिभा के इस सखण्ड-उपाधि की निश्चित व्याख्या संभव नहीं है। इस प्रकार पंडितराज ने प्रतिभा के कार्य एवं कारण, उन्मीलित एवं अनुन्मीलित रूपों की गम्भीर समीक्षा की है। पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा प्रतिपादित मूल प्रतिभा के अखण्ड एवं सखण्ड उपाधि पर उनके टीकाकार नागेश ने जो आलोचना की है, वह समीचीन नहीं है।[५१]

आधुनिक आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी प्रतिभा को अर्थ का प्रतिभासन मानते हैं, जो प्रज्ञा कादम्बिनी के गर्भ में विद्युत के समान रहती है।

कारणं प्रतिभाकाव्ये सा चार्थ प्रतिभासनम्।
प्रज्ञाकादम्बिनीगर्भे विद्युदुद्योतसोदरम्।।[५२]

आचार्य द्विवेदी अर्थ को ही काव्य मानते हैं, संभवतः इसीलिये उन्होंने प्रतिभा में अर्थप्रतिभासन को महत्त्व दिया। यह प्रतिभा स्वयम्भू एवं सहेतु दो प्रकार की होती है। आचार्य द्विवेदी, आदिकवि में परिस्फुरित होने वाली प्रतिभा को स्वयम्भू तथा अन्य कवियों में उत्पन्न प्रतिभा को सहेतु मानते हैं।[५३] इस प्रकार काव्य प्रतिभा 'लोकोत्तरवर्णनाशक्ति' है, जो कवि में साक्षात्कार, समाधि अथवा संस्कारों के परिपाक से उन्मीलित होती है। प्रतिभा का सम्बन्ध बुद्धि (प्रज्ञा) से होता है।

पाश्चात्य विचारकों में प्रमुख रूप से कोलरिज, शेली, कीट्स, वर्ड्सवर्थ, काण्ट तथा आई. ए० रिचर्ड्स ने प्रतिभा के स्वरूप पर विचार व्यक्त किया है। लेख विस्तार भय से इन विद्वानों के मतों की पृथक् रूप से समीक्षा करना यहाँ संभव नहीं है। संक्षेप में कोलरिज, शैली, कीट्स तथा वर्ड्सवर्थ भी प्रतिभा को स्वाभाविक (साक्षात्कारजन्य) मानते हैं। कोलरिज प्रतिभा की अभिव्यक्ति प्लास्टिक पावर (Plastic Power) से करते हुये कविकर्म की तुलना ईश्वरीय कार्यों से करते हैं।[५४] अमूर्ति का मूर्तिकरण अथवा अनगढ़ को गढ़ने की क्रिया ही प्लास्टिक पावर है।[५५] प्रायः सभी पाश्चात्य विचारक प्रतिभा को कल्पना के रूप में मानते हैं। पाश्चात्य दृष्टि में कल्पना का क्षेत्र व्यापक धरातल पर अवस्थित है। काण्ट द्वारा प्रतिपादित कल्पना के त्रिविध वर्गीकरण (Reproductive, Productive & Asthetic Imagination) में भारतीय प्रतिभा की अवधारणा पर्याप्त रूप से परिलक्षित हुयी है। आई. ए. रिचर्ड्स ने भी कल्पना की व्यापक परिधि में प्रतिभा के ही गुणों का समावेश किया है।[५६] यद्यपि पाश्चात्य विचारित कल्पना की विस्तृत व्याख्या प्रतिभा के काफी नजदीक है, परन्तु इनको अभिन्न मानना तर्कसगंत नहीं होगा। प्रतिभा का क्षेत्र व्यापक है। साहित्य में प्रतिभा का कौशल (काव्य प्रतिभा) अंशमात्र है। साहित्येतर क्षेत्रों में जो कुछ भी अभिनव सर्जनायें हो रही हैं, उनमें प्रतिभा का ही परिणमन है। कल्पना में भी प्रतिभा का योगदान है। इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों की समीक्षा में प्रतिभा के आन्तरिक निरूपण अर्थात् अनुभूति पक्ष में एकरूपता दिखती है, परन्तु वाह्य निरूपण में कुछ भिन्नता परिलक्षित होती है। प्रतिभा निरूपण की भारतीय विचारधारा प्रायः प्रज्ञा पर आश्रित है, जबकि पाश्चात्य चिन्तन का

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आधार 'कल्पना' रहा है। प्रतिभा स्फुरण में भारतीय मनीषियों ने दैवी भावना एवं समाधि को महत्त्व दिया जबकि कल्पना की परिपूर्णता के लिए प्राकृतिक एकान्त परिवेश पर विशेष ध्यान दिया गया। वर्तमान में भी मानव-प्रतिभा-प्रकर्ष के लिये आध्यात्मिक एवं वैज्ञानिक उपाय किये जा रहे हैं। प्रतिभा को कुण्ठा से बचाने के लिए एवं प्रतिभा पलायन रोकने के लिये हमारी सरकार भी प्रयासरत है। इस सन्दर्भ में काव्यप्रतिभा को उन्मीलित करने के लिये विपश्चितों के गम्भीर चिन्तन मनन की अपेक्षा है।

संदर्भ

१. इयं वामस्य मन्मना इन्द्राग्नी पूर्व्या स्तुतिः अभ्रादवृस्तिरिवाजनि। ऋग्वेद ७/६४/१

२. इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठा नव्या अकर्मा।
वस्त्रेण भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीराः स्वपा अतक्षम्।। ऋग्वेद ५/१६/१५

३. भट्टलौत : काव्यानुशासन अ० ८ की वृत्ति में उदधृत।

४. ऋग्वेद २/१२५/५

५. ऋग्वेद १०/७१/११

६. 'यः कश्चन् शब्दों वागेव। वृहदारण्यक १/५/३

७. राधावल्लभ त्रिपाठी : काव्यशास्त्र और काव्य पृ० २२

८. कालिदास : रघुवंशम् १४/७०
आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक १/५
भवभूति : उत्तररामचरितम्। द्वितीयाक्ङ्।

९. श्लोक एवास्त्वयं बद्धो नाम कार्या विचारणा।
मच्छन्दादेव ते ब्रह्म प्रवृत्तेयं सरस्वती।।
रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वं ऋषिसत्तम।
यंच्चाप्यविदितं सर्वं विदितं ते भविष्यति।।
न ते वागनृता काव्ये काचिदन्न भविष्यति। वाल्मीकि रामायण १/२/२६–३१

१०. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन अ० ८ की वृत्ति में भट्टतौत के नाम से उदधृत।

११. वाल्मीकि : रामायण १/२/३१/, १/४/१७

१२. भाविकत्वमितिप्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।। भामहः काव्यालक्ङा ३/५३

१३. सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नोकस्थसौन्दर्य दिदृक्षयेव।। कालिदास : कुमारसंभव १/४६

१४. आकस्मिक प्रत्यवभासां देवीं वाचमानुष्टमेन छन्दसा परिणताभ्युदैरयत्।
ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि...
अव्याहत ज्योतिरार्ष ते चक्षुः प्रतिभाति। भवभूतिः उत्तररामचरित। द्वितीयाङ्का ।

१५. यदुन्मीलित शक्त्यैव विश्वमुन्मीलयति क्षणात्।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्वात्मायतन विश्रान्तां तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्।। ध्वन्यालोकः लोचन टीका पृ० ६०

१६. ननु किं गुरुवद् उपदेशं करोति। नेव्याह।
किन्तुबुद्धिं विवर्द्धयति स्वप्रतिभामेव तादृशीं वितरति। अभिनवभारती : खण्ड १ पृ. ४१

१७. भरतः नाट्यशास्त्र १८/४६

१८. भरतः नाट्यशास्त्र २६/३६, ३७

१६. भर्तृहरि : वाक्यपदीय

२०. इदं तदिति सान्येषामनारव्येया कथञ्चन।
प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते।।
उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।।
साक्षाच्छंब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इति कर्तव्यायां तां न कश्चिदतिवर्तते।। वाक्यपदीय : २/१४४–१४६

२१. भामहः काव्यालंकार १/५

२२. दण्डी : काव्यादर्श १/१०३, १०४

२३. वामन : काव्यालंकारसूत्र १/१५/१७ वृत्ति

२४. चित्तैकाग्रयं वाह्यार्थनिवृत्तिः, तदवधानं अवहितं चित्तमर्धान् पश्यति।
वामनः काव्यालंकारसूत्र १/३/१६ वृत्ति

२५. वामनः काव्यालंकारसूत्र १/३/१५

२६. रुद्रट : काव्यालंकार १/१५, १६

२७. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक १/६

२८. वही, ४/६

२६. वही, ४/११

३०. ध्वन्यालोक : लोचनटीका पृ. ५३७

३१. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन पृ० ३ में उदधृत।

३२. अभिनवगुप्त : लोचनटीका पृ. २६

३३. वाग्भट्ट : वाग्भटालंकार १/४

३४. राधावल्लभ त्रिपाठी : संस्कृत कवियों के व्यक्तित्व का विकास, पृ. २४

३५. कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम् पृ. १३

३६. वही, पृ. ४८

३७. वही, पृ. १४६

३८. वही, पृ. ६

३६. वही, पृ. ७

४०. राधावल्लभ त्रिपाठी : काव्यशास्त्र और काव्य, पृ. २६

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

४१. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ० १०८
४२. सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा.....
मंत्रोदरौपाधिकी.....। हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, पृ० ६
४३. प्रतिभात्वं च कविताया: कारणतावच्छेदकं प्रतिभागत वैलक्षण्यमेव वा विलक्षणकाव्यं प्रतीति नान्नाापि सः।
तादृशाष्टस्य तादृशव्युप्तत्यभ्यासयोश्च प्रतिभागतं वैलक्षण्यं कार्यतावच्छेदकं अतो न व्यभिचारः।
पण्डितराज जगन्नाथ : रसगङ्गाधर, पृ. ६
४४. कुन्तक : वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. १४०
४५. वही, पृ. १४३
४६. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक, पृ. २४१ (संस्कृतछाया)
४७. राजशेखर : काव्यमीमांसा। चतुर्थ अध्याय।
४८. वही, चतुर्थ अध्याय।
४६. शक्तिशब्दश्चायमुपचरितः प्रतिभाने वर्तते। काव्यमीमांसा : पृ. ३८
५०. पण्डितराज जगन्नाथ : रसगंगाधर, पृ. ८
५१. नीलघटत्वादिवत् सखण्डोपाधिरेवेति वार्थः।
'अखण्डम्' इति पाठस्तु चिन्त्य एव। नागेश : गुरुमर्म प्रकाश टीका, पृ. ८
५२. रेवाप्रसाद द्विवेदी : काव्यांलकार। द्वितीय कारिका।
५३. वही, पंचमकारिका।
54. A Repetion in the finite mind of the eternal act of creation in the finite I am. coleridge
55. English Studies : page 83
56. I. A. Richards : Principles of criticism. page 239-243

*

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

५

संस्कृत काव्यशास्त्र में रसवत् अलंकार

डॉ. राजेन्द्र मिश्र

ऋग्वेद में अरङ्कृति शब्द के प्रयोग,[1] उपमा[2] उत्प्रेक्षादि के नामोल्लेख विहीन संविधानक तथा यास्क एवं पाणिनि[3] द्वारा औपम्यविधा की सुस्पष्ट व्याख्या के अनन्तर अलंकारों का युक्ति युक्त विवेचन सर्वप्रथम हम आचार्य भरत (ई० पू० चौथी शती) प्रणीत नाट्यशास्त्र में पाते हैं। भरत ने मात्र चार अलंकारों, उपमा, रूपक, दीपक एवं यमक– की सोदाहरण व्याख्या की है।

भरत के अनन्तर आचार्य भामह (छठी शती ई०) ने काव्यालंकार में यह कहते हुए कि मेरे पूर्ववर्तियों ने पाँच ही अलंकारों का व्याख्यान किया है'[4] कुल ३८ अलंकारों (दो शब्दालंकार तथा ३६ अर्थालंकार) का विवरण प्रस्तुत किया। भामह द्वारा उदाहृत पूर्ववर्ती पाँच अलंकारों में चार अलंकार तो भरतप्रोक्त हैं। पाँचवाँ अलंकार 'अनुप्रास' सम्भवतः आचार्य मेधाविन् अथवा मेधाविसद्र ने आविष्कृत किया, जिनका अनेकशः उल्लेख भामह ने किया है।

काव्यालंकार के तृतीय परिच्छेद में व्याख्यात २३ अलंकारों में दूसरा स्थान रसवत् अलंकार का है। आचार्य भामह इसे प्रेयस् तथा ऊर्जस्वि के मध्यस्थ रूप में उपन्यस्त करते हैं। परन्तु उन्होंने इन तीनों ही अलंकारों का, लक्षण न देकर, सीधे उदाहरण ही दे दिया है। आचार्य के ही शब्दों में,

प्रेयो गृहागतं कृष्णंमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्दः जाता त्वपि गृहांगते।
कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।।
रसवछर्शितस्पष्ट श्रृङ्गारादिरसं यथा।
देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यति रोहिता।।
ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृत ः।।

इन व्याख्यानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भामह की दृष्टि में अतिशय प्रिय वचन, अतिशय रस समन्वय तथा गर्वोक्ति ही क्रमशः प्रेयस्, रसवत् एवं ऊर्जस्वि अलंकार हैं। जिसमें श्रृंगारादि रस स्पष्टता से दिखाए गये हों, वही रसवत् अलंकार है। इसका उदाहरण देते हैं भामह–

'देवी समागमद्धर्ममस्करिण्यतिरोहिता'

अर्थात् 'धर्ममस्करिणी देवी प्रकट रूप में उपस्थित हुई।' भामह द्वारा उपस्थापित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस उदाहरण का मूल सन्दर्भ सुस्पष्ट नहीं है।

आचार्य के मतानुसार यह सन्दर्भ कुमारसम्भव महाकाव्य का है। तपस्यारत उमा के समक्ष, छद्मवेषधारी शिव उनके प्रेम की परीक्षा के लिये आते हैं और अन्ततः वास्तविक रूप में प्रकट हो जाते हैं।[५]

परन्तु ताताचार्य की व्याख्या मूल सन्दर्भ के सर्वथा विपरीत प्रतीत होती है क्योंकि उपर्युक्त प्रमाणानुसार छद्मवेषधारी (धर्ममस्करी) के प्रकट होने की बात (स्वरूपमास्थाय वृषरातकेतनः) की सिद्ध होती है न कि पार्वती की।

मेरे विचार से आचार्य भामह यहाँ भासप्रणीत स्वप्नवासवदत्तम् के रमणीय कथानक की ओर संकेत कर रहे हैं। देवी (वासवदत्ता) महामात्य यौगन्धरायण की योजना के अनुसार, पातिव्रत धर्म के पालनार्थ मस्करिणी (संन्यासिनी) के रूप में रहती है। राजा उदयन उसे लावाणक ग्राम के अग्निकाण्ड में दग्ध हुई मान लेता है। परन्तु यह सारी योजना स्वामिभक्त अमात्य यौगन्धरायण ने बनाई थी क्यों कि देवी के जीवित रहते उदयन किसी और रमणी से विवाह नहीं कर सकता था। वासवदत्ता के दाह-प्रवाद के बाद, पद्मावती और उदयन का विवाह सम्पन्न हो जाता है। तभी एक दिन अकस्मात् धर्ममस्करिणी देवी (वासवदत्ता) वास्तविक रूप में प्रकट होकर वत्सराज के समक्ष आती है।

जिसे राजा मृत मान चुका था उसी प्राणाधिक प्रिया वासवदत्ता का सहसा जीवित प्रकट होना रसवत्ता की पराकाष्ठा है। इस घटना में नायक-नायिका का अभुक्तप्रणजन्य श्रृंगार तो है ही, करुणा तथा अद्भुत रस का भी सुस्पष्ट प्रदर्शन है। फलतः इस प्रसंग को भामह रसवत् अलंकार का उदाहरण मानते हैं।

भामह के परवर्ती, काव्यादर्शकार आचार्य दण्डी की काव्यशास्त्रीय दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक प्रौढ़ प्रतीत होती है। प्रत्येक दिशा में वह भामह से कुछ आगे बढ़े प्रतीत होते हैं। उन्होंने प्रथम बार प्रेयस्, रसवत् तथा ऊर्जस्वि को परिभाषित करने का यत्न किया, गोकि दण्डी के ये लक्षण, भामह के उदाहरणों के गर्भ से ही प्रकट हुए हैं। दण्डी प्रियतर आख्यान, रसपेशलत्व तथा रूढ़ अहंकार को ही क्रमशः प्रेयस्, रसवत् एवं ऊर्जस्वि अलंकार मानते हैं।

परन्तु इस सन्दर्भ में आचार्य दण्डी की मौलिकता प्रशंसा योग्य है, जब वह कहते हैं कि– 'युक्तोत्कर्षञ्च तत् त्रयम्।' अर्थात् प्रियतरं आख्यान, रसपेशलत्व तथा रूढ़ाहंकार का होना ही पर्याप्त नहीं है, उनमें उत्कर्ष अर्थात् लोकोत्तर चमत्कार भी होना चाहिये। चमत्कार का अर्थ है– लोकातिक्रान्तगोचर वचन। और यह चमत्कार कविता में अतिशयोक्ति से ही आता है। इस सन्दर्भ में भामह[७], दण्डी[८], आनन्दवर्धन[९], कुन्तक[१०] तथा मम्मट[११]– सब एकमत हैं।

भामह प्रदत्त रसवत् अलंकार के उदाहरण में रसपेशलता का उत्कर्ष स्पष्ट दिखाई पड़ता है। जिसके वियोग में कोई प्रियजन घुट-घुट कर जिये (मृत्यु के कारण) जिसके पुनर्मिलन की सारी सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हों– वही रूप

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सौन्दर्य की प्रतिभा प्राणाधिक प्रिया सहसा सामने आ खड़ी हो! भला इससे अधिक चमत्कारिक रसमय प्रसंग और क्या हो सकता है। यह प्रणय- प्रसंग नित्यप्रति मिलने वाले नायक-नायिका के श्रृंगारानुभव की तुलना में निश्चय ही उत्कर्षयुक्त है।

काश्मीर नरेश जयापीड के सभापण्डित आचार्य उद्यट (७७६-८१३ A. D) ने रसवत् आदि अलंकारों का अत्यन्त प्रौढ़ व्याख्यान प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरस' को ही रसवत् मानते हुए, रस के संघटकों (स्थायी, विभाव, अनुभाव तथा संचारी) के स्पष्ट प्रतिपादन पर जोर दिया है।[१२] रसवत् का उदाहरण उद्भट के दृष्टिकोण के पूर्णतः अनुरूप है–

इति भावयतस्तस्य समस्तानृ पार्वतीगुणान्।
सम्भृतानल्पसंकल्पः कन्दर्प : प्रबलो ऽ भवत्।।
स्विद्यतापि स गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकटोपमम् ।
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत।।

यहाँ भगवान् शिव (पार्वती के प्रति) के आभिलाषिक विप्रलम्भ श्रृंगार का वर्णन है। यहाँ स्थायी रतिभाव स्वशब्द (कन्दर्प) से उन्मीलित है क्योंकि युवक और युवती की मन्मथात्मिका रतिभावना ही विभावादि से पुष्ट होकर श्रृंगार रस बनती है। औत्सुक्य, चिन्ता एवं प्रमोद (हर्ष) शब्दों से संचारीभाव प्रकट किये गये हैं। स्वेद एवं पुलक (रोमाञ्च) ये दोनों भी सात्त्विक भाव हैं तथा स्वशब्दोपात्त हैं। 'भावयतस्तस्य' द्वारा यहाँ विभाव को निर्दिष्ट किया गया है। इसी प्रकार 'दृशा' शब्द द्वारा अपांगाभिनय को भी संकेतित किया गया है। साकल्येन देखा जाय तो इस उदाहरण में उद्भटाभिमत रस के पाँचों अंग (स्थायी, संचारी, सात्त्विक, विभाव तथा अभिनय) स्वशब्दोपात्त हैं, फ़लतः यहाँ रसवत् अलंकार है।

लघुवृत्तिकार आचार्य प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है–

एषाञ्च श्रृंगारादीनां नवानां रसानां स्वशब्दादिभिः पञ्चभिरवगतिर्भवति। यदुक्तं भट्टोद्भटेन पञ्चरूपा रसा इति! तत्र स्वशब्दाः श्रृंगारादेर्वाचकाः श्रृंगारादयः शब्दाः स्थायिनो रसानामुपादानकारण प्रख्या रत्यादयो नव भावाः। संचारिणस्तु निर्वेदादयो रसानामवस्थाविशेषरूपाः। विभावास्तु तेषां निमित्तकारण भूता योषिदादय ऋतुमाल्यानुलेपनादयश्च। आगिंकादयस्तु चत्वारो रसानां कार्यभूता अभिनयाः। एतेषां च स्वशब्दादीनां पञ्चा समस्तव्यस्ततया आस्पदत्वाद्येन काव्येन स्फुटरूपतया श्रृंगारादिरसाविर्भावो दृश्यते तत्काव्यं रसवत्। रसाः खलु तस्यालंकाराः।

रसवत् के सन्दर्भ में आचार्य उद्भट का भामह एवं दण्डी से स्पष्ट मतभेद दिखाई पड़ता है। भामह एवं दण्डी उत्कर्ष अथवा चमत्कारयुक्त 'रसपेशलत्व' को रसवत् मानते हैं, परन्तु आचार्य उद्भट 'पञ्चरूप रस की स्वशब्दोपात्तता' को, जैसा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कि अभी सुस्पष्ट किया गया है। उद्भट-प्रदत्त उदाहरण में कोई उत्कर्ष या चमत्कार है भी नहीं! हाँ उसमें स्थायीभाव, विभाव, सात्त्विकभाव, संचारीभाव एवं अंगाभिनय से पाँचों रससंघटक शब्दों द्वारा प्रकट अवश्य किये गये हैं।

रस अलंकार है अथवा अलंकार्य ? यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अलंकारवादी तथा ध्वनिवादी आचार्य इस बिन्दु पर सर्वथा पृथक् हैं। अलंकारवादी आचार्य अलंकार को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि में अलंकार मात्र काव्य का शोभाधायक अथवा उत्कर्षवर्धक अस्थिर धर्म (उपमारूपकादि) नहीं है, बल्कि वह काव्य का सहज एवं स्थिर सौन्दर्य है जैसा कि आचार्य वामन ने कहा है–

सौन्दर्यमलङ्कार :। करण व्युत्पत्त्या पुनरलंकार शब्दों ऽ यमुपमादिषु प्रयुज्यते।

आचार्य दण्डी ने भी स्पष्टतः कहा कि मात्र काव्यशोभा को बढ़ाने वाले धर्म अलंकार नहीं है, बल्कि जो तत्त्व काव्यशोभा के जनक या निष्पादक हैं, वे भी अलंकार ही हैं।[१३] अतएव यदि रस भी काव्यशोभा का निष्पादक है तो वह अलंकार ही हुआ। इतना ही नहीं, सन्ध्यंग, वृत्त्यंग तथा आगमान्तर में वर्णित लक्षण आदि तत्त्व भी यदि सौन्दर्य निष्पादक हैं तो वे भी हमें अलंकार के ही रूप में मान्य हैं।[१४]

परन्तु ध्वनिवादी आचार्य अलंकार अथवा सौन्दर्य के विपरीत रस (रसध्वनि) को काव्य की आत्मा मानते हैं। उनकी दृष्टि में रस तो अनुभव संवेद्य वस्तु है। वह स्वप्न में भी 'स्वशब्दवाच्य' नहीं हो सकता।[१५] भला 'श्रृगार-श्रृंगार' रटने से श्रृंगार की अनुभूति हो सकती है? तो ऐसी स्थिति में, जब कि रस वाच्य हो ही नहीं सकता उसे हम अलंकार कैसे कह सकते हैं। क्योंकि अलंकार सदैव वाच्यार्थ रूप ही होता है।

अनेक ध्वनिवादी आचार्य अलंकारवादी आचार्यों के ग्रंथों के टीकाकार हैं। उन्हें प्रायः इस विसंगति का बोध हुआ है। क्योंकि व्यक्तिगत रूप से तो वे रस को अलंकार (वाच्य) मानने के विरुद्ध हैं, परन्तु अलंकारवादी आचार्य के मूल अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्हें रस को अलंकार मानना ही पड़ा है। वस्तुतः उन्हें अलंकारवादियों के साथ रस को 'अलंकार' तथा रसवादियों के साथ उसे 'काव्यात्मा' कहना पड़ा है।

उद्भट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज इसी द्विविधा एवं 'उभयतः पाश' के शिकार हैं। उनका अपना दृष्टिकोण तो यही है कि न खलु काव्यस्य रसानां चालंकार्यालंकारभाव : किन्त्वात्मशरीरभावः। अपनी बात को और स्पष्ट करते हुए वह पुनः कहते हैं–

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रुपतया स्थितः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।।

परन्तु यही प्रतिहारेन्दुराज एक अन्य प्रसंग में यह भी कहते हैं कि 'रस भी काव्य के अलंकार ही हैं।'[१६] और जब उसे 'स्वमतविरोध' का भय लगने लगता है

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

तब वह बड़ी चतुराई से यह कहते हैं कि 'रसादि का अलंकारत्व तो हमने इसलिये कह दिया क्योंकि वहाँ (उस प्रसंग में) इस प्रकार के भेद की हमारी विवक्षा नहीं थी।' इसका अर्थ यह हुआ कि रसादि का अलंकारत्व उन्होंने 'तुष्यद् दुर्जनन्यायेन' प्रतिपादित किया।[१७]

अन्ततः आचार्य अलंकारवादियों के दृष्टिकोण के प्रति अपनी असहमति जताते हुए यह कह देता है कि ग्रंथगौरव के भयवश हम इस समस्या पर विचार नहीं कर रहे हैं कि रसादि काव्यालंकार मात्र हैं अथवा काव्यात्मा ! आचार्य के ही शब्दों में,

रसानां भावनानाञ्च काव्यशोभातिशयहेतुत्वात् किं काव्यालङ्कार उत काव्यजीवितत्वमिति न तावद् विचार्यते ग्रन्थगौरवभयात्।

ध्वनिवादी आचार्यों का दृष्टिकोण

प्रतीहारेन्दुराज मुकुलभट्ट के शिष्य हैं[१८] जिनके पिता कल्लट काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५७-८८४ A. D.) के समय में विद्यमान थे। ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन भी अवन्तिवर्मा के ही शासनकाल में प्रतिष्ठित थे– यह तथ्य राजतरंगिणी के साक्ष्य से प्रमाणित है।[१९] दूसरी ओर यही प्रतीहारेन्दुराज (= भट्टेन्दुराज) लोचनकार अभिनवगुप्त के काव्यशास्त्रगुरु भी हैं। इस परम्परा से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतीहारेन्दुराज से पूर्व ही ध्वनिकार रस का काव्यात्मत्व स्थापित कर चुके थे। यही कारण है कि उद्भट (अलंकारवादी) तथा आनन्दवर्धन (ध्वनिवादी) जैसे दो विरोधी ध्रुवों के परिप्रेक्ष्य में 'रसवत्' की व्याख्या करते हुए प्रतीहारेन्दुराज को 'द्वैध' का अनुभव करना पड़ा। सिद्धान्ततः वह ध्वनिकार के पक्षधर थे, परन्तु व्यवहारतः टीकाकार होने के कारण उन्हें उद्भट का ही अनुसरण करना था।

आनन्दवर्धन ने रस, रसवत् तथा अलंकार– तीनों का पृथक् क्षेत्र स्वीकार किया। अलंकारवादियों की दृष्टि में तो अलंकार्य था.... शब्दार्थ अथवा काव्य। फलतः जिस काव्य में रस प्रधान (दर्शितस्पष्टश्रृंगारादि : भामह) होते हुए भी, शब्दार्थसमष्टिमय अलंकार्य काव्य का अलंकरण कर रहा हो, उसे अलंकारवादी आचार्य 'रसवत् अलंकार' कहेंगे। जहाँ रस की स्थिति प्रधान न हो, अंगभूत हो उसे उदात्तालंकार की संज्ञा दी गई। काव्यालंकारसारसंग्रह में उदात्तालंकार की 'लघु वृत्ति' लिखते हुए आचार्य प्रतीहारेन्दुराज ने यही तथ्य बड़ी स्पष्टता से उपन्यस्त किया है– न खल्वत्र महापुरुषचेष्टितं वाक्यतात्पर्य गोचरतामनुभवति अर्थान्तरोपलक्षणपरत्वात्। यत्र च रसास्तात्पर्य णावगम्यन्ते तत्र तेषां वाक्यविश्रान्तिस्थानत्वेन चतुर्वगैतदितरप्राप्ति परिहारोपायभूत स्थायिभाव परिपोषात्मनाऽस्वाद्यमानत्वाद्रसवदलकांरो भवति।

ध्वनिकार ने अलंकारवादी दृष्टिकोण का विरोध करते हुए बड़ी स्पष्टता से कहा कि जहाँ रस प्रधान है, वहाँ वह स्वयं 'अलंकार्य' होता है। शब्द और अर्थ तो वहाँ 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ'[२०] अर्थात् गौण होते हैं। ऐसी स्थिति में, अलंकार्य रस

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अलंकार कैसे हो सकता है?[२१] ऐसे स्थलों पर तो उपमादि अलंकार स्वयमेव अलंकार्य रस के उत्कर्षाधायक होते हैं। ध्वनिकार का कहना है कि ऐसे प्रसंगों में रसवत् अलंकार नहीं, रसध्वनि होती है। रसवत् अलंकार तो वहाँ होना चाहिये जहाँ रस की अपेक्षा काव्यार्थ (वाच्यार्थ) का उपस्कारक हो।[२२]

आनन्दवर्धन का यही मन्तव्य, रसवत् अलंकार के सन्दर्भ में एक नूतन प्रस्थान बना[२३]। लोचनकार अभिनव गुप्त, आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ आदि ध्वनिवादी आचार्यों ने इसी सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को स्वीकार किया।

आचार्य मम्मट रसवत् को अलंकार मानने के पक्ष में नहीं क्यों कि यह अन्यान्य अलंकारों की भाँति अंगाश्रित (=शब्दार्थाश्रित) होकर अंगी (काव्यार्थ) की शोभा नहीं बढ़ाता। फलतः रसवत् को अलंकार न कह कर गुणीभूतव्यङ्ग्य का एक भेद विशेष ही मानना चाहिये।[२३]

साहित्यदर्पणकार ने सर्वप्रथम तो रसवत् को परिभाषित एवं उदाहृत किया। तदनन्तर उन्होंने रसवदलंकार सम्बन्धी समूचे प्रकरण की ऐतिहासिक समीक्षा की है, जिसके अनन्तर इस सन्दर्भ में कुछ भी कहने को शेष नहीं रह जाता। आचार्य मम्मट का ही अनुकरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं कि रस, भाव, रसाभास/भावाभास तथा भावप्रशम ये चारों जब किसी के अंग बन जाते हैं तब क्रमशः रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वि तथा समाहित अलंकार होते हैं–

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालंकृतयस्तदा।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रयात्।।

तत्र रसयोगाद्रसवदलंकारो। यथा– 'अयं स रशनोत्कर्षी' इत्यादि। अत्र श्रृंगार : करुणस्याङ्गंम्।

उपर्युक्त उदाहरण महाभारत से उद्धृत है। सात्यकि द्वारा काटी गई भूरिश्रवा की भुजा को लक्षित कर उसकी रानियाँ विलाप कर रही हैं– "हाय! यही है वह प्राणनाथ का हाथ जो (रतिव्यापार में) करधनी को खींचने वाला, पीन पयोधरों का निमर्दक, नाभि– अरु एवं जघन का संस्पर्श करने वाला तथा नीवी को शिथिल करने वाला था।"

यह सम्पूर्ण वर्णन सम्भोग श्रृंगार का है। परन्तु भूरिश्रवा की मृत्यु हो जाने के कारण प्रधान रस तो यहाँ है– करुण! श्रृंगार यहाँ करुण का अंग बन गया है, फलतः यहाँ रसवत् अलंकार है।

साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में रसवत् अलंकार के सन्दर्भ में तीन प्रकार के आग्रह हैं–

१. पहला मत तो यह है कि रसवदादि अलंकार हो ही नहीं सकते क्योंकि वे शब्द एवं अर्थ के उपकारक नहीं, उपकार्य हैं।[२४]

२. दूसरा मत यह है कि प्राचीन आचार्यों (भामह, दण्डी, उद्भटादि) की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रसिद्धि के अनुसार रसवदादि को भी अलंकार मानना ही चाहिये। वस्तुतः अंगभूत रसादि अंगीभूत रसादि के उपकारक होते हैं। उनके लिये प्रयुक्त अलंकार शब्द भी लाक्षणिक ही मानना चाहिये।

३. तीसरा मत यह है कि रसादि का उपकारक होने से ही प्रधान अलंकारत्व होता है, अतः रसवदादि ही प्रधान (मुख्य) अलंकार हैं। रूपकादि तो प्रायः अर्थ के (और तद्द्वारा रस के भी) उपकारक होते हैं। अतः उन्हें (रूपकादि) 'अजागलस्तनन्याय' से ही अलंकार कहा जाता है। जैसे बकरी के गले में लटकते मांसपिण्ड को मात्र 'आकारसाम्य' के कारण स्तन कहा जाता है, गोकि न ही वे स्तन होते हैं और नहीं स्तनों जैसा कार्य (दूध देना) करते हैं। ठीक उसी प्रकार रूपकादि के लिये भी अलंकार शब्द का प्रयोग गौण ही समझना चाहिये।

इन (पूर्वपक्षभूत) तीन मतों को उपन्यस्त करने के अनन्तर ही आचार्य विश्वनाथ रसवदलंकार के सन्दर्भ में अपना (ध्वनिवादियों का) सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि अंगीभूत रसादि अपने व्यंजक शब्द एवं अर्थ से उपकृत होकर, अंगी रस के व्यंजक शब्द एवं अर्थ का उपकार करते हुए ही, प्रधानरस के उपकारक होते हैं। अतएव मुख्य वृत्ति से ही उन्हें अलंकार कहा जाता है। समासोक्ति से नायिका आदि के व्यहार का आरोप ही अलंकार है, न कि उस आरोप से उत्पन्न आस्वाद! इसीलिये ध्वनिकार ने स्पष्टतः कहा है कि "रसादिक जहाँ किसी अन्य वाक्यार्थ में अंगभूत हों, वहाँ वे अलंकार ही होते हैं।"[२५]

कुवलयानन्दकार आचार्य अप्पय दीक्षित संभवतः मम्मटोत्तर युग के अन्तिम प्रतिष्ठित आचार्य हैं जिन्होंने रसवत् की संक्षिप्त किन्तु सुरुचिपूर्ण व्याख्या की है–

तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिर्व्यञ्जितो रति हासशोकादिश्चितवृत्तिविशेषो रसः। स यत्रापरस्याङ्गं भवति तत्र रसवदलंकारः। तत्र रसवदुदाहअणम्–

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसंभव
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ।

यहाँ पर (चुलुकजल में ईश्वर के अवतारद्वय को देखने से उत्पन्न) उद्भूत रस मुनिविषयिणी रति (भाव) का अंग है। अतएव यहाँ रसवत् अलंकार है।

संदर्भ

१. यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहुता हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्याग्निहूतो अरङ्कृत :।।
– ऋग्वेद १०. १४. १३ (यमसूक्त)
भूम्यां देवेभ्यो ददाति यज्ञं हव्यमरङ्कृतम्।
– अथर्व० पृथ्वीसूक्त १६

२. सूर्यो देवीमुषसं रोचयानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
– ऋग्वेद १. ११५. २ (सूर्यसूक्त)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३. उपमेति गार्ग्यः (निरुक्त)
उपमानानि सामान्यवचनैः १२. १. ५५
उपमेति व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २. १. ५६
— अष्टाध्यायी।

४. अनुप्रास : सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलङ्कारा : पञ्चैवान्यैरुदाहृताः।।
—काव्यालंकार २. ४

५. इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नबल्कला।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मितः समाललम्बे वृषराजकेतनः।।
तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयस्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।
—कुमार० ५. ८५, ८५

६. प्रेय : प्रियतराख्यानं रसवत् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कार युक्तोत्कर्षञ्च तत्त्रयम्।। काव्या० २. २७५

७. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्ते ऽतिशयोक्ति तामलङ्कारतया तथा।। भामहा० २. ८१

८. अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहु : परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।। काव्या० २. २२०

९. प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया।

१०. केषाञ्चिन्मतं कविकौशलकल्पितक मनीयातिशयः शब्द एव केवलं काव्यमिति केषाञ्चिद् वाच्यमेव रचनावैचित्र्य चमत्कारकारि काव्यमिति। वक्रोक्ति ० १. ७.

११. सर्वत्र एवं विधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां बिना प्रायेणालङ्कारत्वायोगात्।

१२. रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरसादयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्।।

१३. काव्यशोभाकारान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्या० २.१.

१४. यच्च सन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलङ्कारतयैव न :।। काव्या० २. ३६७.

१५. द्रष्टव्य : ध्वन्यालोक, प्रथमोद्योत (यस्तु स्वप्रेऽपि न स्वशब्दवाच्य : आदि)

१६. रसा : खलु काव्यस्यालकांरा :।

१७. यत्तु रसादीनां पूर्वमलंकारत्वमुक्तं तदेवंविधभेदाविवक्षया।

१८. विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालंकार संग्रह।। लघुवृत्ति।

१९. मुक्ताकण : शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्ये ऽ वन्तिवर्मण :।।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनुग्रहाय लोकानां भट्टा : श्रीकल्लटादय :।
अवन्तिवर्मण : काले सिद्धा भुवमवातरन्।।

२०. यत्रार्थ : शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्त : काव्यविशेष : स ध्वनिरिति सूरिभि : कथित :।।
— ध्वन्या० १. १३

२१. इह केचिदाहु : वाच्यवाचकरूपालंकरणमुखेन रसाद्युपकारका एवालंकाराः। रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्तेति। साहित्यदर्पण (रसवत्प्रसंग)

२२. प्रधाने ऽ न्यत्र वाक्यार्थो यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्त्रलङ्कारो रसादिरिति मे मति :।।

२३. मात्र वक्तोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक इसके अपवाद हैं। उनका सारा जोर 'रसवत्' शब्द पर है। कुन्तक भी अंततः वही बात कहते हैं जो ध्वनिकार कह चुके थे, परन्तु उनके कहने का ढंग पृथक् है। वह कहते हैं कि सह्रदयों को आह्लादमग्न करने में समर्थ जो अलंकार 'रस के समान्' (रस वत्) हो जाता है वही रसवत् कहा जा सकता है। सरस समासोक्तियों को प्रस्तुत कर कुन्तक कहते हैं कि यहाँ आरोपमूलक अलंकार रससमता उत्पन्न करने के कारण रस के ही जैसे हैं। आश्चर्य यही है कि ध्वनिकार भी रस को वाच्योपस्कारक होने पर (समासोक्ति आदि में) रसवत् ही मानते हैं।

२४. सविस्तार द्रष्टव्य : काव्यप्रकाश (गुणीभूत व्यङ्ग्य प्रकरण)

२५. रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलंकारता भवितुं युक्ता इति।

२६. अन्ये नु रसाद्युपकारमात्रेणेहालंकृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तन प्रसिद्धया ऽ ङ्गीकार्य एव इति।

२७. अपरे च रसाद्युपकारमात्रेणालंकारत्वं मुख्यतो, रूपकादौ तु वाच्याद्युपद्यानम् अजागलस्तनन्यायेन इति।

२८. अभियुक्तास्तु स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरंगभूर्त रसादि—
भिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कार द्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्—
कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्र—
स्यैवालङ्कृतिता न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात् इति मन्यन्ते। अतएव ध्वनिकारेणोक्तम्— प्रधाने ऽ न्यत्रादि।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

६

औचित्य सिद्धान्त के प्रणेता

डॉ. उषा माथुर

औचित्य सृष्टि के सभी पदार्थों में और सभी तत्त्वों में दृष्टिगोचर होता है। प्रतिदिन के जीवन में, आचार-व्यवहार में, रीति-रिवाज में औचित्य ही कार्य करता दिखाई देता है। काव्य, नाटक, कथा आदि का आधारतत्त्व भी औचित्य ही है। लोक-व्यवहार और पारिवारिक संबंधों में भी औचित्य कार्य करता है। पारिवारिक संबंधों को औचित्य धारण करता है। सौंदर्य का आधार भी औचित्य ही है। कोई वस्तु अपने उपयुक्त स्थान पर प्रयुक्त न की जाए तो सौंदर्य के कुरूप होने में देर नहीं लगती। अलंकारों का उचित स्थान पर और उपयुक्त समय पर धारण करना जहाँ सौंदर्य की वृद्धि करता है और अवसर विशेष की शोभा द्विगुणित करता है। इसके विपरीत अनुपयुक्त समय पर धारण किया गया अलंकार उपहासजनक होता है।

इसी प्रकार औचित्य से पूर्ण काव्य सहृदयजनों के लिए आह्लाद कारक माना गया है। क्योंकि काव्य की आत्मा औचित्य ही है। औचित्य विविध प्रकार के रसों, ध्वनियों और अनुमिति पर निर्भर करता है। रस आदि वक्रोक्ति पर आधारित होते हैं। वक्रोक्ति हमें रीति, गुण और अलंकारों में देखने को मिलती है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ में सभी प्रकार की विचारधाराएँ एकमात्र औचित्य तत्त्व पर निर्भर करती है। औचित्य काव्य की आत्मा किस प्रकार प्रमाणित होता है, इस तर्क को निम्नलिखित आरेख से समझा जा सकता है।

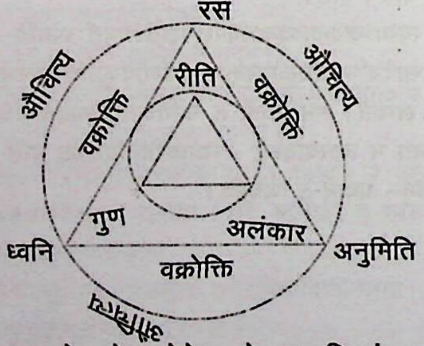

औचित्य सिद्धान्त के प्रणेता क्षेमेन्द्र के उक्त सिद्धांत पर विचार करने से पूर्व औचित्य के संदर्भ में कुछ अन्य विचारकों के मत पर प्रकाश डालना आवश्यक है। यद्यपि औचित्य के संदर्भ में भामह, दण्डी, माघ, भट्ट लोल्लट, रुद्रट, राजशेखर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आदि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत किए हैं और चर्चाएँ की हैं। परन्तु इस क्षेत्र में प्रमुख नाम भरत, आनन्दवर्धन और क्षेमेन्द्र के ही लिए जा सकते हैं। भरत मुनि ने नाटक के अभिनय के संदर्भ में औचित्य की सत्ता स्वीकार की है। उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्तियों, विचारों तथा स्वभावों का अध्ययन प्रकृति के अन्तर्गत किया है। उन्होंने वेशभूषा तथा विभिन्न कृत्यों के सन्दर्भ में प्रान्तीय, जातीय तथा राष्ट्रीय विशेषताओं का अध्ययन प्रकृति के अन्तर्गत किया है। उनके अनुसार अभिनय, वेशभूषा तथा आकृति आदि सब रस और भाव के अनुरूप होने चाहिए। इनके प्रतिकूल होने पर अभिनय और वेशभूषा अपना प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकते। इस प्रकार भरतमुनि नाटक में औचित्य तत्त्व को प्रधान मानते हैं।

आनन्दवर्धन ने रस अथवा रस ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है। रस के लिए औचित्य का होना आवश्यक है। अलंकार आदि रस के वाह्य परिधान होते हैं। रस की पुष्टि के लिए अलंकार सहायक होते हैं। इनके अनुसार अलंकार इस प्रकार के होने चाहिए जिनकी रचना के लिए कवि को पृथक प्रयास न करने पड़े। ऐसे अलंकार नहीं होने चाहिए जो प्रकृत रस को गौण कर दें। आनन्दवर्धन ने इसे ही अलंकारौचित्य कहा है।

आनन्दवर्धन ने रस के अतिरिक्त गुणौचित्य पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने गुण और रस को धर्मी मानकर गुण का साक्षात संबंध रस से दिखलाया है। उनके अनुसार गुणों की अभिव्यक्ति ऐसे वर्णों के द्वारा होनी चाहिए जो सर्वथा रसानुकूल हों। इस संबंध में आनन्दवर्धन ने गुणों का आश्रय लेने वाली तथा रसों को व्यक्त करने वाली संघटना का वर्णन करते हुए पदों की सम्यक रचना को संघटना कहा है। इसके संबंध में चार प्रमुख तत्त्व हैं। ये हैं रस, वक्ता, वाध तथा विधप। काव्य में इनका औचित्य होना आवश्यक होता है। इनमें रसों का औचित्य प्रमुख है। शेष तीन का औचित्य गौण है। इसी प्रकार प्रबंधौचित्य, रीत्यौचित्य और अलंकारौचित्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने रसौचित्य पर ही बल दिया है। अपने 'ध्वन्यालोक' ग्रंथ में उन्होंने रस का विवेचन तथा रस विरोधी तत्त्वों और उनके परिहार की विस्तृत व्याख्या की है।

इस प्रकार वास्तव में काव्य तत्त्व के रूप में औचित्य सिद्धांत की प्रतिष्ठा करने का श्रेय आनन्दवर्धन को दिया जा सकता है। इन्हीं के विवेचन से प्रोत्साहित होकर क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य विचार विमर्श' में औचित्य को एक नवीन रूप प्रदान करने का प्रयास किया है।

औचित्य की चर्चा करते हुए क्षेमेन्द्र ने औचित्य के स्वरूप की चर्चा भी की है। यह निम्नावत है–

उचितम् प्राहुराचार्या सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उचितम् प्राहुराचार्या सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है, यत्किल यस्यानुरूपं तदुचित मुच्यते, तस्य भावमौचित्यं कथयन्ति।

अर्थात्– जो वस्तु निश्चयात्मक रूप से जिसके अनुरूप होती है, उसे ही उचित कहते हैं। उचित के भाव को ही आचार्य लोग औचित्य कहते हैं।

औचित्य के अभाव में गुण तथा अलंकारों से परिपूर्ण काव्य भी निर्जीव है। अतः उचित स्थान पर प्रयुक्त होने पर ही अलंकार अलंकृत करने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा नहीं।

क्षेमेन्द्र ने औचित्य को एक व्यापक तत्त्व माना है। जिस प्रकार प्राण शरीर के संपूर्णा अंगों में व्याप्त है, उसी प्रकार औचित्य भी काव्य के समस्त अंगों में व्याप्त होता है। यथा–

काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्य व्यापि जीवितम्।।

उन्होंने काव्य में औचित्य की स्थिति निम्नलिखित स्थानों में बताई है। ये स्थान २७ हैं, यथा–

१. पद २. वाक्य, ३. प्रबन्धार्थ ४. गुण, ५. अलंकार ६. रस, ७. किरण, ८. कारक, ६. लिंग १०. वचन, ११. विशेषण, १२. उपसर्ग, १३. निपात, १४. काल, १५. देश, १६. कुल, १७. व्रत, १८. तत्त्व, १६. सत्व २०. अभिप्राय, २१. स्वभाव, २२. सारसंग्रह, २३. प्रतिभा, २४. अवस्था, २५. विचार, २६. नाम तथा २७. आशीर्वाद।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

७

रीति के कतिपय रंग

डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

रीति शब्द की व्युत्पत्ति के संदर्भ में पाणिनि ने दो धातुओं का निर्देश किया है– (क) री (क्रयादि गण) तथा (ख) रीङ् (दिवादिगण)। री का अर्थ है गति एवम् रीङ् का श्रवण।

("री गतिरेब्णयोः रीङ् श्रवणो रीयते" भटटोजि दीक्षित सिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ ४८३ तथा पृष्ठ ४६६) हलायुध कोष के अनुसार "रीति" की व्युत्पत्ति री + क्तिच् या क्तिन् है। (जयशंकर जोशी– हलायुध पृष्ठ ५६७)। उभय प्रत्यय उत्तर कृदन्त के हैं और उनकी संज्ञा "कृत" है। (कृदतिङ् ३. १. ६३ सन्निहिते धात्वाधिकारे तिङ् भिन्नः प्रत्ययः कृत् संज्ञः स्यात्। भट्टोजि दीक्षित– सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ १०४)। कृत प्रत्यय धातु से संसक्त होते हैं जो अनेकार्थक संज्ञाओं की रचना में सहायक हैं। आशय यह कि "रीति" के दो अर्थ हैं। प्रथम, रिणत्यसाविति रीतिः– जो गतिशील हो। द्वितीय, "रीयते असाविति रीतिः"– जो सुनाई पड़ने वाली हो।

हिन्दी में "रीति" शब्द का आगमन संस्कृत से हुआ है। रीति शब्द अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद में "रीति" तीन सन्दर्भों में उपलब्ध होता है–

१. महीव रीतिः श्वसा सरत् पृथक्– सायण के अनुसार यहाँ रीति स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त है।

२. नद्येय रीति रक्षी इव– यहाँ रीति का अर्थ गति की क्षिप्रता है।

३. वृष्टि रीड्यो रीतिरयाम्– यहाँ रीति का अर्थ गमयिता या प्रेरक है। (देखिये ऋग्वेद क्रमशः २/२४/१४, २/३६/५ और ६/१३/१)

लौकिक संस्कृत में "रीति" शब्द के प्रथम प्रयोक्ता वामन हैं। (डॉ० नगेन्द्र– रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६२) वामन का समय ६वीं शती ई० माना गया है। वामन को रीति सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक भी स्वीकार किया गया है। (पी० वी० काने– आव् संस्कृत पोयटिक्स, पृ० १३५)

रीति शब्द का उपयोग समय-समय पर विविध अर्थों में होता रहा है। कोषकारों ने रीति शब्द के विविध अर्थ दिये हैं। अमरकोष में–

रीतिः स्त्रियागारकूटो नस्त्रियामय नाम्रकम्
शुल्वं म्लेचामुखं हृष्ट वरिष्ठो दुम्बराणिव

द्वितीय काण्डम्– वैश्यवर्ग :– ६।

अर्ति : पीडा धनुष्कोट्योः जातिः सामान्यजन्मनो।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रचारः स्यन्दयो रीतिः।

तृतीय काण्ड– नानार्थ वर्गः ३।

रमस में......

आरकूटोस्त्रियां दिव्यं रीति सा रीतिकोमलम्।

मेवश्वीकोश में.....

रीतिः प्रचारे स्यन्देन लोह किट्टारकूटणेः।

मेदिनी में....

रीतिः स्त्रियां स्यन्द प्रचारयोः। पित्तले लोहकिट्टे च। अर्थ दिये गये हैं।

हलायुध कोष में इन सभी अर्थों का उल्लेख है। (देखिये– जयशंकर जोशी, शकाब्द १८७६, पृष्ठ ५६७)। इनमें आरकूट, प्रचार, स्यन्द, पित्तल, लौहकूट तथा द्रव्य आयुर्वेद से सम्पृक्त हैं। इनके अलावा कतिपय अन्य आयुर्वेदिक प्रयोग भी कोषकारों ने दिये हैं यथा तापित सुवर्ण मल, काँसा, सीसा, लौह- मल, मण्डूर, रीति पुष्प तथा कुसुमज्जन।

गणेशदत्त शास्त्री ने पद्मचन्द्र कोष में इसका अर्थ प्रस्राव, बहना, गति, जाना, पित्तल, सीमा, स्वभाव, चाल, तरीका दिया है। साहित्यिक सन्दर्भ में रीति का अर्थ स्तुति, प्रशंसा, नियम, कायदा, ढंग, प्रकार, चलन, रिवाज, रस्म, प्रथा, परिपाटी, प्रणाली, प्रचार, पद्धति, रेखा, नदी, सोता, झरना, मार्ग एवम् पंथ मिलते हैं। (देखिये द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी– संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुम, श्याम सुन्दर दास-हिन्दी शब्द सागर, राम चन्द्र पाठक– भार्गव आदर्श हिन्दी शब्द कोष, कालिका प्रसाद– वृहत २००६ वि. हिन्दी कोष, डॉ. रसाल भाषा शब्द कोष, स्यार राजा राधा कान्त देव बहादुर– शब्द कल्पद्रुम (६६ वि.), जयशंकर जोशी हलायुध शब्द कोश और डॉ० धीरेन्द्र वर्मा– (हिन्दी साहित्य कोश)।

आचार्य वामन ने काव्यालंकार सूत्र वृत्ति (१.२.७) में रीति को "विशिष्ट पद रचना" कहा है। इस विशिष्ट सन्दर्भ में वामन ने रीति को प्रसाद, माधुर्य एवं ओज की गुणात्मकता से संसक्त किया है। इन गुणों को वामन ने पद रचना की आत्मा (विशेषोगुणात्मका, १. २. ८) कहा है। इसी प्रसंग में वामन ने गुण को भी परिभाषित किया है–

ये खलु शब्दार्थयो : धर्माः का व्यशोमां कुर्वन्ति ते गुणाः।

(अ० सू० वृ०, ३. १. १)

शब्द एवं अर्थ वे धर्म ही गुण हैं जिनसे काव्य की शोभावृद्धि होती है। रीति की यह व्याख्या उसे काव्य के अंतरंग से जोड़ती है– उसे काव्य की आत्मा के गौरवमय स्थान पर प्रतिष्ठित करती है (रीतिरात्मा काव्यस्य, १. २. ६)

वामन से पहले भरतमुनि ने रीति को प्रवृत्ति (नाट्य शास्त्र, श्लोक १३. ३२), भामह ने काव्य भेद (काव्यालंकार श्लोक ३१. ३६) और दण्डी ने वाणी के मार्ग (काव्यादर्श– १. ४०) के रूप में प्रस्तुत किया था। बाणभट्ट ने भरतमुनि की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रवृत्तियों (नाट्य शास्त्र, १३.३२) को भाषा सम्बन्धी निरूपण में विशेष विस्तार दिया है। बाणभट्ट ने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि उन्होंने कहा है कि उत्तरवासियों की भाषा श्लेष प्रधान, पश्चिमवासियों की अर्थ प्रधान, दक्षिण वालों की उत्प्रेक्षा प्रधान तथा गौड़ (पूर्व) की भाषा अक्षराडम्बर युक्त है। (हर्ष चरितम् की प्रस्तावना १. ७)।

भामह ने रीति को प्रच्छन्नतया मानकर काव्य के वैदर्भ एवं गौड़ दो भेद बताये हैं। भामह का रीतिगत यह निरूपण वामन से भिन्न है। भामह काव्य में गुणों की प्रासंगिकता पर बल देते हैं। (काव्यालंकार– १. ३२, ३३, ३४, ३५)। भामह के अनुसार गुण काव्य को शोभनीय बनाते हैं। दण्डी रीति को वाणी के मार्ग कहकर रीति की गम्भीरतर व्याख्या करते हैं, किन्तु वह रीति के संस्थापक आचार्य नहीं हैं कारण वह रीति शब्द का उपयोग नहीं करते।

वामन के परवर्ती आचार्यों में आनन्दवर्धन (८५० ई०) राजशेखर (६६० ई०), भोज (१०२५ ई०), कुन्तक (११०० ई०), मम्मट (११०० ई०) तथा विश्वनाथ (१४वीं शती ई०) प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने "विशिष्ट पद रचना रीतिः" विशिष्ट की अर्थवत्ता को अभिनव आयाम दिये। आनन्दवर्धन ने उसे सङ्घटन कहा– असमासा सामासेन मध्यमेन च भूषिता।

तथा दीर्घ समासेति क्रिया सङ्, घटनोदिता।।

–ध्वन्यालोक ३. ५)।

राजशेखर ने वचन विन्यास क्रम कहा–

तत्र वेष विन्यास क्रमः प्रवृत्तिः, विलास विन्यासक्रमो वृत्तिः, वचन विन्यास क्रमो रीतिः।

(काव्यमीमांसा– ३– काव्यपुरुषोत्पत्ति, पृष्ठ २१)

भोज ने रीड़ गत्यर्थक धातु, से निष्पन्न रीति को काव्यमार्ग कहा–

वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्य मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्या रीतिरूच्यते।

(सरस्वती कण्ठाभरण २. २०)

और कुन्तक ने इसे मार्ग कहा–

सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चो भयात्मकः।

(वक्रोक्ति जीवितम्, १. २४)।

कुन्तक ने कवि स्वभाव को रीति का आधार स्वीकार किया है– कवि स्वभाव भेद निबन्धनत्केन काव्य प्रस्थान भेदः समंजसतां गाहते।

(हिन्दी वक्रोक्तिजीवित। प्रथम उन्मेष पृ. १)

मम्मट ने नियत वर्णगत रसात्मक व्यापार को वृत्ति (रीति) कहा है–

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(काव्य प्रकाश सूत्र १०५ की वृत्ति)

विश्वनाथ ने पद संघटना को काया-संरचना की भाँति रस का उपकारक माना है–

पद संघटना रीतिरंग संस्था विशेषवत्
उपकर्त्री रसादीनां सापुनः स्याच्चतुर्विधा। (साहित्यदर्पण ६-१)।

अग्नि पुराण में रीति को वाग्विद्या का सम्यक् ज्ञान कराने वाली बताया गया है–

वाग्विद्यां संप्रतिज्ञाने रीतिः। (अध्याय– ३४०)।

वामन ने रीति सम्प्रदाय की संस्थापना की। भोज ने अपने विश्लेषण द्वारा उसे ऋृजुता और सुबोधता प्रदान की।

हिन्दी के रीतियुगीन आचार्यों ने रीति पर कोई नवतर दृष्टि नहीं दी। डॉ० नगेन्द्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में लिखा है कि "हिन्दी में रीति सिद्धान्त लोकप्रिय नहीं हुआ, वास्तव में रीतिवाद को हिन्दी साहित्य में कभी मान्यता नहीं मिली। यह एक विषमता ही है कि स्वयं रीति काल का ही दृष्टिकोण सिद्धान्त रूप में रीतिवादी नहीं रहा, व्यवहार की बात हम नहीं करते। हिन्दी में कोई भी ऐसा कवि अथवा आचार्य नहीं हुआ, जिसने रीति को काव्य की आत्मा माना हो। (भाग-२, पृष्ठ १३३)।

निष्कर्ष यह कि हिन्दी के आचार्यों ने संस्कृत की परम्परा को ही जिया।

हिन्दी में रीति का पुनराख्यान करने वाले आचार्य हैं– चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, देव तथा भिखारीदास। चिन्तामणि के अनुसार रीति का आशय संयुक्त काव्य का स्वभाव है। उनका कथन है कि काव्य एक पुरुष है और रस, अलंकार, गुण, रीति प्रभृति उसके अवयव हैं–

सबद अर्थ तनु जानिये जीवित रस जिय जानि।
अलंकार हारादि ते उपमादिक मन आनि।।
श्लेषादिक गुन सूरतादिक ते मानो चित्त।
बरनौ रीति सुभाव ज्यों वृत्ति-वृत्ति सीयित्त।
कविकुल कल्पतरू।

कुलपति मिश्र ने रीति की कोई अलग व्याख्या नहीं की। उन्होंने वृत्तियों का वर्णन करते हुये उपनागरिका, परुषा एवं कोमला को मधुर, ओज तथा प्रसाद गुण पर आधारित कहा है–

उपनागरिका मधुर गुन व्यंजक बरनन होय।
ओज प्रकाशक बरनतें, परुष कहिये सोय।
बरन प्रकाश प्रसाद को करै कोमला सोय।
तीन वृत्ति गुण भेद तें कहें बड़े कविलोय। (रसरहस्य)

वृत्तियाँ वृत्यनुप्रास में अन्तभुक्त हैं। इन्हें क्रमशः वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

रीतियाँ कहा गया है—

वैदर्भी गौड़ी कहत, पुनि पांचाली जानि।
इन्हीं सो कोऊ कवी, बरनत रीति बखानि। (रसरहस्य)

कहना न होगा कि चिन्तामणि तथा कुलपति ने मम्मट द्वारा निरूपित रीति पद्धति के आधार पर वृत्ति को रीति कहा।

कविवर देव ने काव्य-विग्रह की गति-विधि को रीति कहा तथा उसके द्वादश भेद प्रस्तुत किये—

शब्द जीव तेहि अर्थ मनु काव्य सुसरत सरीर
चलत रीति सो छन्द गति अलंकार गम्भीर
ताते पहिले बरनिये काव्य द्वार रस रीति

(जानकी नाथ सिंह देव "मनोज"— शब्द रसायन पृ. ७२-७३) देव अपनी वैचारिकता में दण्डी के अनुगमनकर्ता हैं। रीति के द्वादश भेदों में १० गुणों से सम्पृक्त हैं, जिनमें ७ दण्डी से ग्रहण किये गये हैं। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, ओज, ओज- व्यक्ति में समाधि, कान्ति और उदारता को जोड़कर देव ने १० भेद और अनुप्रास तथा यमक (अलंकारों) को मिलाकर भेदों की परिकल्पना की। भेदों का यह आयास मात्र सामग्री संचयन है। इस प्रदेय में नव्यता नहीं है। फिर, नागर तथा ग्राम्य आधार पर रीति को परिभाषित करने की प्रक्रिया में देव लड़खड़ा गये हैं, कारण नागरत्व गुणात्मक है और ग्राम्यत्व रसात्मक—

दसौ रीति ये द्वै द्विविध नागर अरू ग्रामीन।
नागर गुन-आगर दुतिय रस सागर रूचि हीन।।

शब्द रसायन— पृ. ७३।

देव के समूचे प्रयत्न में रीति की छवि धूमिल ही रही।

भिखारी दास मम्मट के पथ पर चले। उन्होंने रीति एवम् वृत्ति को प्रायः अद्वय ही माना। फलतः उनका रीति चिन्तन वृत्ति तक ही सीमित रहा।

आधुनिक युग में पंडित रामदहि मिश्र ने रीति को समझने-परखने का उपक्रम किया है। काव्य-दर्पण में रीति को परिभाषित करते हुये मिश्रजी ने लिखा है— "शब्दार्थ शरीर काव्य के आत्मभूत प्रसाद का उपकार करने, प्रभाव बढ़ाने वाली पदों की जो विशिष्ट रचना है, उसे रीति कहते हैं— (पृ. ४११)। रीति की यह व्याख्या साहित्य दर्पण में प्रस्तुत आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा से प्रेरित है (६ परि०, १२ श्लोक)

योगफल यह कि वामन की रीतिरात्मा काव्यस्य परिभाषा "विशिष्ट पद रचना रीतिः" मानने वालों से ताल-मेल नहीं रखती क्योंकि रीति का सम्बन्ध काव्य के बाह्य रूप से सम्पृक्त होता है अन्तरंग से नहीं।

रीति के अर्थों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) व्यावहारिक और (२) साहित्यिक ।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

व्यावहारिक अर्थ है– स्वभाव, ढंग, ढब, चाल-चलन, प्रकार, प्रथा, रस्म, रिवाज आदि।

साहित्यिक अर्थ है– विधि, परिपाटी, प्रणाली, पद्धति, मार्ग, पन्थ इत्यादि।

संस्कृत में रीति के लिये प्रयुक्त पर्याय हैं–

१. सुन्दर पद रचना (विशिष्ट पद रचना रीति : – वामन)
२. पद संघटना (संघटनोदिता- आनन्दवर्धन)
३. वचन-विन्यास क्रम या शैली (वचन विन्यास क्रमो रीतिः राजशेखर)
४. कविमार्ग (भोजराज)
५. कवि प्रस्थान हेतु (कुन्तक)
६. काव्य पुरुष का स्वभाव (चिन्तामणि)
७. प्रवृत्ति (भरत)
८. वृत्ति (मम्मट)

इनमें चार शब्द समानार्थी जैसे हैं– रीति, प्रवृत्ति, वृत्ति एवम् शैली। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट मूल्य होता है और सामान्यतः कोई भी दो शब्द एकदम एक ही अर्थ व्यंजित नहीं करते। उनमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है– "पृथिव्यां नानादेशवेश भाषा चारवार्ता ख्यायतीति प्रवृत्तिः (१३-३२) । वामन ने "विशिष्ट पद रचना रीतिः" कहकर रीति को भाषा से जोड़ा है जिसकी सीमा पद योजना तक है। मम्मट ने काव्य प्रकाश में लिखा है– "वृत्तिनिर्यत वर्णगतो रसविषयोः व्यापारः (९-१०५ सूत्रवृत्ति)। वैसे चारों शब्दों में प्रवृत्ति की व्याप्ति अपेक्षया अधिक है कारण यह कि प्रवृत्ति व्यक्ति के जीवन, देश, काल सबसे संसक्त है। आलोचक प्रवर डॉ० नगेन्द्र ने रीति-प्रवृत्ति की सीमा रेखा केवल भाषा तक मानी है। (भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग-२, पृ. ५०। वृत्ति को उन्होंने भाषा का एक अंग कहा है। आचार्य मम्मट ने रीति तथा वृत्ति को अद्वय माना है (एतास्तिस्त्रो वृत्तयः कामनादीनां मते वैदर्भी गौड़ी पांचाल्याख्या हीतयो मताः– काव्य प्रकाश ९/११)

आनन्दवर्धन के मतानुसार "व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यतो (ध्वन्यालोक इउद्योत्ता, कारिका ३३)। मम्मट ने शब्द वृत्तियों को ही रीति बताया है। इस प्रकार, मम्मट आनन्दवर्धन से पृथक मत प्रतिपादित करते हैं।

व्यवहार एवं व्यापार को वृत्ति मान लेने पर वृत्ति तथा रीति अद्वय होते। पर ऐसा संभव नहीं। कारण, वृत्तियों के दो रूप मिलते हैं। एक नाट्यगत है और दूसरा काव्यगत। भरतमुनि के अनुसार भारती, सात्वकी, कैशिकी एवम् आरभटी– चार वृत्तियाँ हैं (नाट्यशास्त्र, १६-४३)। काव्यवृत्तियाँ हैं– उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। काव्यपरक वृत्तियाँ रीति से सम्पृक्त तो हैं किन्तु बहिरंग स्तर पर। आधुनिक काल में डॉ० नगेन्द्र ने रीति एवं वृत्ति का विवेचन-विश्लेषण सूक्ष्मता से किया है। देखिये–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, भाग २, पृ० ५२)। वृत्ति का अस्तित्व नितान्त स्वतन्त्र है। वृत्ति वस्तुतः वर्ण योजना है जो रीति का बाह्य कलेवर है।

रीति तथा शैली में थोड़ी समानता अवश्य लक्षित होती है। शैली व्यक्ति के शील से जुड़ी होती है। दूसरे शब्दों में, शैली व्यक्तिगत है। शील, स्वभाव की गुणात्मकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि स्वभाव जनित अभिव्यंजना विधि शैली है। स्वभाव का मूलभूत काम है व्यक्ति को प्रभावित कर विचार के रूप में परिणत हो जाना। इसीलिये वैचारिक अभिव्यक्ति की किस्म को शैली कहा गया है।

विचार व्यक्तिनिष्ठ पदार्थ है। शैली वैचारिक परिधान है, जो व्यक्ति के अभिव्यंजना शिल्प से संसक्त है। रीति में व्यक्ति तत्त्व परिसीमित है। शैली में वस्तु एवम् व्यक्ति, उभय पक्षों का समन्वय है। रीति और शैली में साम्य व्यक्तिगत-व्यंजना-विधि में है। अन्यथा दोनों काफी कुछ अलग हैं। डॉ. सुशील कुमार डे के शब्दों में यह ध्यान दिया जाना चाहिये कि रीति शब्द जिसके द्वारा अंग्रेजी के "स्टाइल" शब्द को अभिव्यक्त किया जाता है कठिनाई से उसका समानार्थी है, किन्तु जिसमें कि स्पष्ट व्यक्तिगत मूल्यन होता है। परन्तु साथ ही शैली (स्टाइल) की भाँति रीति काव्यात्मक वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य आलोचना में साधारणतया समझा जाता है, वरन् यह केवल इसके सौंदर्य की बहिरंग प्रस्तुति है जो कि कमोवेश नियत साहित्यिक उत्कर्ष का सुव्यवस्थित संयोजन है। (हिस्ट्री आव् पोयटिक्स, भाग-२, पृ. ६२)।

निष्कर्षतः, शैली व्यक्ति से उसके श्रेष्ठ व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। रीति व्यक्ति से सीमित संदर्भ में ही सम्पृक्त है।

रीति विषयक अवधारणा के प्रवर्त्तन का श्रेय आचार्य वामन को रहा है, जिन्होंने शब्द एवम् अर्थगत काव्यसौन्दर्य– सम्वर्द्धक धर्मों से युक्त पदों की रचना को रीति कहा था। वामन के परवर्ती आचार्यों ने वामन की रीति विषयक धारणा को सम्मान दिया। फलतः वामन द्वारा कथित रीति की आख्या परिभाषा के रूप में स्वीकृत रही। रीति के विशिष्ट अर्थ के रूप में कवि मार्ग, कवि-प्रस्थान हेतु, वचन-विन्यास-क्रम, काव्य-पद्धति इत्यादि चलते रहे, जो विशिष्ट पद रचना रीतिः विशेषों गुणात्मा, रीतिरात्मा काव्यस्य के लक्ष्यार्थ-व्यंग्यार्थ हैं।

हिन्दी साहित्य कोष में रीति का अर्थ है साहित्य में वर्णों की वह योजना जिसमें ओज, प्रसाद एवम् माधुर्य गुण सम्मिलित हैं। कुछेक आचार्यों ने रीति काव्य के सन्दर्भ में इसका विशेष अर्थ काव्य-पुरुष का स्वभाव बताया है। हिन्दी साहित्य के रीतियुग में रीति का अर्थ एकदम बदल गया। यहाँ रीति का आशय काव्य लक्षणों को देकर अथवा उन्हें ध्यान में रखकर लिखे गये काव्य से है।

हिन्दी के आचार्य विश्वनाथ महापात्र से प्रभावित हुये। उन्होंने विश्वनाथ के द्वारा प्रतिपादित रीति के मूलभूत तत्त्व– वर्ण विन्यास तथा शब्द गुम्फ को बाह्य तत्त्व के रूप में लक्षित किया। अर्थालंकार तथा दोषाभाव को अंतरंग तत्त्व माना। हिन्दी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आचार्यों ने रीति को रस का साधक स्वीकार किया। सच तो यह है कि रीतिकाल में रीति को गम्भीरतापूर्वक समझने का उपक्रम ही नहीं हुआ। इसीलिये रीति रस व्यंजना तक ही सिमट कर रहा गया।

रीति युग के प्रवर्तक आचार्य कवि चिन्तामणि त्रिपाठी ने रीति को काव्य का स्वभाव समझा। तात्पर्य यह कि जैसे व्यक्ति के स्वभाव में सहज गुण मूल तत्त्व हैं, वैसे ही वर्णन के गुण रस व्यंजना के साधन रीति के गुण हैं। चिन्तामणि की इस परिकल्पना में नवीनता थी। इस उत्पाद्यता का आधार काव्य के अन्तरंग दर्शन पर आधृत था। यह कल्पना अन्य आचार्यों द्वारा अनुमोदन न पाने के कारण विकसित नहीं।

चिन्तामणि त्रिपाठी पर काव्य प्रकाशकार का प्रभाव था। चिन्तामणि ने मम्मट की भाँति रीति एवम् वृत्ति को अद्वय माना था। चिन्तामणि के उपरान्त रीति पथ का परित्याग कर दिया गया। चिन्तामणि के उत्तरवर्त्ती कवि काव्यानन्द की परिधि में कवि कर्म करते रहे। इस प्रकार, रीति तत्त्वों के निरूपण का अन्तिम उच्च शिखर आचार्य विश्वनाथ द्वारा स्पष्ट किया जा सका और उसे रीति-विवेचन का अन्तिम कीर्तिमान कहना चाहिये।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

८

शब्द शक्ति और उसके विविध रूप

कभी मानव हृदय किसी के दुख को देखकर कातर हो उठता है तो कभी किसी सुखद क्षण में उसकी आत्मा भाव-विभोर हो उठती है, उसका मन-मयूर झूम-झूमकर नर्तन करने लगता है। इस प्रकार जब मानव-मन भावतिरेक से उद्वेलित हो उठता है, तब वे भावनाएँ उसके अन्तस् में समा नहीं पातीं, भावनाओं की तरंगें बड़े वेग से उठने लगती हैं, बरसाती उफनती नदी की धारा की भाँति वे तट को तोड़कर सीमा को लाँघकर सुदूर कहीं बह जाना चाहती हैं। रस में आकण्ठ निमग्न कवि की भावनाएँ स्वच्छ गति से, रसात्मयकता से अभिभूत हो रमणीय शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हो जाती हैं, यही काव्य है।

वस्तु के बाह्य आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचे बिना काव्य की सृष्टि संभव ही नहीं है। वर्ण्यवस्तु के अन्तस् में कवि गहरे पैठ जाता है, उसके सुख-दुख से तादात्म्य स्थापित कर लेता है यही साधारणीकरण है और दुखातिरेक अथवा हर्षातिरेक से अभिभूत होकर कवि जिस रूप में अपनी भावनाएँ व्यक्त करता है, वही काव्य है। उसकी भाव धाराएँ काव्य की निर्झरिणी के रूप में बहकर, अपनी कल-कल, छल-छल ध्वनि से पाठक के मन को आप्लावित कर देती हैं और पाठक भी रसाभिभूत हुए बिना नहीं रह पाता। यही सरसता काव्य की आत्मा है।

काव्य के दो आधार स्तंभ हैं– (१) दर्शन (२) वर्णन। इन्हीं के पूर्ण होने पर ही सत्काव्य का उन्मेष होता है। महर्षि वाल्मीकि वस्तुतः तत्त्वों के दृष्टा थे। न जाने कितनी बार भावों ने उनके हृदय को आप्लावित किया होगा, किन्तु कवि की संज्ञा, उन्हें तभी प्राप्त हुई, जब क्रौंच पक्षी की करुण चीत्कार उनके हृदय को भीतर तक कहीं बींध गई और उनका आन्तरिक शोक हृदय की सीमाओं को तोड़कर बाहर छलक पड़ा और उनके मुख से ये उद्‌गार निकल पड़े–

मा निषाद ! प्रतिष्ठामगय : शाश्वेती : समा।
यत्क्रौञ्चमिथुना देकमवधी : काम-मोहितम्।

उनका शोक श्लोकत्व को प्राप्त हो गया और यही से काव्य की अविरल धारा बह चली और वाल्मीकि आदि कवि हो गये।

पंडितराज जगन्नाथ ने शब्दों की रमणीयार्थ प्रतिपादकता पर मुग्ध होकर ही कहा है– "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" शब्द काव्य का शरीर है और अर्थ उसके प्राण हैं, अतः अनेक आचार्यों ने "शब्दार्थौ काव्यम्" कहा है।

शब्दों में ही रसाभिव्यक्ति की अद्‌भुत क्षमता है। यही शब्द की शक्ति कही

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

जाती है। शब्दों द्वारा अर्थात् वाचक लक्षक और व्यंजक शब्दों द्वारा व्यक्त अर्थ तीन प्रकार के होते हैं– अभिधेय अथवा वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। ये अर्थ शब्द की क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शक्तियों से प्रकट होते हैं। व्यंग्य ही ध्वनि है। इन तीनों शक्तियों को हम गंगा, यमुना और सरस्वती कह सकते हैं। इन नदियों में गंगा का प्राधान्य है, उसकी महत्ता और विस्तार सर्वविदित है। ऐसी ही अभिधा है। अभिधा ही सर्वप्रथम अपना व्यापार करती है। इससे कोई शब्द नहीं बचा। जैसे यमुना आकर गंगा में मिल जाती है, उसी प्रकार लक्षणा का भी आधार अमिधा ही है। अभिधा के बिना लक्षणा का अस्तित्व असंभव है। व्यंजना प्रच्छन्न है, जैसे सरस्वती। अभिधा और लक्षणा दोनों व्यंजना के मूल हैं। इन तीनों के संगम से जैसे प्रयाग में त्रिवेणी बनती है, ठीक उसी तरह इन तीनों के संगम से काव्यधारा प्रस्फुटित होती है।

शब्द और अर्थ की समष्टि ही काव्य है। इसे ही स्पष्ट करने के लिये शब्द के स्वरूप का परिचय कराते हुए मम्मट ने तीन प्रकार के शब्द माने हैं– (१) वाचक (२) लक्षक (३) व्यंजक

'स्याद्वाचको लाक्षणिक शब्दोऽत्र व्यंजक स्त्रिधा'

का. प्र. द्वि. ३०/५

इन पर आधारित अर्थ भी तीन प्रकार के हैं–

''वाच्यादयस्तदर्था : स्यु :।'

का० प्र० २/६

इन तीन प्रकार के शब्दों से तीन प्रकार के अर्थों की प्रतीति जिन शब्द व्यापारों द्वारा होती है, वही अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द शक्तियाँ हैं। काव्य संबंधी तत्त्व-चिन्तन में शब्द शक्तियों का अप्रतिम स्थान है। जहाँ कहीं भी शब्द तत्त्व और अर्थ तत्त्व की विवेचना हुई है, वहाँ शक्ति विवेचन भी अनिवार्य रूप से हुआ है।

अभिधा

अभिधा की परिभाषा करने से पूर्व अर्थबोध की प्रणाली को समझना आवश्यक है। सामान्यतः शब्द और अर्थ में तादत्म्य प्रत्यय हो चलता है अर्थात् गो शब्द और गो पदार्थ में एक प्रकार का अभेद स्थापित हो जाता है। इस आरोपित अभेद को संकेत कहते हैं।

संकेतस्तु पद पदार्थ योः इतरेतराध्यास रूप : स्मृत्यात्मकः
योऽयं शब्दः सौऽर्थों योऽर्थः स शब्दः इति

महाभाष्य वैया० सि० लघुमञ्जूषा पृष्ठ २५

बार-बार 'गां आनय', 'गां बधान', गां दोग्धि', 'गां नय' इत्यादि वाक्यों को सुनकर और कार्य करते देखकर बालक यह समझ लेता है कि गाय (विभिन्न वाक्यों में प्रयुक्त) एक ही है और क्रियायें भिन्न-भिन्न हैं। तब वह गाय शब्द और गाय अर्थ

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

में (सारभायुक्त, चार पादों वाला पशु) एकत्व स्थापित कर लेता है। यही संकेत-ज्ञान शब्द-बोध का कारण है। संकेत ही शब्द और अर्थ के उस संबंध का नियामक है जिससे शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्य कहते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार शब्द के साथ एक अनादि इच्छा-शक्ति जुड़ी रहती है। "अमुक शब्द से अमुक अर्थ का बोध हो" यही इच्छा संकेत है। पद ज्ञान के साथ संकेत ज्ञान होने पर ही अर्थज्ञान होता है, दूसरे शब्दों में संकेतित अर्थ ही वाच्य है और संकेतित अर्थ का बोधक शब्द व्यापार अभिधा है।

अभिधा की परिभाषा

साक्षात् संकेतित अर्थ के बोधक व्यापार को अभिधा कहते हैं अथवा मुख्य अर्थ की बोधिका शब्द की प्रथमा शक्ति का नाम अभिधा है।

'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।'

साहित्य-दर्पण

मम्मट ने वाचक शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—

"साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते सः वाचक : "

का० प्र० २/७

अर्थात् जो शब्द साक्षात् संकेतित अर्थ को अभिधा शक्ति द्वारा कहता है वह वाचक शब्द है।

एक ही शब्द वाचक भी हो सकता है, लक्षक भी और व्यंजक भी। जैसे—

(१) गृहे दीपक : ज्वलति।

(२) बालोऽयं गृहस्य दीपकः।

इन दोनों वाक्यों में पहले वाक्य में दीपक स्वार्थ का वाचक मात्र है, किन्तु द्वितीय में वही शब्द लाक्षणिक है।

इन तीनों शक्तियों में अभिधा ही सर्वोपरि है इसी से इसे मुख्या या अग्रिमा भी कहते हैं। लक्षणा से तो इसका सीधा संबंध है। मुख्यार्थ से असंबद्ध होने पर ही लक्षणा से हम उससे जुड़ा दूसरा अर्थ लेते हैं। अभिधा ही व्यंजना का भी मूल है। जब लक्षणा से प्रकरण सापेक्ष अर्थ उपलब्ध नहीं होता तब इसी अभिधा के बल पर व्यंजना अभिप्रेत अर्थ व्यंजित करती है।

जिस प्रकार कोई धनुर्धर अल्प शक्ति वाला होता है तो उसका बाण लक्ष्य तक पहुँचकर केवल वर्मच्छेद ही करता है, दूसरा धनुर्धर अधिक शक्ति से बाण मारता है और वर्मच्छेद के साथ मर्म विदारण भी कर देता है। तीसरा और अधिक शक्ति से बाण चलाता है तो उपर्युक्त दोनों क्रियाओं के साथ प्राणहरण भी कर लेता है। इसी प्रकार शब्द प्रयोक्ता के शब्द की शक्ति उत्तरोत्तर चमत्कारपूर्ण अर्थ देती है, जो क्रमशः अभिधा लक्षणा, और व्यंजना द्वारा अभिव्यक्त होता है।

अभिधा के भेद

अभिधा को शक्ति या वाचकत्व भी कहते हैं। इसके चार भेद हैं—

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभिधा

रूढ़ि | योगशक्ति | योगरूढ़ि | यौगिक रूढ़ि

(१) रूढ़ि :- प्रकृति प्रत्यय आदि विभाग से रहित शब्द जो अर्थ देता है, उस अर्थ और उस शब्द को रूढ़ कहते हैं, और उनके संबंध रूप में आने वाली अभिधा रूढ़ि कहलाती है। उदा० ताला, कुंजी, कलम आदि रूढ़ शब्द हैं। ये जो रूढ़ अर्थ देते हैं वहाँ अभिधा रूढ़ि होती है। लड़ाकू, पिछलग्गू, पढ़िताऊ आदि शब्दों के सवयव अर्थ देते हैं, अतः यहाँ रूढ़ि शक्ति नहीं है। काव्य में अभिधा शक्ति का उपयोग तभी चमत्कारी होता है, जब लक्षणा के माध्यम से किसी विशेष अर्थ की व्यंजना होती है।

सीताहरन तात़ जनि कहेहु पिता सन जाई।
जो हौं राम त कुल सहित कहिहि दसानन् आई।

—मानस

इस उदा० में राम शब्द रूढ़ है, जिसके प्रसिद्ध वीर पुरुष लक्षणा है और वीरता का अतिशय व्यंग्य है।

रूढ़ शब्द वह हैं जिसकी व्युत्पत्ति नहीं होती। रूढ़ शब्द के प्रकृति प्रत्यय रूप अवयवों का या तो कुछ अर्थ ही नहीं होता या होने पर भी संगत प्रतीत नहीं होता। शब्द कल्पद्रुम में कहा गया है—

प्रकृतिप्रत्ययार्थमनपेक्ष्य शाब्दबोधजनक : शब्दः रूढ़ः
जैसे मणि, नूपुर या मण्डप आदि।

मणि शब्द में प्रकृति प्रत्यय की निराधार कल्पना हो सकती है, जो नहीं के बराबर है। 'मण्डप' शब्द की व्युत्पत्ति हम 'मण्डं पिबति' यह कर सकते हैं पर कोई मण्डप (माँड) पीता हुआ नहीं देखा गया। इससे रूढ़ि में अखण्ड शक्ति से अर्थ प्रतिपादन तथा प्रकृति प्रत्ययार्थ की अनपेक्षा ही प्रधान है—

अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढ़ि :।

वृत्तिवार्तिक

(२) योगशक्ति :- जहाँ शब्द के अवयवों की सार्थकता से पूरा शब्द अर्थ देता है, वहाँ अभिधा योगशक्ति कही जाती है। ऐसे शब्द और अर्थ यौगिक कहलाते हैं। वृत्ति वार्तिक में कहा गया है—

अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।

जैसे पाचक और भूपति। पाचक में पच् का अर्थ पकाना और अक प्रत्यय का अर्थ करने वाला होता है। दोनों का सम्मिलित अर्थ पकाने वाला होता है। 'भूपति' में भू का अर्थ पृथ्वी और पति का अर्थ मालिक है पर दोनों का सम्मिलित अर्थ राजा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

या जमींदार है। काव्य में इनकी चमत्कारी उपादेयता तभी होती है, जब उनसे अन्य अर्थ की व्यंजना हो। जैसे–

राजकुमारि सिखावनु सुनहु-मानस

यहाँ राजकुमारी पद, यौगिक है, जिससे आभिजात्य के साथ-साथ उत्तम बुद्धि आदि की व्यंजना होती है।

(३) योगरूढ़ि :- जिसमें योगशक्ति और रूढ़ि का सम्मिश्रण हो वह योगरूढ़ि कहलाता है–

अवयवसमुदायोभयशक्ति सापेक्ष मे कार्थ प्रतिपादकत्वं योगरूढ़िः। वृत्ति वार्तिक– अप्पयदीक्षित शब्द अपनी रचना में यौगिक होकर भी अर्थ की दृष्टि से रूढ़ हो जाता है। वहाँ 'रूढ़ि' द्वारा 'योगशक्ति' पर इस प्रकार आवरण पड़ जाता है कि रूढ़ अर्थ ही वाच्य बन जाता है। रूढ़ि एक प्रकार की लोकप्रसिद्धि है। पंकज शब्द ऐसा ही योगरूढ़ शब्द है जो सभी पदार्थों का, (जो कीचड़ में पैदा हों,) बोध नहीं कराता प्रत्युत केवल कमल का ही बोध कराता है। सरोज़, शंकर, चक्रपाणि, महादेव शब्द भी ऐसे ही हैं।

(४) यौगिक रूढ़ि :- जो शब्द कहीं केवल यौगिक अर्थ को लेकर प्रयुक्त होता है और कहीं, यौगिक अर्थ ही कुछ भी संगति न रहने पर केवल रूढ़ि से प्रयुक्त होता हो, वह यौगिक रूढ़ि है। उद्भिद् शब्द को ही लीजिये। इस शब्द से उद्भेदन कारी पेड़ पौधों का भी बोध होता है, यज्ञ विशेष का भी और सींग का भी।

उद्यिदा यजेत पशुकायः– न्यायमा मा

(माधवाचार्य)

इसी प्रकार 'अश्वगंधा' घुड़साल को भी कहते हैं और औषधिविशेष (असगंध) को भी। यह शब्द वाजिशाला के अर्थ में यौगिक है और असगंध के अर्थ में रूढ़।

इस शब्द शक्ति को प्रायः योगरूढ़ि में ही गिना जाता है। किन्तु, दोनों में इतना अन्तर अवश्य है कि योगरूढ़ि में शब्द का यौगिक अर्थ प्रचलन में नहीं आता किन्तु यौगिक रूढ़ में रूढ़ और यौगिक दोनों अर्थ प्रचलन में रहते हैं। जैसे, 'गोपाल' कृष्ण के अर्थ में रूढ़ हो गया है फिर भी गायों को पालने वाले का अर्थ यौगिक रूप में देता है और यह प्रचलित भी है।

लक्षणा

जिस शब्द से मुख्यार्थ से भिन्न, लक्षणा शक्ति द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है उसे लक्षक या लाक्षणिक शब्द और उसके अर्थ को लक्ष्यार्थ कहते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य-प्रकाश में लक्षणा का लक्षण इस प्रकार दिया है–

मुख्यार्थ बाधे तद्योगे रूढ़ितोऽथ प्रयोजनात्
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया।

सर्वप्रथम अभिधा शक्ति ही अपने अर्थ याने वाच्यार्थ का बोध कराती है, किन्तु जहाँ कहीं मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वय होने में बाधा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होती है अथवा उससे तात्पर्य की उपपत्ति नहीं होती, वहाँ रूढ़ि अर्थात् प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिये मुख्यार्थ से संबद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। उस अन्य अर्थ को लक्ष्यार्थ और उसकी बोधिका शक्ति को लक्षणा शक्ति कहा जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में लक्षणा को इस प्रकार परिभाषित किया है–

मुख्यार्थ बाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढ़े : प्रयोजनाद्वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता।।

लक्षणा द्वारा भिन्न अर्थ लेने में जो प्रक्रिया काम करती है, उसे लक्षणा बीज कहते हैं। ये लक्षणा बीज तीन होते हैं अर्थात् लक्षणा ३ बातों पर आधारित होती है–

(१) मुख्यार्थ-बाध (२) मुख्यार्थ योग (३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन। मुख्यार्थ से योग या संबंध होने के कारण लक्षणा को अभिधापुच्छभूता और उपर्युक्त ३ बातों के रहने के कारण उसे त्रिस्कन्धा भी कहते हैं।

(१) मुख्यार्थ-बाध :- जब हम वाच्यार्थ लेते हैं तो तात्पर्य में बाधा या असंगति आती है अर्थात् वक्ता जिस आशय को प्रकट करना चाहता हो यदि वह मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से प्रकट न होता हो तो मुख्यार्थ की बाधा होती है। जैसे यदि हम किसी से कहें कि "तू गधा है" तो इस वाक्य में पशु रूप गधे के मुख्यार्थ की बाधा है। गधे का वाच्यार्थ चार पैर, २ कान, १ पूँछ वाला पशु है और यह अर्थ मनुष्य के साथ संगत नहीं होता याने मनुष्य लंबे कान और पूँछवाला पशु नहीं हो सकता।

(२) मुख्यार्थ-योग :- वाच्यार्थ से तात्पर्य की संगति लाने हेतु ऐसा दूसरा अर्थ लिया जाता है, जिसके साथ वाच्य अर्थ का संबंध होता है। उस अन्य अर्थ का मुख्यार्थ या वाच्यार्थ से कुछ संबंध या योग होता है; इसे ही मुख्यार्थ योग कहते हैं, जैसे उपर्युक्त उदा० में गधे का पशुरूप अर्थ असंगत होने के कारण हम उससे संबंधित बुद्धूपन या बेवकूफी का अर्थ ग्रहण करते हैं, यही मुख्यार्थ योग है। 'कर्मणि कुशलः' वाक्य में कुशल का अर्थ, 'कुश लाति इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति से कुश लाने वाला होता है, किन्तु उपर्युक्त वाक्य में इससे तात्पर्य की सिद्धि नहीं होती। अतः हम उससे संबंधित चतुर, प्रवीण अर्थ लेते हैं क्योंकि कुश बड़े तीक्ष्ण होते हैं और उन्हें तोड़ने में चतुरता या प्रवीणता की नितान्त आवश्यकता होती है। 'गंगायां घोषः' इस वाक्य में भी गंगा का प्रवाह रूप अर्थ असंगत होने के कारण हम उससे संबंध रखने वाला 'तट' रूप अर्थ लेते हैं। यही मुख्यार्थ– योग है।

(३) रूढ़ि अथवा प्रयोजन :- वाच्यार्थ से भिन्न दूसरा अर्थ लेकर तात्पर्य संगति करने में या तो लोक-प्रसिद्धि (रूढ़ि) कारण होती है या फिर वक्ता किसी विशेष प्रयोजन वश वैसा लाक्षणिक प्रयोग करता है। रूढ़ि का अर्थ है प्रयोग प्रवाह अर्थात् किसी बात को बहुत दिनों से किसी विशिष्ट रूप में कहने की प्रसिद्धि या प्रचलन। जैसे बेवकूफ को गधा कहना एक प्रकार की रूढ़ि है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रयोजन का तात्पर्य है 'फलविशेष' अर्थात् किसी अभिप्राय-विशेष को सूचित करना जो बिना लक्षणा का आश्रय लिये प्रकट नहीं होता। जैसे–

मेरा घोड़ा गरुड़ का बाप है। यहाँ घोड़े को गरुड़ का बाप कहना उसकी तेजी बतलाने के लिये ही है। अन्यथा ऐसा वाक्य प्रलाप मात्र ही समझा जायेगा। इस वाक्य में जो लक्षणा है, उसका एक विशिष्ट प्रयोजन है और वह है– उस घोड़े की तेजी औरों से अधिक बतलायी जा सके।

लक्षणा के भेद

लक्षणा पर विभिन्न शास्त्रों में विस्तृत विचार हुआ है। लक्षणा को कई प्रकार से अनेक वर्गों में विभाजित किया गया है–

(क) रूढ़ि अथवा प्रयोजन की दृष्टि से–

(१) रूढ़ा (२) प्रयोजनवती

(ख) मुख्यार्थ संबंध की दृष्टि से–

(१) शुद्धा लक्षणा– जिसमें सादृश्य से भिन्न संबंध लक्षणा बीज हो।

(२) गौणी लक्षणा– जिसमें सादृश्य संबंध बीज हो।

(ग) मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के तादात्म्य की दृष्टि से–

(१) सारोपा (२) साध्यवसाना

(घ) लक्ष्यार्थ के वृत्त में मुख्यार्थ के ग्रहण और अग्रहण की दृष्टि से–

(१) उपादान लक्षणा या अजहल्लक्षणा

(२) लक्षण लक्षणा या जहल्लक्षणा

(३) जहदजहल्लक्षणा

(ङ) व्यंग्यार्थ की दृष्टि से–

(१) अव्यङ्ग्या (२) गूढ़ व्यंग्या (३) अगूढ़ व्यंग्या

सर्वप्रथम लक्षणा के रूढ़ि और प्रयोजनवती ये दो भेद किये गये हैं। प्रयोजनवती लक्षणा के शुद्धा और गौणी ये दो भेद दिये गये हैं। मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में लक्षणा के छह भेद दिखलाये हैं–

लक्षणा तेन षड्विधा।

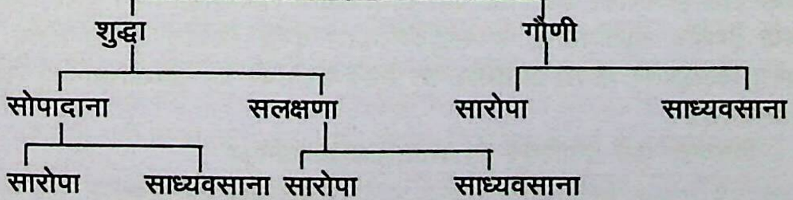

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मम्मट उपाचार को ही शुद्धा और गौणी का भेदक धर्म मानते हैं। उपचार से रहित लक्षणा 'शुद्धा' और उपचार से युक्त लक्षणा गौणी कही जाती है। उपचार का लक्षण "उपचारोहि नाम अन्यन्त विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशय महिम्ना भेद प्रतीतिरथगनमावम्" यह किया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यंत भिन्न पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना उपचार कहलाता है। जैसे किसी बालक में शौर्य क्रौर्य आदि के अतिशय सादृश्य के कारण 'सिंहो माणवकः आदि प्रयोग उपचार मूलक होते हैं; इसलिये गौण प्रयोग कहे जाते हैं। इनमें गौणी लक्षणा होती है। जहाँ सादृश्य से भिन्न सामीप्य आदि कोई अन्य संबंध लक्षणा का प्रयोजक होता है, वहाँ शुद्धा लक्षण होती है।

वाक्य में प्रयुक्त किसी पद का अपने अन्वय की सिद्धि के लिये अन्य अर्थ का आक्षेप करना उपादान और दूसरे के अन्वय की सिद्धि के लिये अपने मुख्य अर्थ का परित्याग लक्षण कहलाता है। इस प्रकार उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा ये दो भेद शुद्धा लक्षणा के ही हैं। गौणी में ये भेद नहीं होते।

(१) शुद्धा सारोपा उपादान लक्षणा

जहाँ मुख्यार्थ को देने वाला पद और उससे संबंधित भिन्न अर्थ को देने वाला शब्द, इन दोनों का ही अस्तित्व हो, वहाँ शुद्धा सारोपा उपादान, लक्षण होती है। जैसे— 'कुन्ताः पुरुषाः प्रविशन्ति' 'इस वाक्य में कुन्तधारी अर्थ को देने वाला पद 'कुन्त' (विषयी) और व्यक्ति अर्थ को देने वाला पद : 'पुरुष' (विषय) ये दोनों ही विद्यमान हैं। जिस लक्षणा में आरोप हो अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा कहते हैं—

सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

का० प्र० २/१४

(२) शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा

'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस वाक्य में कुन्त पद के द्वारा अपने अचेतन रूप में प्रवेश की क्रिया की सिद्धि के लिये अपने से संयुक्त पुरुषों का आक्षेप कराया जाता है। इसलिये (स्वार्थ का परित्याग किये बिना अन्य अर्थ के ग्रहण रूप) उपादन से यह शुद्धा साध्यवसाना उपादान लक्षणा है।

जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे— शब्दतः प्रकट नहीं किया गया हो और विषयी द्वारा ही उसका कथन हो, वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है। दूसरे शब्दों में विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण, उपमान) के द्वारा दूसरे (अर्थात् आरोप विषय रूप उपमेय) का (अपने भीतर) अन्तर्भाव कर लिये जाने पर वह साध्यवसानिका लक्षणा हो जाती है।

विषयन्तः कृते ऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका

का० प्र० २/१५।

उपर्युक्त उदा० में केवल आरोप्यमाण के ही उक्त होने से साध्यवसाना है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्वार्थ को न छोड़कर अन्यार्थ का उपादान करने से उपादान लक्षणा है। धार्य-धारक संबंध होने से शुद्धा है।

(३) शुद्धा सारोपा लक्षण-लक्षणा

'आयुर्घृतम्' इस उदा० में आयु का कारण घी के लिये आयु शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ आयु और घी में कोई सादृश्य नहीं अतः शुद्धा है। इन दोनों में कार्य कारण भाव संबंध है, जिसका ध्यान रखकर घृत पर ही आयु का आरोप लगाया गया है। दोनों ही शब्दों द्वारा व्यक्त हैं। अर्थात् आरोप्यमाण आयु और आरोप विषय घृत दोनों का शब्दों द्वारा कथन है अतः सारोपा है।

(४) शुद्धा साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा

यहाँ लक्षक पद दूसरे पदों के अन्वय की सिद्धि के लिये अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। 'गगायां घोषः' इसका बहुत प्रसिद्ध उदा० है। इस उदा० में तट के घोष का आधार होने के कारण, उस अर्थान्तर तट के अन्वय की सिद्धि के लिये, गंगा शब्द अपने प्रवाह रूप अर्थ को छोड़ देता है तथा तट का लक्षणा से बोध कराता है। अतः यहाँ लक्षण लक्षणा है। 'आयुर्घृतम्' भी इसी का उदा० है। यहाँ घृत का ही आयु में अध्यवसान कर दिया गया है। आरोप विषय घृत के शब्दतः उपात्त न होने से साध्यवसाना लक्षणा है।

(५) गौणी सारोपा लक्षणा

'गौर्वाहीकः' (वाहीक देश का वासी पुरुष गौ है)। इस उदा० में गौ आरोप्यमाण (उपमान) और वाहीक आरोप विषय (उपमान) है। दोनों का सामान्याधिकरण्य से शब्दतः प्रतिपादन है। अतः दोनों के स्वरूप के अनपह्नुत होने के कारण यह सारोपा लक्षणा का उदा० है। इनमें सादृश्य है, अतः गौणी है।

(६) गौणी साध्यवसाना लक्षणा

'गौरयम्' में आरोप विषय वाहीकः का शब्दतः उपादान नहीं है, वह आरोप्यमाण गौ के द्वारा निगीर्ण हो गया है अतः यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है। सादृश्यमूलक होने के कारण गौणी है।

रूढ़ि लक्षणा व्यंग्य से रहित होती है और प्रयोजनवती लक्षणा में व्यंग्य और प्रयोजन अवश्य रहता है। अतः वह व्यंग्य सहित होती है। वह व्यंग्य कहीं गूढ़ और कहीं अगूढ़ रहता है। इस प्रकार व्यंग्य के आधार पर लक्षणा तीन प्रकार की कही गई है– (१) रूढ़िगत व्यंग्यरहित लक्षणा (२) गूढव्यंग्या (३) अगूढ़व्यंग्या। यही बात मम्मट ने 'तदेषा कथिता त्रिधां' कहकर कही है।

विभिन्न आचार्यों द्वारा कथित लक्षणा के भेदों की आलोचना विस्तार भय से यहाँ नहीं की जा रही।

व्यंजना

जो शब्द वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थ का बोध कराता है, उसे व्यंजक शब्द कहते हैं। व्यंजना व्यापार से युक्त शब्द व्यंजक कहलाता है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'तद्युक्तो व्यंजक : शब्दः'— का० प्र०

'मैं हूँ पतित, पतिततारन तुम' इसका अर्थ है— "मैं अधम, पापी (पतित) हूँ और तुम अधमों को तारने वाले हो।" यहाँ एक अर्थ यह भी निकलता है कि जब तुम पतितों का उद्धार करते हो तो मेरा भी उद्धार करोगे ही। इस अर्थ को व्यक्त करने वाला शब्द है पतित-तारन। यह व्यंजक शब्द है और इससे निकलने वाला अर्थ व्यंग्यार्थ है।

अभिधा शक्ति अपना अभिधेय या वाच्यार्थ प्रकट करके हट जाती है फिर वह दूसरे अर्थ का बोध नहीं करा सकती, क्योंकि शब्दशक्ति एक बार अपना व्यापार करने के पश्चात् विराम ले लेती है। वह एक ही बार व्यापार कर सकती है, बार-बार नहीं। अभिधा के विराम ले लेने पर लक्षणा शक्ति अपना लक्ष्यार्थ प्रकट करके विरत हो जाती है। तब इन अर्थों से व्यतिरिक्त जो एक और अन्य अर्थ बोधित होता है, उसके बोध के लिये तीसरी शक्ति व्यंजना है। उदा०—

अन्यत्र यूयं कुसुमा वचयं कुरुध्वंयत्रास्मि करोमि सख्यः
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलि वः

का० प्र० तृ० उल्लास

अर्थात् हे सखियो तुम लोग कहीं और जाकर पुष्प चयन करो, मैं यहाँ तोड़ रही हूँ। मैं दूर चलने में असमर्थ हूँ, इसलिये तुम्हारे हाथ जोड़ती हूँ। मुझ पर कृपा करो।

"यहाँ यह एकान्त स्थल है अतः तुम प्रच्छन्न कामुक को यहाँ भेज दो" यह बात एक सखी अपनी विश्वस्त सखी से कह रही है। यही व्यंग्यार्थ है जो अभिधा और लक्षणा से भिन्न है। व्यंजना शक्ति के कारण ही सर्वथा भिन्न अर्थ निकल रहा है, जो चमत्कारोत्पादक है।

व्यंजना को ध्वनन, अवगमन, प्रत्यायन भी कहते हैं। व्यंग्यार्थ के सूच्यार्थ, ध्वन्यार्थ प्रतीयमानार्थ आदि भी नाम हैं। यह व्यंग्यार्थ न तो कथित या अभिहित होता है और न लक्षित ही, किन्तु यह व्यंजित, ध्वनित, सूचित, अवगत या प्रतीत होता है।

व्यंजना के भेद

व्यंजना के मुख्य दो भेद हैं—

(१) शाब्दी (२) आर्थी। शाब्दी के २ भेद हैं—

(१) अभिधामूला (२) लक्षणामूला। अभिधामूला के १५ और लक्षणामूला के ३२ भेद हैं। आर्थी व्यंजना के ३० भेद होते हैं।

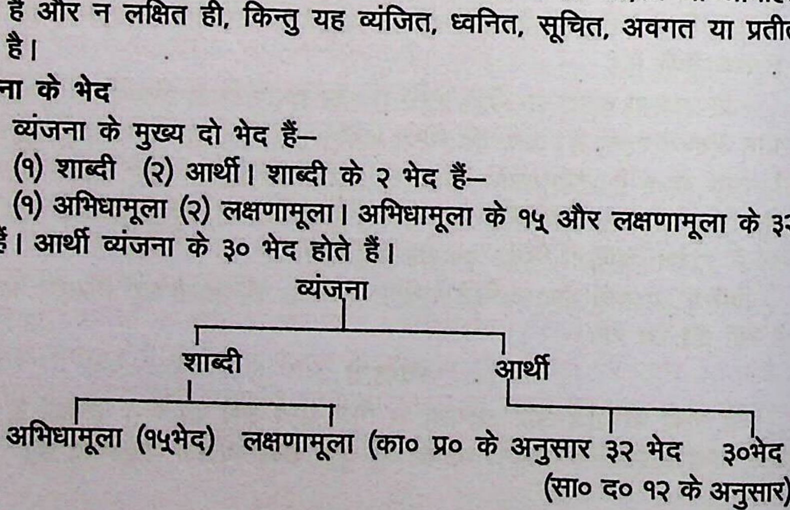

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस प्रकार व्यंजना के अनेक भेद हैं, किन्तु विस्तार भय से केवल प्रमुख भेदों का ही उल्लेख करेंगे।

शाब्दी व्यंजना :- जहाँ व्यंग्यार्थ शब्द जनित होता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना होती है। इसके २ भेद होते हैं– (अभिधामूला (२) लक्षणामूला।

(१) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति के द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है, वह अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते
संयोगाद्यैरवाच्यार्थञ्ची कृत् व्यापृतिरञ्जनम्।

का० प्र० २/१६

अर्थात् जब संयोगादि से अनेक अर्थ के वाचक शब्द का, प्रसंग के अनुकूल एक अर्थ निश्चित हो जाता है, तब ऐसी स्थिति से वाच्यार्थ का बोध कराने वाली अभिधा शक्ति अन्य अर्थों का बोध कराने में कुण्ठित हो जाती है याने एक अर्थ ही वाच्य होता है और बाकी अर्थ अवाच्य हो जाते हैं। ऐसी स्थिति से जिस शक्ति द्वारा, निर्णीत वाच्यार्थ से भिन्न, अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वही अभिधामूला व्यंजना है।

यहाँ अभिधा तो अपना वाच्यार्थ बतलाकर निरस्त हो गई और लक्षणा की तीन शर्तें हैं ही नहीं, तब व्यंजना शक्ति से ही उस अवाच्य अर्थ की प्रतीति होती है जो चमत्कार जनक होता है।

अनेकार्थ वाचक शब्द के अर्थों में से कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय, यह संदेह होने पर प्रासंगिक अर्थ का निर्णय करने वाले तत्त्व हैं–

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सविधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्ति स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषं स्मृति-हेतवः।।

भर्तृहरि का वाक्य पदीय २/३१७-१८

(१) संयोग (२) वियोग (३) साहचर्य (४) विरोध (५) अर्थ (प्रयोजन) (६) प्रकरण (७) चिह्न (८) अन्य शब्द सन्निधि (९) सामर्थ्य (१०) औचित्य (११) देश (१२) काल (१३) व्यक्ति (१४) स्वर (१५) चेष्टा। ये ही वे पंद्रह नियंत्रणकारी तत्त्व हैं, जिनसे अनेकार्थवाची शब्दों का एक ही अर्थ नियन्त्रित होता है।

उदा० के लिये 'सशंखचक्रो हरिः' इस उदा० में शंख और चक्र के संयोग के कारण ही हरि जैसे अनेकार्थवाची शब्द का एक अर्थ 'विष्णु' ही निश्चित हो रहा है। राम-लक्ष्मणौ में राम और लक्ष्मण के साहचर्य के कारण ही राम और लक्ष्मण का अर्थ हम दाशरथि राम और लक्ष्मण ही लेते हैं।

विस्तार भय से अन्य नियंत्रणकारी तत्त्वों का वर्णन नहीं किया जा रहा।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(२) लक्षणामूला व्यंजना :- जिस प्रयोजन के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है, वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना कहते हैं।

'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में जो शैत्य, पावनत्व आदि धर्म तट में प्रतीत होते हैं, उनमें गंगादि शब्दों का संकेतग्रह नहीं है अतः अभिधा से उनका ज्ञान नहीं होता। मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ- संबंध और रूढ़ि अथवा प्रयोजन आदि तीनों लक्षणा के हेतु भी यहाँ नहीं पाये जाते। अतः यहाँ लक्षणा भी नहीं है। तब फिर शैत्य, पावनात्व आदि अर्थ जिस शक्ति द्वारा ज्ञात होता है, वह व्यंजना शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है और वह लक्षणा पर आधारित है।

काव्य-प्रकाश के अनुसार इसके १२ भेद और साहित्य-दर्पण के अनुसार ३२ भेद हैं।

आर्थी व्यंजना

वक्तृ बोधत्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यन्निधेः
प्रस्तावदेशकालादे वैंशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थ धी हेतु र्व्यापारों व्यक्तिरेव सा।।

का० प्र० ३/२१-२२

(१) वक्ता (कहने वाला) (२) बोधव्य (जिससे बात ही जाय) (३) काकु (४) वाक्य (५) वाच्य (६) अन्यसन्निधि (७) प्रस्ताव (८) देश (६) काल (१०) चेष्टादि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह आर्थी व्यंजना कहलाता है।

इस व्यंजना से सूचित व्यंग्य अर्थ जनित होने से आर्थी होता है। यह किसी शब्द विशेष पर अवलम्बित नहीं होता। ऊपर बताये गए दस भेदों में भी प्रत्येक के (१) वाच्य संभवा (२) लक्ष्य संभवा और (३) व्यंग्य संभवा नामक तीन-तीन भेद और होते हैं। इस प्रकार आर्थी व्यंजना के ३० भेद हैं। उदा०–

अतिपृथुलं जामकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सरिव त्वरितम्
श्रमस्वेद सलिल नि : श्वासनि : सहा विश्राम्यामि क्षणम्।

हे सखि! मैं बड़ा भारी पानी का घड़ा लेकर भागी चली आ रही हूँ। परिश्रम के कारण पसीना और निःश्वास से परेशान हो गई हूँ। अतः थोड़ी देर यहाँ बैठकर विश्राम करूँगी।

अभिप्राय यह है कि कोई सखी पानी भरने के बहाने से उपनायक के पास गई और उसके साथ संयोग करके आ रही है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

६
महाकाव्य तत्त्व-विमर्श

डॉ. रहस बिहारी द्विवेदी

संस्कृत की अन्य संरचनात्मक प्रवृत्तियों में महाकाव्य का समधिक महत्त्व हैं। महाकाव्य का रचनाफलक अधिक वृहद् होने के कारण अन्य काव्यांगों की अपेक्षा इसमें जीवन को विस्तृत फलक पर चित्रित किया जाता है। मानव-जीवन के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही इसमें प्रतिबिम्बित होते हैं। इसमें व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की जटिल समस्याओं का गम्भीर उदात्त, विचारोत्तेजक और सरस वर्णन होता है। महाकाव्य में छन्दों की योजना से उसमें लयात्मकता का संचार होता है। लयात्मकता के कारण सहृदय की वृत्तियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, जिनसे रसोद्रेक में सहायता पहुँचाती है। महाकाव्य सामंजस्य का महाराग है। इसमें लौकिकता-अलौकिकता मानवता-दानवता, सुन्दरता-असुन्दरता का चित्रण होता है। इसमें तम पर प्रकाश का, असत् पर सत् का और मृत्यु पर विजय का उद्घोष रहता है। महाकाव्य जीवन की विविधता को एक रूपता प्रदान करता है। मानवता के विकास और इतिहास की झाँकी प्रस्तुत करने के साथ ही इससे यश, अर्थ, आनन्द और व्यावहारिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।[1] महाकाव्य स्वान्तः सुखाय भी होता है बहुजनहिताय भी। महाकाव्य में व्यक्त वर्णन, के माध्यम से अव्यक्त सत्य की ओर संकेत किया जाता है। महाकाव्य प्रतिभा, लोक शास्त्रनैपुण्य और काव्यरीति की विशाल पृष्ठभूमि में काव्यकर्ता को परीक्षित होने का अवसर प्रदान करता है।[2] मानव चरित्र से रहस्यमय और उलझा हुआ और कुछ नहीं है। ऐसे गहन चरित्र की योजना पर महाकाव्य की सफलता बहुत दूर तक निर्भर रहती है। जो कवि यह नहीं समझता कि दुःख में मानव के भाव क्या होते हैं, सुख में उल्लास का प्रतिफलन किस प्रकार होता है, निर्वेद में मन की स्थिति क्यों सुस्थिर रहती है, क्रोध में क्या संवेगात्मक परिवर्तन होता है, प्रकृति के एक ही उपादान संयोग और वियोग में किस प्रकार भिन्न दिखते हैं, वह महाकाव्य का प्रणयन नहीं कर सकता। अतः महाकाव्यकर्ता को इन सबके उदारदर्शन और अनुव्याहरण में पटु होना चाहिए। इन रागात्मक वृत्तियों के सूक्ष्म अभिज्ञान के साथ इनके संतुलन और समीकरण की आवश्यकता होती है।

लक्ष्यग्रन्थों के निर्माण के बाद ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। लक्षणकार मात्र अपने समक्ष उपस्थित एक आदर्श को शास्त्रीय शब्दावली में प्रस्तुत कर देता है। जिन कृतियों को देखकर काव्यशास्त्री लक्षण निर्मित करता है, वे तो मौलिक उद्भावनाओं से परिपूर्ण होती हैं किन्तु जो काव्यकृतियाँ इन लक्षणों के निकर्ष पर बाद में लिखी जाती हैं, वे रूढ़िग्रस्त हो जाती हैं। अतः जो काव्यकार इस मर्म को

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

समझ लेता है, वह लक्षणों परिभाषाओं और इंगित आदर्शों की परिखा पर आँखें मूँद कर नहीं चलता। पहले तो ऐसी कृतियों को परम्परावादी आलोचक परम्पराच्युत कहकर शंका की दृष्टि से देखते हैं, किन्तु बाद में जब ये कृतियाँ काल के निकष पर कंचन की भाँति चमकने लगती हैं और सहृदय के गले का हार बन जाती हैं, तब यह परिवर्तन मान्य और अनुकरणीय बन जाता है। कभी-कभी मौलिकता के नाम पर जो असंस्कृत और उदात्तकलारहित प्रयोग दृष्टिगत होते हैं, वे सहृदय–हृदय-संवेद्य न होकर उपहासास्पद हो जाते हैं।

महाकाव्यसंरचना में एक ओर नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के धनी कवियों ने जहाँ अविश्रान्त प्रयास किया, वहाँ दूसरी ओर अपनी युगीन परिस्थियों तथा प्रणीत महाकाव्यों को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित किए। महाकाव्य की विविध परिभाषाओं से यह सिद्ध होता है कि काव्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा महाकाव्य की परिभाषा अधिक परिवर्तनशील रही है क्योंकि महाकाव्य जनजीवन से घनिष्ठ रूप से संबद्ध रहता है और जन-जीवन की धारणाएँ युगप्रभावानुसार बदलती रहती हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में आचार्य "भामह" ने सर्वप्रथम महाकाव्यलक्षण निर्धारित किया है। भामह का कथन है कि उन्होंने सत्कवियों के मतों को देखकर तथा स्वयं की मेधा से महाकाव्यादि का लक्षण ग्रथित किया है (काव्यालंकार ६/६४)। भामह के इस कथन के आलोक में जब हम विशेष रूप से वाल्मीकीय रामायण को देखते हैं, तब उसमें महाकाव्यलक्षण के सांगोपांग सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।[३] कवि के कल्पनाराज्य में महाकाव्य के विशाल भवन का मानचित्र विद्यमान रहता है, जिसके अनुसार वह उसके विधिवत् निर्माण में सफल होता है। अतः अन्यान्य रचनाओं में ऐसे सूत्रों का प्राप्त होना स्वाभाविक है।[४] भामह ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–

सर्गबन्धो[५] महाकाव्यं महतां च महच्च यत।
अग्राम्यशब्दमर्थं च सालंकारं सदाश्रयम्।।
मन्त्रदूत प्रयाणजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।।
चतुवर्गाभिधानेऽपि भूयतार्थोपदेशकृत्।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।। काव्यालंकार १/१६-२।

भामह का यह प्राचीनतम उपलब्ध लक्षण है और संक्षिप्ततम है। तथापि इसमें महाकाव्य संबंधी कोई मौलिक आधारभूत विशेषता नहीं छूटी है, न इसमें उत्तरवर्ती लक्षणों की कठोरता और रूढ़िबद्धता ही है। इसकी व्यापकता और उन्मुकता महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप है।

भामह के अनुसार महाकाव्य उसे कहेंगे जो (१) सर्गबद्ध, (२) महान् चरित्रों से संबद्ध, (३) आकार में बड़ा (४) ग्राम्य शब्दों से रहित, (५) अर्थसौष्ठव से संपन्न, (६) अलंकार से युक्त (७) सदाश्रित (८) मंत्रणा, दूत प्रेषण, अभियान, युद्ध नायक के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभ्युदय तथा (६) नाटकीय पंच संधियों से समन्वित, (१०) अनतिव्याख्येय एवं (११) ऋद्धि-पूर्ण है, (१२) निरूपण उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का हो, परन्तु प्रधानता अर्थ की रहे (१३) लौकिक व्यवहार का अतिक्रमण न हो तथा (१४) सभी रस असंकीर्ण रूप से विद्यमान हों।

उपरिनिर्दिष्ट विशेषताओं का विश्लेषण करने पर इनमें १ और ३ का संबन्ध बन्ध तथा आकार से, २ और ७ का नायक से, ४, ५, ६, १० का अभिव्यंजना से ८, ११, १२, १३, का वर्ण्य से, ६ का रचना-विधान से, १३ का औचित्य से तथा १४ का आस्वाद्यता से है।

आकार के विषय में भामह ने कोई सीमा निर्धारित नहीं की और बाल्मीकि[६] की तरह केवल "महत्" कह दिया। उत्तरवर्ती लक्षणकारों द्वारा "महत्" की अधोवर्ती तथा उर्ध्ववर्ती सीमा निर्धारित कर दी गई– आठ सर्ग से कम और तीस सर्ग से अधिक न हो।[७] महाकाव्य की पटभूमि जैसी व्यापक रहती है, उसका सम्यक् निर्वाह संक्षिप्तता में नहीं हो सकता और उसे बहुत विस्तृत भी नहीं होना चाहिए क्योंकि पाठक अत्यन्त विशालकाय काव्य पढ़ते-पढ़ते ऊब सकता है। इस धारणा के अनुसार अतिसंक्षिप्तता और अतिविस्तार दोनों ही दोष माने गए हैं। वस्तुतः उत्तरवर्ती आचार्यों को यदि आकार की सीमा अभीष्ट ही थी, तो उन्हें सर्ग के स्थान पर छन्द संख्या नियत करनी थी। कहने को श्रीहर्ष का "नैषधीय चरितम्" २२ सर्गों का महाकाव्य है, पर उसका प्रत्येक सर्ग "किरातार्जुनीयम्" (भारवि) आदि काव्यों की तुलना में प्रायः दुगुना है। इसलिये वह २२ का होकर भी ४४ सर्गों का काव्य हुआ। इसी प्रकार गत दशक (१९६१-७० ई०) में प्रणीत काव्यों में "तिलकयशोऽर्णवः" के कुछ सर्ग ४०० पद्यों के हैं और "गंगासागरीयम्" की कुल पद्य संख्या– ५०० से कम है, इसलिए "गंगासागरीयम्' 'तिलकयशोऽर्णवः' के दो सर्ग से भी कम है। इस दृष्टि से गंगासागरीयम्" सवा सर्ग का काव्य हुआ। वस्तुतः सर्ग और पद्य संख्या दोनों का परिसीमन उचित नहीं है। इसमें प्रतिपाद्य विषय के अनुसार कवि की अनुपात बुद्धि का नियमन ही मान्य होना चाहिए। आलोचक जब "रामचरिमानस" तथा कृष्णायन को सात काण्ड का कहकर सर्ग संख्या की न्यूनता पर विचार करते हैं, तब उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि रामचरितमानस का बालकाण्ड तथा कृष्णायन का अवतरण काण्ड ही उत्तरवर्ती कुछ महाकाव्यों के सम्पूर्ण आकार से बड़ा है। वाल्मीकीय रामायण से बात और स्पष्ट हो जाती है जहाँ से महाकाव्य की संकल्पना का श्रीगणेश होता है। उसमें किसी काण्ड में ६८ सर्ग से कम संख्या नहीं हैं, कुछ काण्ड तो शताधिक सर्गों के हैं। रामायण के काण्डों की सर्ग की संख्याएँ प्रायः परवर्ती सुप्रसिद्ध काव्यों के सर्गों की पद्य संख्याओं के बराबर हैं। इसलिए महाकाव्य के आकार के संबंध में भामह का "महत्" शब्द ही समधिक उपदेय है।

नायक के संबन्ध में भामह ने यह नहीं कहा कि देव हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय। उन्होंने केवल इतना ही कहा कि महाकाव्य का वर्णनीय मुख्य पात्र

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"महान्" और "सत्" हो। इन दो विशेषणों से नायक विषयक समस्त समीहित विशेषताएँ भामह ने समाहित कर दी हैं। इन दो ही शब्दों की व्याख्या में तथा अपने समय तक प्रणीत कुछ महाकाव्यों के नायकों को दृष्टि-पथ में रखकर दण्डी[८] रुद्रट[९] और विश्वनाथ[१०] आदि आचार्यों ने कुछ अन्य विशेषताएँ जोड़ दीं फिर भी बात कुछ बनी नहीं। इन आचार्यों की दृष्टि से नायकों की परीक्षा करने पर अनेक प्रशस्त कृतियाँ महाकाव्य नहीं कहीं जा सकतीं। गत दशक (१९६१-७०) में प्रणीत स्वामी विवेकानन्द चरितम्' "गान्धिचरितम्" तिलकयशोडर्णवः, "सुभाषचरितम्" और "गंगासागरीयम्" में मुख्यपात्र (नायक) सीता और गंगा आदि रुद्रट के अनुसार विजिगीषु नहीं हैं, किन्तु ये पात्र भामह के "महत्" और "सत्" के निष्कर्ष पर सर्वात्मना खरे उतरते हैं।

सर्वप्रथम नायक के संबन्ध में आदि कवि ही नहीं काव्यशास्त्र के भी आचार्य महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापनाएँ की थीं। उस अवधारणा में उन्होंने महाकाव्य वस्तु[११] आदि को भी समेट लिया था। आदि कवि ने वाग्विदांवर तपस्वाध्यायनिरत त्रिलोकज्ञ नारद से इस संदर्भ में विचार-विमर्श भी किया,[१२] परन्तु उस महान् वाग्विद और स्वाध्यायी को कुछ बोलने देने के पहले अपने मनश्चुक्षओं के समक्ष झूमते हुए काव्यार्ह चरितनायक के स्वरूप को अत्यन्त कुतूहल के साथ प्रस्ताव के रूप में रखा। प्रस्तावानुसार त्रिलोकज्ञ[१३] (नारद) ने सहज ही तदनुकूल समीहित और साम्प्रतिक नायक बता दिया। महाकाव्य तत्त्वानुशीलन की दृष्टि से प्रस्ताव के उत्तर का उतना महत्त्व नहीं है, क्योंकि वह सामान्य नहीं विशेष है। आदि कविता प्रस्तावित और समीहित नायक स्वरूप उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है :–

"कौन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके" गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।।
चरित्र्यैण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कस्यैकः प्रिय दर्शनः।।
आत्मवान् को जितक्रोधो द्युतिमान् कोऽनसूयकः।
कस्य विभ्यति देवाश्च जात रोषस्य संयुगे।।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कोतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवं विधं "नरम्"।। बा० रा० बा० १/ २-५

वाल्मीकि ने नायक के संबंध में तीन महत्त्वपूर्ण बातें कहीं –

१. आधुनिक लोक में विख्यात (कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके)

२. उदात्त गुणों से युक्त और ३. कोई भी नर। पर फिर भी भामह ने केवल "महत्" कहा ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय तक "कुमारसम्भव" तथा "रघुवंश" की रचना हो चुकी थी और देवता तथा रघुवंशीय ऐतिहासिक पात्रों को भी नायक के रूप में देखकर उन्होंने "नर" तथा वर्तमान लोक में "विख्यात" दोनों बातों को कहना उचित नहीं समझा। वर्तमान लोक में विख्यात महापुरुष– प्रथम

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वाक्य में ही कहकर आदि कवि ने आधुनिक महापुरुष को नायक बनाने पर इसलिए बल दिया, क्योंकि उससे सामाजिक को विषयवस्तु हृदयंगम करने में सुविधा रहती है और कवि को उसके लोक नायकत्व की युगानुरूप स्वाभाविक प्रतिष्ठा के लिए कोरी कल्पनाओं पर नहीं आधारित रहना पड़ता। तत्कालीन महापुरुष के उदात्तगुणों का प्रामाणिक और शाश्वतिक आकलन भी हो जाता है, जिसका रसास्वादन वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के लिए आह्लादक और प्रेरणाप्रद होता है। कहना न होगा कि वाल्मीकि ने स्वयं भी ऐसा ही किया है। इस युग में वाल्मीकि के इस आदर्श की शोभन प्रतिष्ठा हुई है। आधुनिक महाकाव्य "तिलकयशोऽर्णवः" के प्रणेता श्रीमाधव अणे ने वाल्मीकि की भाँति अपने महाकाव्य में स्वयं को भी एक पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक महाकाव्यों में आधुनिक लोकनायकों को "नायक" बनाया गया है। "गणपतिसम्भवम्" प्रभृति में नायक को युगानुरूप लोकनायकत्व का आस्पद प्रदान किया गया है। इन महाकाव्यों के नायक वाल्मीकि की कसौटी पर कंचन की भाँति चमक रहे हैं। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सम्प्रति शिवाजी का "क्षत्रपति", बालगंगाधर तिलक का "लोकमान्य", महात्मा गांधी का "राष्ट्रपिता" और "महात्मा", सुभाषचन्द्र बोस का "नेताजी", जवाहर लाल नेहरू का "शान्तिदूत" और "चाचा"– अभिधान अन्य विशेष से रहित होने पर केवल इन्हीं का अबवोधक है, अवबोधक होने के साथ लोक-नायक के रूप में जनतागत अभिस्वीकृति का पुष्ट प्रमाण भी है।

अभिव्यंजना के संदर्भ में महाकाव्य लक्षण लिखते समय विश्वनाथ ने कुछ नहीं कहा, दण्डी ने अलंकृत[१४] शब्द ही पर्याप्त समझा, विद्यानाथ[१५] ने नगर, पर्वत आदि अठारह वस्तुओं के वर्णन को ही महाकाव्य बता दिया और अन्य विषयों की चर्चा नहीं की, आदि कवि के प्रयोग तथा कण्ठतः उपात्त १७ आदर्श के आधार पर भामह ने अभिव्यंजना पक्ष में चार बातों पर विचार किया है– शब्द, अर्थ, अलंकार और अन्विति (व्याख्येयता)। संभवतः दण्डी विश्वनाथादि ने जिस शब्द सौष्ठव, अर्थरमणीयता तथा अलंकार– योजना का विधान किया, वे सभी रस के अंग हैं। अतः इन आचार्यों ने इनके पृथक् उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं समझी। इस सन्दर्भ में भामह ने स्पष्ट उल्लेख कर महाकाव्यकार को अत्यन्त सतर्क करने का श्लाघ्य प्रयास किया है। शब्द और अर्थ रस निष्पत्ति के साधन हैं, साधन में त्रुटि रहने पर साध्य निर्दोष नहीं रह सकता। इसके लिए उनका अतिशय महत्त्वपूर्ण विशेषण है– "नातिव्याख्येयम्"। यदि काव्य भी अतिव्याख्यापेक्षी होगा तो काव्य और शास्त्र में अन्तर ही क्या रहा?[१७] काव्य की सार्थकता तो इसमें है कि उसमें कवि अपने गम्भीर लोकशास्त्राद्यवेक्षणजन्य ज्ञान को अतिशय सुगम सरस बनाकर प्रस्तुत कर दे। एक तो क्लिष्ट काव्य मात्र विद्वानों के लिए उपयोगी होता है, दूसरे क्लिष्टता निश्चित रूप से रसानुभूति में बाधक होती है। अतः प्रसाद सम्पन्नता उसकी अतिशय अभिलषणीय विशेषता है, जिसे भामह ने "नातिव्याख्येयम्" के द्वारा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

व्यक्त किया और आनन्दवर्धन तथा रुद्रट ने भी इसका समर्थन किया।[१८]

वर्णनीय विषयों में भामह ने मन्त्रणा, दूत-संप्रेषण आदि की चर्चा की और "ऋद्धिमत्" के द्वारा उन समस्त वैभवों (नागरिक एवं प्राकृतिक) का अभिव्यंजन कर दिया, जो काव्य में वर्णन की दृष्टि से उपयोगी हैं। दण्डी-विश्वनाथ-आदि ने इनकी सूची एकाधिक कारिकाओं में गिनाई है।[१९] प्रकृति वर्णन– आदि विभाव के रूप में रसोत्पत्ति के लिए और भारतीय जनमानस में समायी इस विशाल देश की धरती के असंकलित आकलन में अत्यन्त उपयोगी होने के कारण वर्णनीय माने गए। यद्यपि आगे चलकर प्रकृति वर्णन रूढ़ और निष्प्राण हो गया, परन्तु प्राचीन वाल्मीकि आदि रससिद्ध कवियों की कृतियों में उनका सन्निवेश कोरे वर्णन के लिए नहीं था। भारत तथा अन्य देशों की संस्कृति और सभ्यता में मौलिक अन्तर है। यहाँ की सभ्यता, संस्कृति या ज्ञान का विकास वनों के निभृत, उन्मुक्त, सुषमाशाली और सात्विक वातावरण में होकर नगरों में आया। अन्यत्र उनका विकास प्रायः नगरों में हुआ। अतः भारतीय कवि का प्रकृति सान्निध्य आरोपित नहीं स्वाभाविक था। बाद के काव्यशास्त्रियों द्वारा गिनाई गई सूचियों के अनुसार वर्णनीय विषयों का सन्निवेश करने के प्रयास में अनेक काव्यों के वर्णन अस्वाभाविक और कथावस्तु से असंपृक्त हो गए हैं। अतः सूची की अपेक्षा भामह का "ऋद्धिमत" और वाल्मीकि का "समुद्रमिव रत्नाड्यम्"[२०] विशेषण अपेक्षाकृत अधिक उचित है। वैसे वर्णनीय विषयों के संबंध में दण्डी के सूची प्रस्तुत करने के बाद भी इन्हें अनिवार्य नहीं अपेक्षित ही माना है।[२१] इसी प्रकार विश्वनाथ का "यथायोग"[२२] शब्द महाकाव्यवस्तु से सामंजस्य के लिए उचित वर्णनीय विषयों के समावेश का अभिव्यंजक है।

महाकाव्य में चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का सामान्यतया प्रतिपादन रहने पर भी भामह ने अर्थ की प्रधानता स्वीकार की है। इसके दो कारण हैं– एक तो काव्य प्रायः निवृत्तिपरक न होकर प्रवृत्तिपरक और लौकिक आनन्द और अभ्युदय के साधक थे। दूसरा उनके संमय की समन्ती व्यवस्था और राजदरबारी वातावरण में महाकाव्यों की रचना हुई, जिनसे प्रभावित होना स्वाभाविक था। अधिकांश काव्यनायकों का राजा होना इस बात का प्रमाण है। अतः "मन्त्रदूतप्रयाणजिनायकाभ्युदयैश्च यत्" का ग्रहण हुआ है। इस पृष्ठभूमि में "भूयसार्थोपदेशकृत्" का स्वारस्य स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में वाल्मीकि[२३] ने "कामार्थगुण" के संयोग की अपेक्षा व्यक्त करते हुए "धर्मार्थगुण" के विस्तार पर बल दिया है। दण्डी[२४] ने किसी एक वर्ग पर बल न देकर "चतुर्वर्गफलायत्तम्" कहा है और विश्वनाथ[२५] चारों वर्गों के ग्रंथन के साथ काव्य-फल के रूप में किसी एक वर्ग को स्वीकार किया है।

· महाकाव्य रचनाविधान में भामह ने "पंचसन्धियों" (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, उपसंहृति) के समन्वय का उल्लेख किया है। पंचसंधियों की कल्पना यद्यपि प्रारम्भ में रूपकों को सामने रखकर हुई, किन्तु बाद में वे महाकाव्य की योजना के लिए उपयोगी समझी गयीं। नाट्य-सन्धियों के प्रयोग से कथावस्तु विन्यास में क्रमबद्धता

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आती है, अतः महाकाव्य में इनकी आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ। प्रायः महाकाव्य-रचना-विषयक धारणा व्यक्त करने वाले सभी आचार्यों ने नाट्य-सन्धियों के समन्वय की चर्चा की है। आनन्दवर्धन[२६] इस बात पर बल देते हैं कि सन्धि और सन्ध्यंगों की योजना केवल शास्त्र स्थिति के सम्पादन की इच्छा से न करके रसाभिव्यंजन की दृष्टि से की जानी चाहिए। विश्वनाथ[२७] ने सन्ध्यंगों की योजना अनिवार्य नहीं मानी है और उनके यथालाभ प्रयोग का उल्लेख किया है। रुद्रट[२८] ने संधियों को परस्पर संबद्ध रूप से व्यवहृत करने को कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथ के समय तक सन्धि– सन्ध्यंगों के प्रयोग में कुछ शैथिल्य दिखने लगा था, अतः उन्होंने सन्धियों की स्थूल आवश्यकता पर बल दिया और सन्ध्यंगों की अनिवार्यता समाप्त कर दी।

औचित्य की दृष्टि से भामह ने एक महत्त्वपूर्ण अंश प्रस्तुत किया "लोकस्वभाव"। लोकस्वभाव' केवल लौकिक आचार-व्यवहार का बोधक ही नहीं उस महनीय तत्त्व का भी व्यंजक है, जिसे इनके पूर्ववर्ती वाल्मीकि[२९] ने "स्वराष्ट्ररंजन" कहा था और बाद में आनन्दवर्धन ने "औचित्य" कहा। लोक-स्वभाव और औचित्य इतने संश्लिष्ट हैं कि उन्हें पृथक् करके देखना दुर्भर है। लोक-स्वभाव के पालन को ही औचित्य कहते हैं और उल्लंघन को ही अनौचित्य। जो जैसा है या जैसा होना चाहिए, उससे भिन्न वर्णन में अनौचित्य आता है और वह रसभंग का प्रमुख हेतु है।[३०] भामह के "लोकस्वभाव" को ही आनन्दवर्धन ने "औचित्य" कहा है।[३१]

महाकाव्य की आवास्वाद्यता के संबंध में भामह का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सभी रसों की अंसकीर्ण स्थिति रहनी चाहिए। 'रसैश्च सकलैः पृथक्'। श्रव्य काव्य में रस के महत्त्व को आदिकवि वाल्मीकि ने कण्ठतः स्वीकार किया था[३२] किन्तु आचार्य परम्परा में भामह जिसे बादबाही विद्वानों ने अलंकारवादी कहा है सम्भवतः पहली बार श्रव्य के प्राणतत्व रस का उल्लेख किया है। यह बात उन्होंने तब कही है जब रस की प्रतिष्ठा केवल दृश्य काव्य में थी और श्रव्य काव्य के प्राणतत्त्व का विवेचन चल ही रहा था। भामह ने रसों की स्थिति आवश्यक मानकर उनके अंगागिभाव का निर्देश नहीं किया, किन्तु आनन्दवर्धन के लिए इसके विवेचन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। "पृथक" शब्द के प्रयोग से भामह ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि रस चाहे कितने भी रहें किन्तु वे अंसकीर्ण (पृथक) रूप में ही रहें जिससे एक रस के कारण दूसरे का प्रभाव नष्ट न हो। वस्तुतः "पृथक्" शब्द के द्वारा उन्होंने काव्य में "अकाण्डप्रथन" और "अकाण्डच्छेदन" प्रभृति रस दोषों के परिहार पर बल दिया है। भामह द्वारा रस के अंसकीर्ण प्रयोग पर बल दिए जाने के बाद आनन्दवर्धन ने नई बात यह कही कि यद्यपि प्रबन्धों में अनेक रसों की योजना प्रसिद्ध है तथापि किसी एक रस को अंगी बनाने से रचना में उत्कर्ष आता है।[३३] दण्डी,[३४] रूद्रट[३५] और कुन्तक[३६] आदि आचार्यों ने भी रसों के अंगागिभाव की विशिष्ट चर्चा नहीं की, किन्तु महाकाव्य में रस की अनिवार्यता कण्ठेन स्वीकार की।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

महाकाव्य में किसी एक रस को अंगी मान लेने तक तो उचित था, किन्तु विश्वनाथ ने यह कहकर कि श्रृंगार, वीर, शान्त में से कोई एक ही अंगी होना चाहिए[३६], उसे जकड़ दिया। विश्वनाथ का यह कथन सार्थक नहीं प्रतीत होता। जिस ग्रन्थरत्न आदि काव्य वाल्मीकीय रामायण से "महाकाव्य" की संकल्पना प्राप्त हुई वह भी विश्वनाथ की इस मान्यता के अनुसार महाकाव्य नहीं हो सकेगा। रामायण का अंगीरस करुण है, इस तथ्य को आचार्यप्रवर आनन्दवर्धन ने आदर्श के रूप में स्वीकार किया है।[३८] विश्वनाथ की रसत्रयी में करुण को स्थान नहीं है। इसी प्रकार विश्वनाथ ने नाटक में भी "श्रृंगार" या "वीर" को अंगी माना है[३९] करुण को नहीं। जबकि प्रशस्त नाटककार भवभूति[४०] ने वाल्मीकि[४१] की भाँति काव्यार्थतत्त्वअगमय व्यंजना में न कहकर अपने आशय (अंगीरस करुण) को कण्ठतः उपात्त किया था। भारत की वर्तमान राष्ट्रभाषा के प्रसिद्धतम महाकाव्य रामचरितमानस का अंगीरस "भक्ति" है। अभी परम्परागत पाण्डित्य के धनी विद्वानों का एक वर्ग ऐसा भी है जो "भक्ति" को रस न मानकर उसे "देवविषयारति" "अर्थात्" भाव[४२] मानता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में प्रणीत शताधिकसंस्कृत-महाकाव्यों में राष्ट्रभक्ति रस की शोभन प्रतिष्ठा हुई है। राष्ट्रभक्ति[४३] रस अंग के रूप में प्रायः इस काल के सभी महाकाव्यों में प्रतिष्ठित है। कतिपय प्रशस्त महाकाव्यों में अंगीरस वीर आदि आप्रबन्ध राष्ट्रभक्तिरस से अनुप्राणित हैं। वादवादी विद्वान् जिसे रसवादी कहते हैं ऐसे आचार्य (विश्वनाथ) द्वारा अंगीरसों का यह नियमन कुछ जमा नहीं, वह उनके समय तक प्रसिद्ध कुछ महाकाव्यों के अंगीरसों का परिचय भर देकर रह गया। यह भी ध्यान की बात है कि आस्वाद की स्थिति में विश्वनाथ ने "करुण" को भी तर्कपुरस्सर परमानन्द का हेतु माना है।[४४] इस प्रकार "करुण" के प्रति वे उदासीन हैं, ऐसा भी नहीं है। यद्यपि "करुण" को उनकी सूची में डाल दिया जाय तो भी कोई बात नहीं बनेगी। क्योंकि भक्ति रसादि की अभिनव प्रतिष्ठा युगीन-प्रभाव और जनमानस की प्रतिक्रिया का परिणाम है।

आस्वाद की कोटि में आने वाली कोई भी वृत्ति रस हो सकती है, इस तथ्य को प्रशस्त काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है।[४५] अतः काव्य के अंगीरस ही नहीं, रसों की समस्त संख्यादि का परिसीमन उचित नहीं प्रतीत होता। पूर्वाग्रह के कारण आस्वाद के धरातल पर उतर जाने वाली वृत्ति को रस न मानना और रस की कोटि तक न पहुँचने वाली वृत्ति को रस घोषित कर देना दोनों ही उचित नहीं है। "भक्तिरस[४६] की प्रतिष्ठा प्रायः हो चुकी है कम से कम भक्ति। (ईश्वर भक्ति) के क्षेत्र में तो पूर्ण भक्तिरस का स्थायी भाव "अनुराग" है। यदि देवविषयक अनुराग स्थायी है तो "देवभक्ति"[४७], और यदि राष्ट्रविषयक अनुराग है तो राष्ट्रभक्ति। राष्ट्रभक्ति की प्रतिष्ठा भी अभिनव संस्कृत काव्य जगत् में हो चुकी है और शास्त्र? शास्त्र तो काव्य का पुच्छभूत है, उसमें भी हो जायेगी। काव्य भी पुच्छभूत है किन्तु लोक का। प्रायः लोक की मान्यताओं के अनुसारकाव्य की मान्यताएँ बदलती हैं और काव्य के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनुसार शास्त्र की। कभी-कभी लोक कुछ अंशों में काव्यानुगामी और काव्य शास्त्रानुगामी भी दिखाई देता है। इसमें कारण होती है लोकनायक, काव्यकार या शास्त्रकार की अन्योन्य अतिशयिनी प्रतिभा।

"राष्ट्रभक्ति" संस्कृत साहित्य की नवीन धारा है। राष्ट्रभक्ति और देवभक्ति में मौलिक अंतर यह है कि राष्ट्रभक्ति का स्थायी भाव "अनुराग" उत्साह सम्बलित होता है और देवभक्ति का श्रद्धा तथा भगवन्निष्ठ-इष्ट-साधनता से समन्वित। इसके आश्रयादि में भी पर्याप्त अन्तर है। देवभक्त ईश्वर को अपना आधार मानता है, उसकी रक्षा इष्टदेव से अपेक्षित होती है, कृपाकांक्षी होने से उसमें दीन-हीन भाव भी विद्यमान रहता है, उसका चित्त देव के गुणगानादि से द्रवित होता है। राष्ट्रभक्त को अपनी रक्षा की परवाह नहीं रहती, वह अपनी रक्षा से राष्ट्ररक्षा को महत्त्व देता है, वह राष्ट्र के प्रति आत्मरक्षा के लिए दैन्य से युक्त नहीं होता, उसका चित्तराष्ट्र की विपत्ति से द्रवित होता है, परन्तु राष्ट्र के विपत्ति उसे उत्साहित और दृढ़ करती है, वह कृपापात्र नहीं बनना चाहता। राष्ट्र के आत्मसम्मान और स्वातंत्र्य की बलीयसी आकांक्षा उसमें विद्यमान रहती है। वह राष्ट्र-कल्याण के लिए अपने शरीर के कण-कण को अर्पित कर देने में परमसुख का अनुभव करता है। देवभक्त ईश्वर में लीन हो जाने को परम सुख मानता है, वह व्यक्तिगत रूप से अपने परलोक को बनाना चाहता है। राष्ट्रभक्त राष्ट्र के दुःख को आमूल समाप्त कर देने में अपने को भी समाप्त कर देने तक की भावना रखता है। वह राष्ट्र के स्वातन्त्र्य और सुख को प्रथम और विश्वकल्याण को अपना द्वितीय लक्ष्य मानता है। उसमें विश्वबन्धुत्व-विधृता राष्ट्रीयता विराजमान रहती है। देवभक्तों का एक वर्ग बार-बार जन्म लेकर अपने सुख और सन्तोष के लिए आराधना में लगा रहना चाहता है। राष्ट्रभक्त मरकर पुनः जीवित होने के व्यामोह से रहित होता है, वह यह अवश्य चाहता है कि उसकी भावी पीढ़ी उसके राष्ट्र सुख और स्वातंत्र्य विषयक प्रयासों पर सदा दृढ़ रहे।[४८] राष्ट्रभक्त आत्ममुक्ति से राष्ट्रभक्ति को महीयसी मानता है।[४९] देवभक्ति आत्मशान्ति के लिए की जाती है और राष्ट्रभक्ति राष्ट्र की शान्ति के लिए यही दोनों का अन्तर है।

राष्ट्रभक्ति में उत्साह और अनुराग इन दो भावों का अद्‌भुत मिश्रण होने के कारण "भक्ति" के साथ "वीर" से भी अभिन्न मानने की भ्रान्ति हो सकती है, किन्तु वीर में भी इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वीर रस का आश्रयीभूत पात्र प्रायः व्यक्तिगत विजय के प्रति आस्थावान् रहता है, समग्र जन-जीवन में राष्ट्रीय चेतना जागृत करने जैसी चीज उसमें नहीं रहती, उसके उत्साह में व्यक्तिगत यशोलिप्सा और सुखलिप्सा भी अधिकांश में देखी जाती है। राष्ट्रभक्ति के आश्रयभूत पात्र में समग्र राष्ट्र का कल्याण निहित रहता है, उसके उद्‌घोष और विजय में सारे राष्ट्र का जयघोष और विजय निहित होती है।

"राष्ट्रभक्ति" की उद्‌दीप्ति में राष्ट्र की सारी धरती राष्ट्र-स्वातंत्र्य की भावना,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सामान्य जनजीवन, आक्रमणकारी शत्रु और राष्ट्र की विपन्नता आदि कारण होते हैं। वीर के व्यापक परिपाक के लिए तत्संबद्ध पात्र की साधन सम्पन्नता अपेक्षित होती है, किन्तु राष्ट्रभक्ति का आश्रय सामान्य व्यक्ति भी हो सकता है, इस प्रकार काव्य के समस्त पात्र राष्ट्रभक्ति के आश्रय हो सकते हैं किन्तु वीर के नहीं। राष्ट्रभक्ति रस की पृष्ठभूमि व्यापक है, यह अपने व्यापक परिवेश में विश्वबन्धुत्व की ओर भी उन्मुख रहता है और इसमें राष्ट्रीय भूगोल और संस्कृति आदि का गम्भीर अभिव्यंजन सम्मिलित रहता है। राष्ट्र-भक्ति रस का अन्यतम और अनुपम वैशिष्ट्य यह है कि यह सभी रसों का निर्दिष्ट रूप से अंग भी हो सकता है, अंगी भी। यह क्षमता वीर अथवा प्रायः अन्य किसी रस में नहीं है। वीर और राष्ट्रभक्ति भिन्न होकर भी अविरोधी अवश्य हैं, वीर के सभी भेद राष्ट्रभक्ति के निकट माने जा सकते हैं। वस्तुतः राजाओं के नायक होने से वीर का परिपाक मध्यवर्ती काव्यों में प्रायः राजोन्मुख रहा, आज अंगीरसादि के आश्रय प्रायः जननेता हैं। वस्तु और नेता काव्य में रसपरिपाक को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं।

मुक्तकों में रस को सकल प्रयोजन मौलिभूत कहना उचित है, किन्तु महाकाव्य चूँकि किसी महउद्देश्य से प्रणीत होता है। वह किसी महापुरुष के प्रेरक व्यक्तित्व का आकलन, आध्यात्मिक, राष्ट्रीय, निराशा में आशा का संचार, सहानुभूति, नवसमाजनिर्मिति, अर्तिनाश का प्रयास आदि एकाधिक अथवा कोई एक हो सकता है। इसलिए अंगुलिगणनीय सहृदयों के मनोरंजन मात्र के लिए न होकर मानव मात्र के कल्याण की भावना से अनुप्राणित रहता है। उसमें आद्यन्त श्रृंगारादि रसों की अभिव्यक्ति कान्तोचित आकर्षण के लिए आवश्यक हो सकती है। किन्तु महाकाव्य का मुख्य लक्ष्य कान्तासम्मितया उपदेश है, सद्यः परनिर्वृति मात्र नहीं।[५०]

"राष्ट्रभक्ति की प्रतिष्ठा तिलक, सुभाष आदि पर आधारित अनेक महाकाव्यों में तो हुई ही है; प्राचीन कथानकों पर आधारित गणपतिसम्भवम् आदि काव्यों में भी इसकी व्यापक अभिव्यंजना हुई है। उदाहरणार्थ :–

"यस्या अंशकणाडणुतोऽस्मि धृतवानेतामनूर्नांतनूम्।
तस्या अंगुलिदध्न देहवलये नान्या गतिं संसहे।।
खण्डानां तु कथैव का ? चणकमोगृहैयेत चेत् तत्कणः।
तस्मै चापि शरीर कंपूजकलयन् कुर्यात् रणं सव्रणम्।।"

(गणपतिसम्भवम्-प्रभुदत्तशास्त्री) ४/१३

(यहाँ बालक गणेश मातृभूमि की रक्षा में सन्नद्ध होकर किसी को नहीं आने देना चाहते। शिव १ जिन्हें गणेश नहीं जानते। भीतर घुसना चाहते हैं) इस पद्य में मातृभूमि के प्रहरी बालक गणेश आश्रय हैं, आलम्बन विभाव शिव हैं, शिव की प्रवेश चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव है, गणेश द्वारा किसी को न आने देना अनुभाव है, तथा उनका अपनी उत्पत्ति के हेतु का स्मरणादि व्यभिचारी भाव है, युद्धोत्साह सम्बलित मातृभूविषयक "अनुराग" स्थायीभाव है और रस है– "राष्ट्रभक्ति"।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस पद्य को पढ़कर सहृदय आनन्दानुभूति करता है, किन्तु इसकी प्रतिक्रिया इनके व्यावहारिक जीवन के लिए भी उपयोगी है। इस पद्य के चारों वाक्य प्रेरक हैं। (१) जिसके अंश या कण और अणुओं से मैंने इस पूर्ण शरीर को पाया है, (२) उसके अंगुलि भर शरीर के टुकड़े पर भी दूसरे के आने को नहीं सह सकता। (३) खण्ड की तो बात ही क्या है? चने के बराबर भी कण यदि कोई लेगा तो (४) मैं उसके लिए शरीर के टुकड़े-टुकड़े करता हुआ, व्रणयुक्त होता हुआ रण करूँगा।[५१]

ध्वनिसिद्ध कवि स्वर्गीय प्रभुदत्तशास्त्री अपने महाकाव्य में राष्ट्रभक्ति की तीव्र अभिव्यंजना के साथ ध्वनिमुख से उसके प्रस्थापन का आचार्योचित प्रयास भी करते हैं।[५२] इसे काव्यशास्त्रीय अनुशीलन वृद्धि से पढ़ने पर सहज ही देखा जा सकता है। भूभक्ति प्रतिष्ठापन हेतु अपने को परीक्षण के लिए प्रस्तुत करते हुए उन्होंने उसका स्थायीभाव "भूरति" माना है।[५३] डॉ० उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी के क्षेत्रपतिचरितम् तथा डॉ० श्रीधर भास्कर वर्णेकर के "शिवराज्योदयम्" इन दोनों काव्यों में भी राष्ट्रभक्ति की उच्चतम प्रतिष्ठा और अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

आचार्य भामह ने प्रायः मूलभूत महाकाव्य तत्त्वों का प्रतिपादन कर दिया था, तथापि युग परिस्थितियों के अनुसार परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने मंगलाचरण आदि वाह्य व्यवस्था से सम्बद्ध बातें जोड़ दीं। महाकाव्यसंरचना की व्यवस्था देते समय उसके आरम्भ में आशीः, नमस्क्रिया और वस्तुनिर्देश का उल्लेख किया गया।[५१] आशीर्वाद और नमस्क्रिया के साथ वस्तुनिर्देश को भी मंगल मानने का कारण यह है कि कवि द्वारा अपने प्रबन्ध का प्रारंभ में संक्षिप्त प्रारूप प्रस्तुत कर देने से समग्र कथावस्तु के व्यवस्थित पल्लवन और रचनागत उद्देश्य की निर्विघ्न पूर्ति में उसे सहायता मिलती है। वस्तुतः वाल्मीकीय रामायण का आदि सर्ग वस्तुनिर्देश ही है। वस्तुनिर्देश का कार्य नायक गुणवर्णन के माध्यम से भी सम्पन्न किया जा सकता है जैसा कि कालिदास ने "रघुवंश" (सोऽहमाज०/५-८) में तथा श्रीहर्ष ने "नैषधीयचरितम्" के प्रारंभ में किया है। महाकाव्यत्व की सिद्धि के लिए वस्तुनिर्देश के अभाव में प्रथम पद्य के प्रकृतिवर्णनादि को वस्तुनिर्देश कहना उचित नहीं है, क्योंकि मंगलाभाव में भी अन्य प्रमुख विशेषताओं के रहने पर किसी कृति को महाकाव्य के पद से नहीं हटाया जा सकता। नमस्कार और आशीर्वाद की अभिस्वीकृति धर्मप्राण देश भारत के जन-जीवन में व्याप्त ईश्वर के प्रति श्रद्धाभक्ति विश्वास का सत्परिणाम है। कुल मिलाकर मंगलाचरण उचित तो है, किन्तु वह काव्य का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार खलनिन्दा, एक सर्ग में एक वृत्त और अन्त में वृत्त परिवर्तन भावी कथा की सूचना, महाकाव्य नाम और सर्गनामआदि कोई विशिष्ट परिभाषणीय विशेषताएँ नहीं हैं और न इनके यत्किंचित् स्वीकार-परिहार से महाकाव्यत्व प्रभावित होता है। वस्तुतः दण्डी और विश्वनाथ[५५] अपने समक्ष उपस्थित काव्य स्वरूपों के उद्गाता और भामह के अनुवादक हैं, कुछ अंशों में रूद्रट में भी यह स्थिति है; किन्तु दण्डी और विश्वनाथ से वे पर्याप्त मौलिक हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भामह द्वारा असंकेतित तथ्यों पर परवर्ती अन्य आचार्यों की कुछ धारणाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। आनन्दवर्धन तथा रूद्रट के अनुसार महाकाव्य में उत्पाद्य (कविकल्पित) अनुत्पाद्य (इतिहास प्रसिद्ध) दोनों प्रकार के कथानक हो सकते हैं। वाल्मीकि[५५] आनन्दवर्धन[५६] और रुद्रट ने महाकाव्य वस्तु की आवर्जकता के लिए कवि कल्पना से उसके परिवर्तन और परिवर्धन की अभिस्वीकृति भी दी है। आधुनिक लोकविख्यात विषय पर काव्य लिखने का वाल्मीकि ने स्वयं के प्रयोग द्वारा तथा कण्ठतः उपात्त करते हुए पहले ही समर्थन किया था।[५६]

आधुनिक भारतीय आचार्यों में स्वर्गीय पं० रामचन्द्रशुक्ल[५८] ने चार प्रमुख तत्त्वों को महत्त्व दिया है– इतिवृत्त, वस्तुव्यापारवर्णन, भावव्यंजना तथा संवाद। इसमें प्रथम तीन तो बहुचर्चित तथ्य हैं, किन्तु "संवाद" एक अत्यन्त अभिलषणीय विशेषता थी जिसकी ओर प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य का लक्षण करते समय ध्यान नहीं दिया। यदि नाट्यसंधियों से वस्तुविन्यास में व्यवस्था आती है तो नाटकीय संवादों की योजना से विषयवस्तु की प्रभावोत्पादकता और आवर्जकता द्विगुणित हो जाती है। वस्तुतः बीज, बिन्दु आदि का सुभग सन्निवेश संवादांशों में ही किया जा सकता है। संवादों के कारण पात्र चित्रण अत्यन्त हृदयस्पर्शी और प्रेरक हो जाता है, जो महाकाव्य संरचना का एक विशिष्ट प्रयोजन है। संवाद के अभाव में सहृदय के समक्ष कवि का माध्यम ओझल नहीं होता, अतः वर्णनीय पात्र का व्यक्तित्व अनावृत रूप में उसके समक्ष नहीं उपस्थित हो पाता। संवादों का महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि आज हम कहते हैं– गीता में– स्वयं भगवान् ने कहा है– रामायण में स्वयं राम ने कहा है, व्यास अथवा वाल्मीकि ने कहा है ऐसा नहीं और पात्रचित्रणादि की महत्ता के कारण ऐसे कवि को भी भगवान् कह सकते हैं। कवि को समग्र रचना में ऐसा वर्णन करना चाहिए कि कवि के स्थान पर पात्र का व्यक्तित्व ही अनावृत रूप में दिखे और पात्र इतना महान् लगे कि उसकी बात टालना सामाजिक को व्यावहारिक जीवन में भी सहज सम्भव न हो। यह कार्य संवादों के माध्यम से विशेष रूप से सम्भव है। कवि का व्यक्तित्व और उसका दृष्टिकोण पात्रों के माध्यम से ही व्यक्त होना चाहिए।[५९]

पात्र-चित्रण के संबंध में श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय[६०] ने एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही है कि देवचरित्र के प्रणयन में भी कवि को उसे मनुष्य पात्र के साँचे में ढालकर प्रस्तुत करना चाहिए। बंकिम बाबू के इस कथन पर विचार करने के पूर्व यह नहीं भूलना चाहिए कि इस आदर्श का प्रस्तुतीकरण प्रथमतः वाल्मीकि ने किया था। वाल्मीकि के कण्ठतः उपात्त "ज्ञातुमेवं विधं नरम्" पर आचार्यों ने गहराई से नहीं सोचा। देवपात्रों का मानवोचित वर्णन मानवीय मनोवृत्तियों को उद्‌बुद्ध करने में समधिक समर्थ होने के कारण सहज ही आस्वाद के धरातल पर उतर जाता है और सामाजिक द्वारा तत्पात्रानुकृति स्वभावतः संभव हो जाती है। परब्रह्म परमेश्वर के रूप में राम के उद्धाता तुलसी को "मानस" लिखते समय इस तथ्य का गहराई

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

से अनुभव हुआ है। वे वाल्मीकि जैसे विराट प्रतिभा संपन्न कवि के नर को उनके प्रभाव के कारण ही भक्ति के व्यामोह में नारायण बनाने जा रहे थे, आखिर निगमनेति शिव ध्यान न पावा। माया मृग पाछे सो धावा।। '६और महाशक्ति'' सीता के अपहरण का क्या स्वारस्य होता? इसके समाधान के लिए आज के विश्वश्रेष्ठ कवि तुलसी को– ''सुनहु प्रियाव्रत रुचिर सुशीला, हम कुछ करब ललित्र नर लीला''– का स्पष्टीकरण देते हुए, मानवोचित वर्णन में प्रवृत्त होना पड़ा। इसीलिए ''वाल्मीकि तुलसी भये'' यह आज की सहज सहृदयाभिस्वीकृति है। कुल मिलाकर पात्रों की प्रतीति असंभव या कोरी कल्पना जैसी चीज नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार देवपात्रों का अधिकांश में मानवीयकरण तत्संबद्ध महाकाव्य का एक अनिवार्य तत्त्व है।

पात्रों (प्रकृतियों) के संबंध में प्राचीन काव्यशास्त्रियों (प्रायः सभी) ने विचार किया है, किन्तु महाकाव्य (प्रबन्धरचना) के पात्रों के प्रस्तुतीकरण की व्यवस्था देते समय (विशेष रूप से आनन्दवर्धन[६१] तथा मम्मट[६२] ने। दिव्य (देव) पात्रों द्वारा ही स्वर्गलोक-गमन, पातालगमन और समुद्रलंघन आदि के वर्णन का औचित्य प्रतिपादित किया है। यह तो सर्वात्मना उचित है क्योंकि अदिव्य (मानव) पात्रों में यह अस्वाभाविक होगा। इससे काव्य में पात्र-चित्रण के औचित्य की आचार्य ने एक मानव और देव की भेदवादी व्यवस्था कर दी। इससे मानवेतर पात्रों का कार्य सहृदय की श्रद्धा का विषय तो हो सकता है, परन्तु उसका अनुकरणीय नहीं हो सकता, क्योंकि सामाजिक में विश्वास जम जाता है कि यह कार्य मनुष्येतर है इसके अनुकरण के व्यामोह में हमें नहीं पड़ना चाहिए। परिणाम यह होता है कि उस देवपात्र के सामान्य कार्य जो मानवोचित और मानवानुकरणीय होते हैं उनके प्रति भी वही विश्वास कार्य करता है और देवपात्र का समूचा व्यक्तित्व अनुकरण का विषय न होकर मात्र श्रद्धा का विषय बन जाता है, जिससे प्रायः अन्धभक्ति का हृदय तो सकता है किन्तु काव्यकार के महदुद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाती। भामह का ''लोकस्वभाव'' शब्द अधिक व्यापक था चूँकि आनन्दवर्धन जैसे मौलिक आचार्य ने ऐसी व्यवस्था दे दी, इसलिए स्वयं उन्होंने तथा बाद के कुछ आलोचकों ने योग और भोग, देवत्व तथा मनुजत्व के संगम का विलक्षण और अनकरणीय उपक्रम करने वाले वाल्मीकि के ही वाग्द्वार से प्रविष्ट किन्तु काव्योपक्रम में सर्वथा मौलिक महाकवि कालिदास के कुमारसंभव के संयोग श्रृंगार को आलोचना का विषय बना दिया। वस्तुतः भामह समर्थित काव्य की ''लोकस्वभावता'' के महनीय रहस्य से हटकर शिव-पार्वती को काव्य में भी सर्वत्मना देवता मानने के भविभरित व्यामोह के कारण ऐसा हुआ। जब तक देवपात्र को मानवीय बनाकर नहीं प्रस्तुत किया जायेगा, वह पूर्णतः उपयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से आधुनिक महाकाव्यों में गणपतिसंभवम् के प्रणेता स्वर्गीय प्रभुदत्त शास्त्री का प्रयास सराहनीय है। वस्तुतः मानवपात्र में देवत्व की प्रतिष्ठा और देवपात्र में मनुजत्व की प्रतिष्ठा ही कवि का बुद्धिचातुर्य और

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

पात्र-चित्रण का औचित्य है। इसके लिए कालिदास के रघुवंश के 'रघु' और 'राम' ''कुमारसंभव'' से 'शिव' को आदर्श मानक माना जा सकता है।

पश्चात्य विचारकों में अरस्तु डब्लू० पी. केर, डिक्सन, एबरक्रोम्वी, सी० एम० बावरा., प्रभृति ने महाकाव्य के संबन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं।[६३] इन विचारकों ने ''महाकाव्य'' को ''एपिक'' (महाकाव्य) अथवा ''हिरोइक पोयट्री'' (वीरकाव्य) इन दो नामों से अभिहित किया है। ये दो प्रकार के होते हैं–

१. एपिक ऑफ ग्रोथ[६४] (विकसनशील महाकाव्य)

२. एपिक ऑफ आर्ट[६५] (कलात्मक महाकाव्य)। इनके अनुसार महाकाव्य के अन्तस्तत्व चार हैं– १. महान् उद्देश्य, २. महच्चरित्र, ३. महती घटना और ४. समग्र जीवन का प्रभावपूर्ण चित्रण।

इनकी स्थापनाओं का सार यह है :–

१. कथावस्तु ऐतिहासिक, जातिकथा पर आधारित, किसी विशिष्ट घटना से संबद्ध होने के साथ यथोचित खण्डों में विभक्त होनी चाहिए तथा उसे किसी विशिष्ट उद्देश्य अथवा कार्य या कार्यततियों की ओर क्रमशः विकासमान होना चाहिए।

२. उसका नेता अत्यन्त वीर, विद्वान् और राष्ट्र या जाति के प्रतिनिधित्व की क्षमता से युक्त होना चाहिए। उसमें लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के प्रमुख तथा गौण पात्र हो सकते हैं।

३. समग्र रचना एक विशिष्ट (वीररसात्मक) पराक्रमणपूर्ण प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम होनी चाहिए।

४. उसमें युगजीवन का व्यापक अभिव्यंजन तथा यथापेक्षित अवान्तर कथाओं की योजना की जानी चाहिए।

५. उसकी भाषा प्रौढ़, उदात्त और भव्य होनी चाहिए।

६. उसमें केवल एक शक्तिशाली छन्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।

७. उसका उद्देश्य आध्यात्मिक, भौतिक, मनःशुद्धि, निराश में आशा का संचार, सहानुभूति, सद्भाव, आर्तिनाश का प्रयास, नवीन समाज का निर्माण आदि में से एक या एकाधिक हो सकता है। इस प्रकार पाश्चात्य और पौरस्त्य विचारकों के आत्मतत्त्व विवेचन में कोई विशिष्ट अंतर नहीं है। उक्त समस्त तत्त्वों को पौरस्त्य काव्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों में सरलता से अन्तर्भुक्त किया जा सकता है।

डॉ० नगेन्द्र[६६] ने महाकाव्य के अन्तस्तत्त्वों का निर्धारण प्रायः पाश्चात्य समीक्षा से प्रभावित होकर किया है। डॉ. शम्भूनाथ सिंह[६७] भारतीय तथा पाश्चात्य लक्षण की अपेक्षाकृत विस्तृत समीक्षा करके अन्ततः डॉ० नगेन्द्र से मिलता-जुलता मानदण्ड निर्धारित करते दिखाई देते हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत में तथा हिन्दी के महाकाव्यों पर प्रबन्ध लिखने वाले कतिपय अन्य अनुसंधित्सुओं ने प्रायः महाकाव्य की भारतीय तथा पाश्चात्य मान्यताओं का संग्रह करके अंत में स्वयं द्वारा परिभाषा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

निर्धारित करने का प्रयास किया है।[66] इन अनुसंधायकों में आचार्यों तथा अपने पूर्व शोधकर्ताओं की महाकाव्य की परिभाषाओं की आलोचना-प्रत्यालोचना का संरम्भ भी दिखाई देता है, जो उत्तेजक भी हैं और मनोरंजक भी। इनके चिन्तन का भी अपने आप में महत्त्व है। इनमें कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो पूर्वचर्चित आचार्यों से भिन्न तथा उल्लेखनीय हो।

उक्त महाकाव्य तत्त्वानुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि महाकाव्य संबन्धी मान्यताएँ समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। महाकाव्य की नई मान्यताओं के आधार पर विगत युग के लब्धप्रतिष्ठ महाकाव्यों को उनके यशस्वी पद से नहीं वंचित किया जा सकता। उदाहरणार्थ, संस्कृत की "लघुत्रयी" तथा "वृहत्त्रयी के जिन कालजयी कवियों की विराट् प्रतिभा का प्रखर आलोक काव्यशास्त्राचार्यों की दृष्टि को चकाचौंध करके ऐसा होना चाहिए के स्थान पर ऐसा है"– कहने के व्यामोह से ग्रस्त कर दिया, कलात्मक सौन्दर्य की चरम शताब्दियों तक कोई महाकाव्य उस स्तर पर सहृदयों को आकर्षित करने में समर्थ न हो सका, जिन्होंने विद्वानों के शास्त्रीय अहंकार ज्वर को अपनी काव्यौषधि से व्यपगत कर दिया, इतिहास के स्वर्णाक्षरों में उल्लिखित उनके नाम को भला कौन अमूर्ख न रेखांकित करना चाहेगा।

युगानुरूप आज राष्ट्र के संविधान संशोधन के युग में काव्य संविधान का अनुचिन्तन और पुनर्निर्धारण अनिवार्य हो गया। अब (राष्ट्र और काव्य का) नेता जाति, लिंग अथवा स्थान के आधार पर नहीं चुना जाता, राष्ट्ररंजक प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष अपने लोकमान्य उदात्तगुणों और कार्यक्षमताओं के आधार पर (उभयत्र) नेतृत्व कर सकता है। नेता का निर्वाचक (जनता या कवि) सम्प्रति स्वतन्त्र अवश्य है किन्तु स्वच्छन्द नहीं, राष्ट्रीय शाश्वत आदर्शों और प्रतिमानों के अनुकूल कदम उठाना ही विवेक सम्मत है। विगत संविधान उस युग की परिस्थिति के अनुसार उचित था और वर्तमान आज के अनुसार उचित है। प्राचीन श्रद्धेय है, नवीन स्वागतार्ह।

आधुनिक संस्कृत महाकाव्यकारों ने प्राचहन संस्कृत महाकाव्यों से पर्याप्त प्रेरणा ग्रहण की है, किन्तु अपने नवोन्मेष को अन्धानुगामी नहीं रखा है। इन महाकाव्यों में परम्परा के प्रति श्रद्धा और आधुनिकता के प्रति आकर्षण दोनों का मधुरिम संगम दिखाई देता है। अधिकांश महाकाव्य युगबोध से शतधा अनुप्राणित हैं तथापि प्राचीन काव्यशास्त्रीय कसौटी पर खरे उतरते हैं। ऐसे महाकाव्य अवश्य ही अधिक व्यवस्थित और आकर्षक हैं। इन महाकाव्यों में शारीरिक चेतना की अपेक्षा सामाजिक और राजनीतिक चेतना को महत्त्व दिया गया है। इनमें राष्ट्रभक्ति का पदे-पदे दर्शन होता है। आज पाण्डित्य प्रदर्शन, अलंकारिक चमत्कृति और कवि प्रौढ़ौक्तिसवंलित कल्पना वैशिष्ट्य का युग लद गया है। अधिकांश महाकाव्य वाल्मीकि की स्वाभाविकता और कालिदास के प्रसाद ललित उद्गारों से अभिमण्डित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

हैं। दो हजार वर्ष की लम्बी यात्रा के अनन्तर संस्कृत कविता जहाँ से चली थी वहीं पहुंच गई, किन्तु लौटी युगबोध की सजगता और अन्य भाषा सम्पर्क का गहरा प्रभाव लेकर। महाकाव्य के परिवर्तमान रूप का अवलोकन कर उसकी निश्चत परिभाषा देना कठिन है। तथापि पूर्वाचार्यों के मतांशों और अर्वाचीन महाकाव्यों की प्रवृत्ति को देख कर महाकाव्य की परिभाषा निश्चित करने का एक विनम्र प्रयास किया जा रहा है, जो कदाचित् प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के महाकाव्यों के स्वरूप को आरेखित कर सके–

संगर्वृत्तैश्च[१] बद्धं सहृदयहृदयाह्लदयाह्लादिशब्दाधंरम्यं[२]
सर्वादेश्चोच्चव[३] शिल्पैः[४] सततरसमयं'[५] ग्रन्थिमुवक्तम्[६] समृद्धम्[७]।
पात्र स्याद् यस्य मुख्यं परम गुणयुतं लोकविवज्ञात वृन्तम्[८]
भव्य[९] लोस्वभाव'[१०] महदपि महता'[११] तन्महाकाव्यमास्ते।।

(स्वरचित पद्य)

अर्थात् ऐसी प्रबन्ध रचना "महाकाव्य" है–

१. जो छन्दोबद्ध और सर्गबद्ध (वस्तु का तद्गत विषय के अनुरूप अन्योन्य संबद्ध किन्तु स्वयं में किसी विशिष्ट घटना या वर्णन से पूर्ण और तदैपेझित समान, लघु अथवा दीर्घ अनेक खण्डों में विभक्त) हो।
२. जो सहृदय (पाठक अथवा श्रोता) के हृदय को आल्हादित करने में समर्थ शब्दों और अर्थों से रमणीय हो।
३. जिसमें अधिकाधिक संवादों की योजना हो। (क्योंकि संवादों में पात्रों का व्यक्तित्व अनावृत्त रूप में पाठकों के समक्ष उपस्थित होता है।)
४. जिसका शिल्पविधान (वस्तु के मार्मिक स्थलों की परख, अभिव्यंजना जीवनदर्शन, युगोचित पात्रचरित्र विकास आदि) उच्च स्तरीय हो।
५. जो निरन्तर (प्रारंभ से अन्त तक) अन्वितिपूर्ण और रसमय (आह्लादक) हो।
६. जो क्लिष्ट प्रयोगों (सुकुमारमति पाठकों के अर्थावबोध में बाधक शब्दौ', अर्थों और शास्त्रीय गुत्थियों) से रहित हो।
७. समस्त वैभवों (नागरिक और प्राकृति वस्तु सम्पृक्त सन्तुलित वर्णनों) से सम्पन्न हो।
८. जिसका प्रमुख पात्र (नायक, किसी भी जाति, वंश, स्थान या लिंग (स्त्रीलिंग यझ पुरुष) का हो किन्तु अपने उदात्त कार्यों से) लोकविख्यात (केवल लोक में विख्यात मात्र नहीं उसे काव्य में तथाविध पल्लवित किया गया हो) और श्रेष्ठ गुणों (शाश्वत मानवीय मूल्यों जिन्हें लोक श्रेष्ठ स्वीकार करता हो) से समन्वित हो।
९. जो कल्याणकारी (मंगलमय) हो।
१०. जो लोकोचित स्वभाव (यथार्थ और औचित्य) से समन्वित हो।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

११. जिसका (वस्तुविषय पात्र-चित्रण, रचना-शिल्प और उद्देश्य) महान् से भी महान् हो।

वह महाकाव्य है।

सन्दर्भ

१. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ।।काव्यप्रकाश (१/२)

२. शक्तिर्निपुणतालोक-शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।। काव्यप्रकाश (१/३)

३. द्रष्टव्य– सागरिका १३/२ में प्रकाशित मेरा शोधपत्र, "रामायणे कण्ठतोऽपि कृतं महाकाव्यलक्षणम्"।

४. (क) महाभारत आदिपर्वअनुक्रमणिका प्रथमाध्याय, ६१-६३, ७३, १२८
(ख) रघुवंश १/१, (ग) शिशुपालवध, १६/४१ इत्यादि।

५. भामह से पूर्व वाल्मीकि ने महाकाव्य को "सर्गान्वितं" कहा था–
सुश्रावतत्तालयोपपन्नं "सर्गान्विर्तं" सुस्वर शब्दयुक्तम् (वा० रा० उत्तर का० ६४/३२)

६. किं प्रमाणमिदं काव्यं का प्रतिष्ठा महात्मनः।
कर्ताकाव्यस्य महतः भवासौ च मुनिपुंगवः।। (बा० रा० उ० ६४/२४)

७. "अष्टसर्गान्नतु न्यूनं त्रिंशत् सर्गाच्च नाधिकम्-ईशानसंहिता तथा
"नातिस्वल्पाः नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह" साहित्य दर्पण, ६/३२०)

८. चतुरोदात्त नायकम्– काव्यादर्श, १/१५

६. तत्र त्रिवर्ग सक्तं समिद्वशक्तित्रयं च सर्वगुणम्।
रक्त समस्त प्रकृति विजिगीष्णु नायक न्यसेत्।। काव्यालंकार १६/८

१०. तत्रैकोनायकः सुरः, सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एक वंशमवा भूपा कुलजा वहवोऽपि वा। साहित्यदर्पण, ६/३२६

११. द्र० बा० रा० बा० ३/३५, ३/१, २/८,

१२. तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वागविदां वरम्।
नारदं परिपच्छ बाल्मीकिर्मुनिर्पुगवम्।। बा० रा० बा० १/१

१३. श्रुत्वा चैतत् त्रिलोकज्ञो' बाल्मीकेर्नारदो वचः।। बा० रा० बा० १/६ इस संदर्भ में विचार करने पर काव्यप्रकाश के काव्यज्ञशियाभ्यासः"– का स्वारस्य स्पष्ट हो जाता है।

१४. अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनति विस्तीर्णैः श्रव्यवृतैः सुगन्धिभिः ।। काव्यादर्श– १/१८

१५. प्रतापरुद्रय, काव्य प्रकरण, ६८/७०

१६. उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैः ...... तथा तदुपगतसमास सन्धियोगं समयघुरोपनतार्थं वाक्यवद्वम् - - ० बा० रा० बाल० २/४२, ४३

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१७. क्लिष्ट काव्य का विरोध भामह ने अनेक स्थानों पर किया है। काव्यान्यपियदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव दृन्त दुर्मेधसो हताः।। काव्यालंकार २/२०

१८. प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यवन्धाः सुखावहाः। ये च तेषु प्रकारोऽयमेव योज्यः सुमेधसा। ध्वन्यालोक– ३/३६। इसी प्रकार रुद्रट भी कठिन काव्य के विरोधी हैं द्रष्ट० का० ल० रू० १२/१, २

१९. नगरार्णव शैलर्तुचन्द्राकेदिय वर्णनैः, उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः मन्त्रद्रतप्रयाणा जिनायकाभ्युदयैर पि।।
काव्यादर्श १/१६, १७ प्रायः यही सब विश्वनाथ ने भी गिनाया है। द्र० साहित्य दर्पण– ६/३२२-२३/ बा० रा० बालकाण्ड, ३/८

२०. न्यूनमप्यत्र यैः केश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
यद्युपादेषु सम्पत्तिराराणयति तद्विदः।। काव्यादर्श १-१/२०

२१. द्र० साहित्यदर्पण, ६/३२४

२२. कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुति मनोहरम्।। बा० रा० बाल० ३/८

२३. काव्यादर्श- १/१५

२४. चत्वारस्तस्य वर्गास्युत्स्तेष्वे च फलं भवेत् साहित्यदर्पण- ६/३१८

२५. सन्धिसन्ध्यगघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्र स्थिति सम्पादनेच्छया।। ध्वन्यालोक- ३/१२

२६. सन्ध्यंगानि यथालाभमत्र विधेयानि साहितयदर्पणवृति पृ० ५५१ चौ० डा० सिंह।

२७. संधीनपि संश्लिष्टसिन्नामन्योन्य संबन्धात्। काव्यालंकार (रुद्रट) १६/१६

२८. स्वराष्ट्ररंजनं चैव। बा० रा० बाल० ३/३८

२९. अनोचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धुस्तु रसस्योप निषत्परा।। ध्वन्यालोक ३/१० की वृत्ति पृ० १६० आ० वि०

३०. द्र० ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत चौदहवीं कारिका के बाद की वृत्ति।

३१. रसैः श्रृंगार करुण हास रौद्र भयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यम्। बा० रा० बाल० ४/६ तथा द्रष्टव्य बा० रा० बाल० ४/१७, १८, ३४, ३५

३२. प्रसिद्देऽपिप्रबन्धानां नानारसनिबन्धने। एकोरसोंऽगीकर्तव्यस्तेषामुत्कर्ष मिच्छता।। ध्वन्यालोक ३/२१ तथा द्र० ध्व० ४/५

३३. द्र० काव्यादर्श १/१८

३४. द्र० का० ल० सं० १२/२

३५. द्र० वक्रोक्तिजीवित ४/११, २६

३६. श्रृंगार वीरशान्तानाकोक्षी रस हष्यते। सा० द० ६/३१७

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३७. प्रवन्धे चांगीरस एक एवोपनिवध्यमानोऽर्थ, विशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णति, कस्मिन्निवेतितेत् यथा रामायणे यथा वा महाभारते।
रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिक विना सूत्रितः शोकः श्लोकत्वमागतः इत्यैवं वादिना निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्त-वियोग-पर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। ध्वन्या० ५/५ वृति।

३८. साऽनुव्याहणादभूयः शोकः श्लोकत्वमागतः
तस्यबुद्धिरियं जाता महर्षे भावितात्मनः।
कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशैः करवाण्यहम्। वा० रा० बाल० २/४०, ४१
यहाँ ध्वन्यात्मक रूप से आदि कवि ने अपने काव्य के रस परिपाक का संकेत किया, जिसे ध्वनिकार ने उक्तोदाहरण में पहचाना है।

४०. एको रसः करुण एव निमित्तमेदादभिन्नः। उत्तरा० ३/४७

४१. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथांऽजितः भावः प्रौक्तः। काव्यप्र. ४/३५

४२. राष्ट्रभक्तिरस के उद्धरणों के लिए द्र० समालोचित महाकाव्यों के रसपरिपाक वाले अंश (संस्कृत महाकाव्यों का समालोचनात्मक अध्ययन)

४३. करुणादावधि रसे जायते यत्परं सुखम् सचेतमनुभवः प्रमाण तत्रकेवलम्! (सा० द० ३/४)

४४. रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनाभिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिध्वपि तन्निकाम मस्तीति तेऽपि रसाः।
रसानामिति। आचार्यर्भरतादिभिरेषां' स्थायिभावना रसनादा-
स्वाद नाद्वेतौ रसत्वयुक्तम्। केषामिव मधुराम्लादीनामिव। मधुरा-
दयोह्यास्वाधमानाः सन्तो रसतां यान्तीति। उक्तं च– अनेक द्रव्य
संयुक्तैर्व्य जनैर्वहुमि श्चितम्। आस्वादयन्तियुजाना भक्तं भक्तभुजो
यथा।। भावाभिनय संबंधान् स्थायिभावास्तथा रसान् । आस्वादयन्ति
मनसा तस्यान्नाद्यै रसाः स्मृताः।। स्यादेतत् यथायिभावागंमेव
रसनं भविष्यतित्याह निर्वेदादिष्वपि तद्रसनं निकाम मस्तीति हेतांस्ते
ऽपि रसा ज्ञेयाः। यस्यतु परिपोषं न गतास्तस्य भावा एवते अयमाशयो
ग्रन्थकारस्य- यदुत नास्ति सा कोऽपि चित्त वृत्तियाँ परिपोषं
गतान रसीभवति। भरतेन सह्वदयावर्जकत्वप्राचुर्यात्संज्ञां चाश्रित्याष्टो
नवा वा रसा उक्ता इति।। काव्यालंकार (रूद्रट) १२/४ तथा उस पर नमि साधु की टिप्पणी।

४५. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य भक्तिरसार्णव का अष्टम निबन्ध "रस स्वरूप विमर्शः भक्तिरसश्च" ले० स्वामी श्रीहरिहरानन्दसरस्वती (करपात्री)

४६. भवन्निष्टैष्टसाधनता विषयकत्वमैव भक्तैः प्राणः। तस्यैव भगवदृगुणगण श्रव्यानिवन्यनत्व सम्भावत्। अत एव भगवदालम्वनस्य रोमांचाश्रुपाता दिभिः अनुभावितस्य श्रीहर्षादिभिः परिपोषितत्य श्री मद्भागवतादि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

गुण श्रवणसमये भक्तेरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य न रसान्तरेऽन्तर्भावः सम्भवति। भगवदनुसंगरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभाव इति तत्वम्। न च भक्तिरसस्य शान्तरसेऽन्तर्भावः अनुरागस्य निर्वेद विरुद्धत्वात्।। वही- पृ. १५३

४७. कथावशिष्टे मयितद् भवद्गणो मदेकवर्त्भावतु राष्ट्रमात्मना। दिनेशमुक्तं भुवनं यथा शशी तदीयधामामिनिविष्टदीधितितिः।। (क्षत्रपतिचरितम् डॉ० उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी ८/२६)

४८. युद्धमुक्तं भगवता स्वर्गद्वारमावृतम्। तस्वराष्ट्रहितार्थं चेत् मुक्तिद्वारं मतं मम।। योगिभिश्चाऽपि कालेऽस्मिन् युद्धयोगेन साध्यताम्।। आत्ममुक्तिं तिरस्कृत्य राष्ट्रमुक्तिर्महीयसी।। शिवराज्योदय् (डॉ० श्रीधरभास्कर वर्णेकर) ११/२७/२६

४६. वाल्मीकिरामायण गान के समय समाज के प्रत्येक कार्यों में संलग्न लोगों ने आनन्दानुभूति की थी।– कलामात्र विशेषज्ञान ज्योतिषे च परं गतान्। क्रियाकल्प विदश्चैव यथा कार्यविशारदान।।
स्तान् सर्वान् समानीय गातारौ समवेशयत। वाल्मी० रा० उत्तर का० ६४/७/१० इसी प्रकार रामचरित मानस का महत्त्व उसके रसपरिपाक की अपेक्षा लौकिक धरातल पर जीवन को उदात्त प्रेरणा देने के कारण है। वैसे काव्य में रस आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है ही।

५०. यह पद्य पाकिस्तान (१६६५) के युद्ध के बाद का है, जिसमें संस्कृत महाकवि ने गणपति के माध्यम से एक राष्ट्रभक्त के युगीनस्वर का शोभन अनुकरण किया है।

५१. शास्त्रार्थशस्त्रीभाव (चतुर्थ सर्ग) में बालक (गणेश) और शिव का संवाद है। उस बालक का राष्ट्रभक्ति स्थापना का सिद्धान्त पक्ष है और शिव का पूर्वपक्ष। काव्यशास्त्र में कृतश्रम विद्वानों को एक बार यह महाकाव्य अवश्य पढ़ना चाहिए विशेष रूप से द्र० ४/१३-२६

५२. द्र० गणपतिसम्भवम् ४/१४

५३. द्र० काव्यादर्श १/१४ तथा साहित्यदर्पण ६/३१६

५४. सा० द० में दृष्यते (६/३२६) भवन्ति (६/३२५) आदि प्रयोग भी इस बात के प्रमाण हैं।

५५. बा० रा० बा० २/३३-३६, ३/१

५६. इतिवृतवशयातां व्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ३/११ उत्पेक्ष्याप्यन्तरामीष्टरसोचितकयोन्नयः।। ध्वन्या० ३/११

५७. बा० रा० बा० १/२

५८. तुलसीदास पृ. ३६६ तृ० सं० (१६५३)

५६. असीम प्रतिभा सम्पन्न कालिदास के नायकों में कालिदास बोलते हैं, और नायिकाओं में उनकी कविता की रचना-प्रक्रिया और उन्हीं के काव्य का वैशिष्ट्य

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आदि महाकवि कालिदास परिचय और मूल्यांकन के कंचन भी हैं, कसौटी भी। उदाहरणार्थ–

मान्यः समे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः। रघु० २/४४।

गुर्वर्ध्थमर्धीश्रुतपारदृश्वा० (रघु०५/२४) तदेषसर्गः करूणार्द्रचित्तैः (१४/४२ रघु०) अनाघ्रातंपुण्यं० (शाकु०२/१०) (इतनी सुन्दर कविता पता नहीं कौन पढ़ेगा। इतना कहकर भी वे अपने व्यक्तित्व को सर्वथा आवृत रखते हैं। और भी कालिदास का सम्रग साहित्य।

६०. द्र० प्रकृत और अति प्रकृत-बंकिम ग्रन्थावली, पृ० ५६-५७

६१. द्र० ध्वन्या० ३/१० विभावानुभाव संचा० की वृत्ति।

६२. द्र० काव्य प्र० ७/६२ प्रकृतीनां विपर्यय : की वृत्ति।

६३. इनके सिद्धान्तों के लिए द्रष्टटव्य तत्तद् ग्रन्थ तथा इनके तुलनात्मक अध्ययन के लिए डा० नगेन्द्र के द्वारा सम्पा० अरस्तू का काव्यशास्त्र तथा उनके अन्य निबंध और डॉ० शम्भूनाथ सिंह का– हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास नामक शोध प्रबन्ध।

६४. उदा० इलियड, ओडसी० (होमर), रामायण (वाल्मीकि)।

६५. उदा० पैराडाव्जलास्ट (मिल्टन) रघुवंश, कुमारसंभव, (कालिदास)।

६६. डॉ० नगेन्द्र के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध (सम्पा० भारतभूषण अग्रवाल) पृ. २५

६७. हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास (डॉ० सिंह) (द्वितीय अध्याय)।

६८. संस्कृत (१. तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी के जैन संस्कृत महाकाव्य) डॉ० श्यामा शंकर दीक्षित २. संस्कृतमहाकाव्य परम्परा कालिदास से श्रीहर्ष तक (डॉ० केशवरावपसलगांवकर), हिन्दी– १. बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध के महाकाव्य (डॉ० प्रतिपालसिंह) २– हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य (डॉ० गोविन्दराम शर्मा) ३. आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों का शिल्प-विधान (डॉ० श्यामनन्दन किशोर) ४. हिन्दी महाकाव्यसिद्धान्त और मूल्यांकन (श्रीदेवीप्रसाद गुप्त) अभी तक महाकाव्यों पर प्रकाशित ये शोधप्रबंध हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१०

संगीत और काव्य का अविनाभाव संबंध (सूरसागर के परिप्रेक्ष्य में)

डॉ. प्यारे लाल श्रीमाल 'सरस पंडित'

संगीतशास्त्र में 'वाग्गेयकार' उस व्यक्ति को कहा गया है जो कवि है और गायक भी। भक्तप्रवर सूरदास की ख्याति कवि के रूप में अधिक अवश्य है किन्तु वे उतने ही श्रेष्ठ संगीतज्ञ भी थे। सूरसागर के पदों पर अंकित रागों के नाम इस बात का लिखित प्रमाण है। श्री हरिरायजी ने भी लिखा है– "सूरदास को कंठ बहुत सुन्दर हतो। सो गान विद्या में चतुर और सगुन बतायबे में चतुर। सो उहां हूं बहोत लोग सूरदासजी के पास आवते। उहां हूं सेवक बहौत भए। सो सूरदास जगत में प्रसिद्ध भये।"[१] भक्त ध्रुवदासजी ने गायक सूरदास की प्रशंसा इन शब्दों में की है–

परमानन्द अरु सूर मिलि गाई सब ब्रज रीति।
भूलि जात विधि भजन की सुनि गौपिन की प्रीति।।[२]

बादशाह अकबर द्वारा सूरदास के मुखारविन्द से पद श्रवण किया जाना भी सूर का महान् संगीतज्ञ होना सिद्ध करता है। राग बिलावल में निबद्ध 'मना रे तू करि माधौ सौं प्रीत' यह पद सूरदास ने अकबर को सुनाया था।

यह पता नहीं चलता कि सूरदास के संगीत गुरु कौन थे, पर थे कोई विशेषज्ञ ही। क्योंकि गऊघाट पर अनेक लोग सूरदास के पास संगीत की शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उनकी पदरचना एवम् गानविद्या से प्रभावित होकर ही महाप्रभु वल्लभाचार्यजी ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया था। वैसे अष्टछाप के आठों भक्त उच्चकोटि के कवि होने के साथ गायक भी थे, किन्तु उनमें सूरदास का ही स्थान सर्वोपरि था। सर्वोपरि होने का कारण केवल उनका कण्ठ ही नहीं था, अपितु उनकी वे रचनाएँ, जिन्होंने लोकमानस को भावविभोर कर दिया, भी थीं। दूसरे शब्दों में, सूरसागर के कारण ही उनका स्थान सर्वोपरि था। सूरसागर की सांगीतिक महत्ता को समझने के लिए तत्कालीन प्रचलित संगीत की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालना यहाँ समीचीन होगा।

महमूद गजनवी के आक्रमण के पश्चात् इस देश में जो राजनैतिक अस्थिरता आई, उससे भारतीय संगीत की समृद्ध परम्परा को भी भारी क्षति पहुँची। १३वीं शताब्दी तक तो संगीत की दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी थी। आचार्य सुधाकलश ने 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' में लिखा है कि– "इस युग में नर्तक मूर्ख हैं और विद्वान्

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

साधक नहीं हैं।"[३] आचार्य सुधाकलश अमीर खुसरो के समकालीन थे। अमीर खुसरो ने अपने सूफी गुरु शेख निजामुद्दीन चिश्ती के निर्देशन में ऐसी ग़ज़लों की रचना की जिनका वाच्यार्थ लौकिक प्रेमपरक तथा व्यंग्यार्थ भक्तिपरक था। समूह रूप में गाने पर यही ग़ज़लें कव्वाली के नाम से प्रचलित हुईं। ग़ज़ल और कव्वाली की भाषा ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने ब्रजभाषा में ध्रुवपदों की रचना करवा कर संगीत की परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का महान् श्रेयस्कार कार्य किया।' मानसिंह ने विष्णुपदों के रूप में भक्तिपरक पदों की रचना कराई, फलतः जयदेव और विद्यापति की शैली पुष्टिमार्ग के अष्टछाप के गेय पदों के रूप में उभरी और श्रृंगारपरक 'ध्रुवपद' ब्रजभाषा के माध्यम से ग़ज़लों के जवाब में उभरे। खुसरो वाद से आक्रान्त संगीत गंगा को एक नया मोड़ मिला, जिसकी धारा से मुगल दरबार अभिसिंचित हो गया। मुगलों की राजधानी ब्रज के अन्तर्गत आगरा में थी, अतः ब्रजभाषा के माध्यम से उभरा हुआ ध्रुवपद मुगल सम्राटों के मानस पर छा गया और अधिकांश कव्वाल दिल्ली, जौनपुर इत्यादि में रह गए।[४] दरबारों में गाए जाने वाले पद ध्रुवपद तथा भक्त कवियों द्वारा रचे पद विष्णुपद के नाम से प्रचार में आए। फकीरुल्ला ने 'विष्णुपद' का उल्लेख इस प्रकार किया है– "मथुरा में एक राग और गाया जाता है जिसे विष्णुपद कहते हैं। उसमें चार बोल से लेकर आठ बोल तक होते हैं। उसमें कृष्णजी की स्तुति होती है। इसमें पखावज बजाई जाती है।"[५] लोकभाषा में होने के कारण ध्रुवपद और विष्णुपद अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। बैजू, बख्शू, तानसेन आदि ने जहाँ ध्रुवपद के भण्डार को भरा, वहीं स्वामी हरिदास, अष्टछाप के कवि आदि सन्तों ने असंख्य विष्णुपदों की रचना करके भक्ति की ऐसी अजस्रधारा प्रवाहित की जिसमें भारतीय लोकमानस आकण्ठ निमग्न हो गया। सर्वाधिक पदों की रचना सूरदास ने की तथा सर्वाधिक लोकप्रियता भी उनके ही पदों ने प्राप्त की। अतः धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवम् सांगीतिक दृष्टि से 'सूरसागर' सूर की महान् कृति है। यही कारण है कि अष्टछाप में सूर का स्थान सर्वोपरि है।

पुष्टि सम्प्रदाय में व्यवहृत संगीत 'हवेली संगीत' के नाम से विख्यात है। मंगला, श्रृगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, आरती तथा शयन भगवान की ये आठों नित्य लीलाएँ तथा सभी उत्सव संगीत प्रधान हैं। इस कारण अष्टसखाओं द्वारा रचे सभी पद विभिन्न राग-रागनियों में गाए गए हैं। सूरदास ने सूरसागर में ८७ प्रकार की राग-रागनियों का प्रयोग किया है, जो इस प्रकार हैं–

राग-रागिनी	पद संख्या	राग-रागिनी	पद संख्या
१. आसावरी	११७	४५. जयजयवन्ती	२
२. सूही	६२	४६. श्रीहठी	८

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३. सह्रा	३
४. बिलावल	६२१
५. सारंग	६०६
६. कान्हरौ	२४१
७. धनाश्री	३६८
८. मारू	१५७
६. रामकली	२४४
१०. केदारी	१७१
११. केदार	६
१२. मलार	३१५
१३. गौरी	२६०
१४. नट	२५१
१५. बिहागरो	१८२
१६. सौरठ	१६६
१७. कल्यान	१२६
१८. परज	४
१६. देवगन्धार	५०
२०. नटनारायन	३२
२१. सूहाबिलावल	१६
२२. तोड़ी	७८
२३. झिंझोटी	१
२४. बिहाग	२
२५. गोड़मलार	२४
२६. गूजरी	५३
२७. जैतश्री	१०६
२८. जंगला	१
२६. अहीरी	२
३०. मुलतानी धनाश्री	१
३१. खम्बावती	१
३२. मुलतानी	१
३३. सुघरई	१५
३४. विभास	११
३५. भूपाली	४
३६. वसन्त	१४
३७. कामोद	१
४७. ललित	२६
४८. भैरव	४२
४६. नटनारायणी	४
५०. भैरवी	३
५१. गुंडमलार	६४
५२. गौड़	३
५३. गुंड	५
५४. पूर्वी	२३
५५. बिहागड़ा	६
५६. मेघमलार	३
५७. श्री	२
५८. देवगिरी	१
५६. षटपदी	१
६०. भोपाल	१
६१. धमार	१
६२. देसकार	१
६३. रामगिरी	१
६४. वसन्ती	१
६५. राझी हठीली	१
६६. राझी श्रीहठी	१
६७. राझी मलार	२
६८. राझी रामगिरी	१
६६. अल्हैया बिलाबल	१
७०. श्री मलार	१
७१. होरी	३
७२. सौरठी	४
७३. अडाना	१८
७४. देवसाख	४
७५. ईमन	१६
७६. गन्धारी	१
७७. अल्हैया	२
७८. शकराभरण	३
७६. कुरंग	१
८०. हमीर	६
८१. देसाख	२

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३८. गान्धार	१	८२. संकीर्ण	१
३६. नायकी	१	८३. कर्नाट	२
४०. काफी	१	८४. वैराटी	१
४१. मलारकामोद	१	८५. तानुत	१
४२. बिलावल रामकली	१	८६. पूरिया	१
४३. गुनकली	१	८७. मालकौस	१
४४. गुनसारंग	१		

इनमें राग सोरठ, सूहा, बिलावल, तोड़ी, नायकी, मलारकामोद, बिलावल– रामकली गुनसारंग, नटनारायणी, गुंडमलार, राझी हठीली, राझी मलार, राझी रामगिरी, अल्हैया– बिलावल, श्री मलार, संकीर्ण तथा सानुत का नवीन राग-रागनियों के रूप में प्रयोग हुआ हैं।[६] सूर-सारंग और सूरदासी– मल्हार रागों का आविष्कर्ता सूरदास को ही माना जाता है। कुछ लोग राग पटमंजरी का आविष्कर्ता भी सूरदास को मानते हैं। इस काल के लगभग सभी भक्त गायकों ने सारंग राग को इतना अधिक गाया कि वह 'बृन्दावनी सारंग' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। किन्तु सूरदास को कदाचित् बिलावल राग विशेष प्रिय था। सर्वाधिक पद उन्होंने इसी राग में रचे हैं। सूरसागर का प्रथम तथा अन्तिम पद भी बिलावत राग में है। सूरसागर में कुछ राग ऐसे भी हैं, जिनका प्रयोग अकेले सूरदास ने ही किया है, अन्य किसी कवि ने नहीं। ये राग हैं– रामकली, झिंझोटी, अहीरी, सुघरई, कामोद, गुनकली, गुनसारंग, नटनारायणी, श्री हठी, गोड़, मेघमलार, देसकार, वेराटी और सानुत। होरी और धमार वस्तुतः कोई राग नहीं हैं। ध्रुपद, ख्याल आदि की भाँति ये संगीत की विधा हैं। संकलनकर्ता ने भ्रमवश यह त्रुटि की ऐसा जान पड़ता है। होरी विषयक गीतों के लिए उपयुक्त राग बसन्त है। बसन्त को श्रृंगार रस का सर्जक राग माना गया है। सूरसागर में बसन्त लीला का वर्णन राग बसन्त में किया गया है–

राग बसन्त
छिरकत स्याम छबीली राधा चन्दन बंदन बोरी
अबिर गुलाल विविध रंग सौंधे लोचन भरि रहै रोरी।[७]

इसी प्रकार वर्षा के पद मौसमी राग मलार में निबद्ध हैं–

राग मलार ।। ३६१७-१६।

अब बरखा कौ आगम आयो।

अथवा

माई री ये मेघ गाजे। पृ. १३१७

शास्त्रीय विधान के अनुसार प्रत्येक राग को गाने के लिए समय निर्धारित है। सूरदास ने सूरसागर में भगवान की लीला के अनेक पद इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए रचे हैं। कुछ उदाहरण देखिए–

राग ललित ।।२६५६।। (समय रात्रि का अन्तिम प्रहर)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

बोले तमचुर, चार्यो जाम को गजर मार्यो,
पौन भयो सीतल, तमि तें तमता गई।
प्राची अरुनानी, भानु किरनि उज्यारी नभ छाई,
उडुगन चन्द्रमा मलीनता लई।। पृ. ६३८

राग विभास।।२६५७।। (समय प्रातःकाल)

चिरई चुहचुहानी, चंद की ज्योति परानी
रजनि बिहानी, प्राची पियरी प्रवान की।
तारिका दुरानी, तम घट्यौं, तमचुर बोले
स्रवन भवन परी ललिता के तान की।। पृ. ६३८

राग बिलावल, ।।२६५८।। (समय प्रातः काल)

जागिये प्रान पति रैनि बीती।
चंद की दुति गई, यहै पीरी भई
सकुच नाहीं दई अतिहीं भीनी।। पृ. ६३८

राग रामकली ।।२६७०।। (समय प्रातःकाल)

राधा को मैं तबहीं जानी
अपनै कर जो मांग संवारे, रचि रचि बनी बानी।। पृ. ६४१

राग आसावरी।।४७६६।। (समय दिन का द्वितीय प्रहर)

रुकमिनि देवी मन्दिर आई।
धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई।। पृ. १५६३

राग सारंग।।१०८५।। (समय दोपहर)

ग्वाल मण्डली में बैठे मोहन वट की छांह
दुपहर बेरिया सखानि संग लीने। पृ. ४२०

राग गौरी।।१०३५।। (समय संध्या)

बन तै आवत धेनु चराए।
सन्ध्या समय सांवरे मुख पर गोपद रज लपटाए।। पृ. ४०१

राग हमीर।।८४८।। (समय रात्रि का प्रथम प्रहर)

बल मोहन दोऊ अलसाने।
कछु कछु खाइ दूध अंचयो तब जम्हात जनति जिय जाने।।
उठहु लाल कहि मुख पखरायो, तुमको लै पौढ़ाऊं।
तुम सोवौ मैं तुम्हैं सुवाऊं, कछु मधुरे स्वर गाऊं।।

राग कल्यान।।२६०६।। (समय रात्रि)

हरषि पिय प्रेम तिय अंक लीन्ही।
प्रिया बिनु बसन करि, उलटि धरि भुजनि भरि
सुरति रति पूरित, अति निबल कीन्हीं।। पृ. ६२६

उक्त उदाहरणों से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उक्त रागों में अन्य पद

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

नहीं गाए गए हैं। अष्ट सखाओं का प्रधान विषय था राधाकृष्ण की युगल उपासना। संगीत का शास्त्रीय पक्ष उनके लिए गौण था। इसलिए मौसमी, प्रातःकाल, दोपहर अथवा रात्रिगेय रागों में भी भक्तिभावना से आपूरित विविध विषयक पदों की रचना की गई है। सूरसागर में सर्वत्र यही बात देखने को मिलती है। फिर भी संगीत कला के विशेषज्ञ एवम् मर्मज्ञ होने के कारण सूरदास पदों को भावानुकूल रस की सृष्टि करने वाले रागों में स्वरबद्ध करने के लिए सचेष्ट दिखाई देते हैं। खड़े स्वरों वाले राग वीर, रौद्र तथा भयानक रस का एवम् कोमल स्वर वाले मींडयुक्त राग श्रृंगार, करुण तथा शान्त रस का संचार करने में समर्थ होते हैं। अतः युद्ध, वध, विनय, वैराग्य, विरह, मिलन आदि प्रसंगों का वर्णन करते समय सूरदास ने रागों की प्रकृति का पूरा ध्यान रखा है। दन्तवक्र-वध सम्बन्धी पद उन्होंने राग मारु में रचा है।

राग मारु।।४८४०।। (इस राग में मध्यम तीव्र है)
हरि निकट सुभट दंतवक्र आयो।
कह्यो सिसुपाल तुम राजसू मैं हत्यो
धन्य सोइ हेत में दरस पायो।। पृ. १५८६

विरह वेदना की मार्मिक अभिव्यञ्जना के लिए भैरवी से बढ़कर कौन-सा राग हो सकता है।

राग भैरवी ।।४४६८।। (इसमें सब स्वर कोमल हैं)
अब कैसे ब्रज जात बस्यो।
हृदय दहत जमुना बिनु देखे
जहां जहां नंदलाल हंस्यो।। पृ. १४६५

ध्रुपद धमार शैली की गम्भीरता से पूर्णतः परिचित होने के कारण ही सूरदास ने खमाज तथा पीलू जैसे चंचल प्रकृति के रागों में पद नहीं रचे। इन रागों में प्रायः ठुमरी गायी जाती है। सूरसागर में एक भी पद खमाज अथवा पीलू में नहीं है।

ब्रज अन्यन्त सुमधुर एवम् सुकोमल भाषा है, जिसमें सूरसागर की रचना की गयी है। लोचयुक्त शब्दों की प्रधानता के कारण यह भाषा गेय पदों के लिए विशेष उपयुक्त सिद्ध हुई है। सूरदास ने काव्यशास्त्र के नियमों में न बँध कर सहजभाव से पदों को रच कर गाया। इसी कारण उनके पद लोकमानस की धरोहर बन गए हैं। भाषा के नाद सौन्दर्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, सूरदास विद्यापति के आगे निकल गए हैं। "विद्यापति के पदों में उतना संगीत का स्वर माधुर्य नहीं जितना काव्य का पद लालित्य एवम् भाव-सौन्दर्य है।"[८] सूरसागर में अनुस्वारयुक्त दीर्घ स्वरों की बहुलता उसके नाद सौन्दर्य का एक प्रमुख कारण है। जैसे–

ऊधो काहे कों भक्त कहावत।
जु पै जोग लिखि पठवै हमकौं तुमहुं न भस्म चढ़ावत।।
श्रृंगी मुद्रा भस्म अधारी, हमहीं कहा सिखावत।
कुबिजा अधिक स्याम कौं प्यारी, ताहिं नहीं पहिरावत।।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

यह तो हमकों तबहिं न सिख्यो, जब तैं गाइ चरावत।
'सूरदास' प्रभु को कहियो अब, लिखि लिखि कहा पठावत।।३८१२।।[९]

अर्थ-गौरव के अतिरिक्त ध्वनि-विन्यास भी भाषा की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। ध्वनि-चित्रण करने वाले शब्दों का चयन कवि के सामर्थ्य को प्रकट करता है। निम्न पद पढ़ने पर लय गतिमान एवम् नृत्य सजीव हो उठता है–

नृत्यत स्याम स्यामा-हेत।
मुकुट लटकनि, भृकुटि मटकनि, नारि मन सुख देत।।
कबहुं चखत सुगन्ध गति सों, कबहुं उघटत बैन।
लोल कुण्डल गण्ड मण्डल, चपल नैननि सैन।।
स्या की छबि देखि नागरि, रही इकटक जोहि।
सूर प्रभु उर लाइ लीन्हीं, प्रेम गुन करि मोहि।।१७६६।।[१०]

नृत्य सम्बन्धी इस प्रकार के और भी पद है। इससे विदित होता है कि नृत्य विषयक ज्ञान भी सूरदास को था। उन्होंने अपने काव्य में तीन प्रकार के नृत्यों का उल्लेख किया है– रास, चांचरि और झूमर।

संगीत-माधुर्य तथा नाद-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए मध्यकालीन लगभग सभी भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में री, अरी, एरी, रे, जी, हो, ए, अजी, हों आदि शब्दों का बहुलता से प्रयोग किया है। इन शब्दों के कारण गाते समय मात्राओं की पूर्ति बड़ी सरलता से हो जाती है तथा गाने में तन्मयता भी आती है। सूरसागर ऐसे प्रयोगों से भरा पड़ा है–

१. अति न हठ कीजे री सुनि ग्वारि।।१३८७।।
२. अद्‌भुत कौतुक देख सखी री।।१८०७।।
३. अब हरि औरें हौ रंग रांचे।।४६४५।।
४. अरी, मेरे लालन की आजु बरसगांठि।।७१३।।
५. अहौ तुम आनि मिलो नन्दलाल।।१७४२।।
६. ए री मौही तो पिउ भावे।।२७२५।।
७. ए रे सुन्दर सांवरे तें चित लियो चुराय।।१६६०।।

सूरसागर के पदों को सूरदास ने कैसे गाया होगा यह जानने की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। पुष्टि सम्प्रदाय में जैसे उपासना विधि आजतक ज्यौं की त्यों चली आ रही है उसी प्रकार कीर्तन प्रणाली भी यथावत् प्रयुक्त हो रही है। अष्टछाप कवियों के पदों को उनके उत्तराधिकारी कीर्तनिया उसी राग और उसी बन्दिश में, उसी ढंग से और उन्हीं वाद्यों की संगति में गा रहे हैं। ध्रुपद तथा धमार शैली में ही पदों को गाया जाता है। वाद्यों में मृदंग, बीन, सारंगी तथा झाँझ प्रयोग में लिए जाते हैं। सूरदास ने पद सं. ६३७ और ६४२ में डफ, झाँझ, मृदंग और जंत्र वाद्यों का उल्लेख किया है। रास प्रकरण में पद सं. १६७७ में उपंग, मुरज, रबाब, बीना

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

और मृदंग का वर्णन है। वैसे सूर के पदों में इन वाद्यों के अतिरिक्त और जिनके नाम आये वे हैं– पञ्चसब्द, रूञ्ज, मुरज, बांसुरी, झालरी, किन्नरी, अमृतकुण्डली, सुरमण्डल, जलतरंग, पखावज, आवज, सहनाई, तानतरंग, कंसताल, कठताल, श्रृंगर, मुंहचंग, खञ्जरी, पटह, मुरली, चंग, ढोलक, दुन्दुभि, मञ्जीरा, आनक, महुवरि, डिमडिम, शंख, निसान, भेरी आदि। सितार और तबला यद्यपि प्रचार में आ चुके थे, किन्तु सूरदास ने उनको नहीं अपनाया। तिताला, रूपक, चर्चरि, चौताल, पटताल, जतताल, एकताल और चम्पक केवल इन तालों के नाम अष्टछाप कवियों के पदों में मिलते हैं। इन तालों के नाम कुछ ही पदों पर अंकित हैं। प्रत्येक सखा के साथ आठ-आठ झालरिए थे, जो 'टेक' उठाने का काम करते थे। स्वयम् सूरदास के आठ झालरिए थे जो 'सूर के अंग' कहलाते थे। स्पष्ट है कि इन्हीं तालों में पदों को गाया जाता था।

हवेली संगीत की इस जीवन्त परम्परा का रसास्वादन करने के लिए मैं स्वयम् अक्टूबर, १६७८ में नाथद्वारा गया था। पारम्परिक वेशभूषा में पदों को सुन कर मैं आत्मविभोर हो उठा। वाद्यवृन्द की संगत में सामूहिक रूप से गाए पदों को सुनकर जब उपस्थित सामान्य जनसमुदाय झूम उठता है, तब हमें यह सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि शास्त्रीय संगीत के नाम से प्रचलित ध्रुपद-धमार की लोकप्रियता जनता में क्यों कम होती जा रही है? हवेली संगीत के वर्तमान कीर्तनकार सर्वश्री रामदास, अमृतलाल, मन्नालाल, ब्रजलाल, पन्नालाल, तोताराम तथा श्यामसुन्दर का, साथ ही मृदगं वादक श्री मूलचन्द एवम् श्यामलाल का सन् १६७१ में प्रथम बार राजस्थान संगीत नाटक अकादमी द्वारा उदयपुर में मान किया गया। अकादमी द्वारा २५ घण्टे का वृहत् रेकार्डिंग भी किया गया, जिसमें पुष्टिमार्गीय कीर्तन सम्पदा संग्रहीत है। शोधकर्ताओं के लिए यह संग्रह अमूल्य निधि है। यह सम्भव नहीं लगता कि सूरदास ने जितने पद रचे उतनी ही धुनें भी बनाई होंगी। क्योंकि एक धुन में कई पदों को गाया जा सकता है और गाया जा रहा है। उक्त टेपांकित संग्रह के अवलोकन से अनुमान लगाया जा सकता है कि सूरदास द्वारा रागों में निबद्ध धुनों की संख्या कितनी होगी।

जन सामान्य में सूरसागर के पद विशेषतः भजन के रूप में गाए जाते हैं। ग्राम नगर, कुटी-प्रासाद देश का कौन-सा ऐसा स्थल है, जो सूर-पदों से निनादित नहीं है और कौन-सा ऐसा मानव है जो 'मैया मोरी मैं नहीं माखन खायो' से अपरिचित है।

सन्दर्भ

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, हरिराय, पृ. ६

२. भक्तनामावली, छन्द सं. ६५

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३. कालेऽस्मिन नर्तका मूर्खा विद्वांसस्साधका न हि। संगीतोपनिषत्सारोद्धार षष्ठ अध्याय, श्लोक १२६

४. खुसरो, तानसेन तथा अन्य कलाकार, सुलोचना यजुर्वेदी एवम् आचार्य बृहस्पति, पृ. ६८

५. मानसिंह और मान कुतूहल, हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ. ६७

६. कृष्ण भक्तिकालीन साहित्य में संगीत, डॉ. उषा गुप्ता, पृ. १८८,

७. सूरसागर, पृ. १६५६

८. हिन्दी का पद साहित्य, श्री परशुराम चतुर्वेदी (मध्यप्रदेश सन्देश, पृ. ६, १६ दिसम्बर, १६५६

६. सूरसागर, पृ. १४५५

१०. वही, पृ. ६५५

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

११
भारत में काव्य और संगीत की समवेत परम्परा

डॉ. सुधारानी शर्मा

काव्य और संगीत दोनों ही कलाएँ समानधर्मा हैं और दोनों का ही उद्देश्य सौन्दर्य की सृष्टि है। भारतीय परम्परा में नादतत्व की प्रधानता सिद्ध है। 'आहत' एवं 'अनाहत' दो प्रकार के नाद में से 'आहत' नाद से ही संगीत एवं काव्य दोनों का जन्म हुआ है। पंच महाभूतों में से सबसे सूक्ष्म और प्रथम 'शब्द' आकाश का गुण ही 'वाक्' तत्त्व है, जो काव्य और संगीत दोनों का आधार है। संगीत ओर काव्य की सृष्टि नादात्मिका वाक् और वर्णात्मिका वाक् से ही क्रमशः होती है। ईश्वर प्रदत्त नादात्मिक वाक् से हर्ष, क्रोध, भय आदि चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति मनुष्य, पशु-पक्षी, सभी चेतन प्राणी करते हैं। आवेगों को व्यक्त करने का प्रथम साधन नादात्मिक वाक् ही है। निश्चित भावों की अभिव्यक्ति के लिए वर्णात्मिका वाक् है। स्वर व सार्थक शब्द अभिव्यक्ति के दो साधन मनुष्य को आदिकाल से उपलब्ध हुए हैं। भारतीय परम्परा में ध्वनि के इन दोनों पक्षों की अविच्छिन्नता को स्वीकार किया है। दोनों को एक ही वाक् तत्त्व की अभिव्यक्ति माना गया है।

संगीत के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'गान्धर्व' शबद का प्रयोग हुआ है, जिसका प्रयोग गन्धर्व जैसे प्राचीन गायक करते थे। इनके गायन के साथ वाद्यों की संगति भी रहती थी, इसलिए 'गान्धर्व' कला में गीत और वाद्य इन दोनों का समावेश माना जाता था। भरत के नाट्य शास्त्र में 'गान्धर्व' एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। भरताचार्य के अनुसार 'गान्धर्व' में स्वर, ताल तथा पद तीनों अंगों का होना आवश्यक है। प्राचीन संगीतज्ञों ने 'गान्धर्व' के इस तत्त्व को आवश्यक माना है, क्योंकि इनसे ही स्वर ताल व पद तीनों अंगों के बीच संतुलन बना रहता है।

भारतीय संगीत का मूल खोजने के लिए वेदकाल से उसकी पार्श्व भूमि देखना आवश्यक है। संगीत का उद्गम सामवेद से माना गया है एवं इसीलिए 'गायनः पंचमोंवेदः' ऐसी उक्ति प्रचलित हुई। सभी वेद मंत्र छंद बद्ध होते हैं। उनका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वरों सहित शुद्ध 'पाठ' होता है एवं प्रचार में उसे ही 'पाठ' कहा गया है। यह स्थिति जब वेद एवं 'काव्य पाठ' की है तो फिर 'साममंत्रों' का पाठ तो 'वैदिक पाठ' से पृथक होना स्वाभाविक है– क्योंकि उसमें वैदिक पाठ के सभी तत्त्वों के साथ-साथ प्रत्येक शब्द के अनुकरणात्मक ध्वनियों के अतिरिक्त सांगीतिक स्वरों का भी प्रयोग होता है अर्थात् वह केवल 'पाठ' न रहकर गान के अंतर्गत आता है। साम संगीत के समय गायन, वादन, नृत्य, इन तीनों अन्योन्याश्रित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कलाओं का उचित प्रकार से प्रचार हुआ था, यह प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कह सकते हैं। 'सामगान' की ऋचाएँ गति के समान गायन की तरह स्वतंत्र एवं सामूहिक रूप से गाई जाती थीं यही साम गान है।

आदिकाल से ही भारतीय काव्य का रूप गेय ही रहा है। भारतीय साहित्यिक इतिहास पर दृष्टि डालें तो ज्ञात होता है कि पुरातन काल में कवि और गायक में भी भेद नहीं था। कवि संगीतशास्त्र व संगीत कला का भी ज्ञाता होता था– फलस्वरूप प्राचीन काल का संगीत-शास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ हमें उपलब्ध भी नहीं होता है। भरतमुनि का नाट्यशास्त्र इस बात का प्रमाण है।

संगीत और काव्य की समवेत परम्परा का अटूट सम्बन्ध होने के विषय में पाणिनीय व्याकरण शास्त्र की सरस्वती वन्दना "वीणा पुस्तक धारिणीय भयदां जाड्यान्धकारापहाम्" से ही यही स्पष्ट होता है कि सरस्वती देवी विद्यादायिनी तथा वीणा पुस्तक को धारण करने वाली हैं, जिससे समस्त संसार की जड़ता और अन्धकार नष्ट होता है। माँ सरस्वती को साहित्य और संगीत की देवी माना गया है। काव्य और संगीत में माँ सरस्वती विराजमान हैं। यों कहना उचित होगा कि देह का आत्मा के साथ जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध संगीत और काव्य में हैं। स्व. पं. ओंकारनाथ श्री ठाकुर के अनुसार "संगीत और काव्य माँ सरस्वती के दो स्तन हैं, इन्हीं का दूध पी पीकर कवि, कवि बना है, और संगीतकार, संगीतकार।" संगीत और काव्य एक ही उद्गम के दो परिष्कृत स्वरूप हैं। दोनों परस्पर पूरक हैं। काव्य और संगीत की समवेत परम्परा शाश्वत हैं– अध्यात्मवाद की दृष्टि से भी एवं विकास वाद की दृष्टि से भी। जिस समय भाषा-शास्त्र व स्वर-शास्त्र का विकास नहीं हुआ था, उस समय क्या स्थिति होगी, यह नहीं कहा जा सकता। किसी शब्दोच्चारण के लिए शब्द की आवश्यकता अवश्य पड़ी होगी, क्योंकि बिना स्वर के सहारे शब्दोच्चारण और बिना शब्द के सहारे स्वरोच्चारण असम्भव ही है।

सदैव स्वरोच्चारण एवं शब्दोच्चारण एक साथ ही सम्भव है। इससे शब्द और स्वर, काव्य और संगीत के मूलतत्त्वों की शाश्वत समवेत परम्परा सिद्ध होती है। स्वरों व श्रुतियों का वेग आत्मा तक पहुँचता है। उसके साथ उसी भाव का, उसी रस का यदि काव्य है, तो वह सतोत्व गुण प्रभाव पैदा करता है। हर्ष, शोक, विषाद आदि को संगीत द्वारा व्यक्त करना सहज है, किन्तु किसी बात को विस्तृत रूप से कहना हो तो काव्य का सहारा लेना ही होगा। जो कार्य साहित्य नहीं कर सकता संगीत द्वारा उन भावों को स्वरों द्वारा प्रकट करना सहज है। एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ काव्य नहीं दे सकता। काव्य द्वारा एक बार से अधिक दोहराना उचित भी नहीं लगेगा किन्तु संगीत द्वारा "विनती सुनो मोरी" अलग-अलग ढंग से, काकु-भेदों से, भावों से, अनेकों अर्थों में व्यक्त किया जा सकता है। "ननदिया कैसे नारे भरूँ" इन शब्दों को संगीत द्वारा कहने पर हर बार जो अन्तर आयेगा वो केवल काव्य नहीं दे सकता। काव्य-कला का आधार भाषा है जो नाद का ही विकसित रूप

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है। अस्तु, काव्य व संगीत दोनों के आस्वादन का माध्यम एक ही है। अन्तर केवल इतना है कि एक का आधार नाद का स्वर व्यंजनात्मक स्वरूप है व दूसरे का आधार नाद का स्वरात्मक आरोह-अवरोह। जिस प्रकार ब्रह्म स्वयं में अशक्त रहता है, जब उस ब्रह्म का साथ प्रकृति देती है तो सक्रियता आती है व तभी सृष्टि की रचना होती है– उसी प्रकार संगीत को शब्द मिलते ही, वो विस्तृत भावनाओं को व्यक्त करने में सक्षम हो सकता है।

संगीतज्ञ और कवियों का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति, कला-रूपों की सृष्टि, रागात्मक संवेग व संवेदनाओं एवं कल्पनाओं का अंकन तथा सौन्दर्यानुभूति का आस्वादन रहा है तथा दोनों कलाओं से हमें इन अनुभूतियों के दिग्दर्शन होते हैं। यों दोनों कलाएँ अपना अलग अस्तित्व रखती हैं। दोनों ही सशक्त कलाएँ हैं किन्तु दोनों की समवेत परम्परा है, यह कहना उचित है। यों दोनों कलाओं के अपने-अपने उपकरण हैं। संगीत और काव्य की समवेत परम्परा यों भी देखें तो– बाल्मीकि रामायण आदि– काव्य हैं, जिसकी रचना महर्षि बाल्मीकि ने, लव-कुश द्वारा गाये जाने के लिए ही की थी। अतः काव्य का प्रारम्भिक रूप 'गेय' ही था इसमें सन्देह नहीं। भारतीय इतिहास में अंकित काव्य-गान की यह अमर गाथा काव्य और संगीत के सम्बन्ध की समवेत परम्परा व्यक्त करती है और करती रहेगी। महाकवि कालिदास और भवभूति क़ी रचनाओं को भी हम इसी श्रेणी में रख सकते हैं। महाकवि जयदेव गीति काव्य को जन्म देने वाले थे, जिनसे सभी संगीतज्ञ परिचित हैं। इनका 'गीतगोविन्द' संगीत व काव्य दोनों क्षेत्र में सराहा गया। इन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ संस्कृत भाषा में कीं। कृष्ण सम्बन्धी विषयों को लेकर भाव मय कविता करने वाले ये ऐसे कवि थे जिन्हें कवि और संगीतज्ञ दोनों रूपों में जाना और पहचाना गया। इस दिशा में विद्यापति का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। मैथिली भाषा में लिखी पदावली के अंतर्गत गीतों की रचना के कारण इनको विशेष ख्याति मिली। इनके गीतों में रागात्मकता के साथ-साथ शब्दों का चारु चयन अद्वितीय है। इन्होंने राधा-कृष्णा की लीलाओं को संगीतमयी भाषा में अभिव्यक्त किया। विद्यापति के पश्चात् निर्गुण धारा के प्रमुख कवि कबीर, नानक, दादू, मलूकदास इत्यादि के नाम आते हैं, जिन्होंने स्वयं भगवत् भक्ति में, पद्यरचना की और उन पदों को स्वयं स्वरबद्ध करके अपने संगीतज्ञ होने का परिचय दिया।

सगुणोपासक कवियों ने कृष्ण– काव्य एवं रामकाव्य प्रस्तुत किया। तुलसीदास, प्रियादास, प्राणादास, हृदय राम इत्यादि रामभक्त एवं सूरदास, नन्ददास, परमानन्ददास, कुंभनदास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, गोविन्द स्वामी, कृष्णदास, कृष्णभक्त अष्टछाप के कवियों ने काव्य को संगीत के माध्यम से उच्च शिखर तक पहुँचाने में अपना विशेष योगदान दिया। अष्टछाप का समय गीतिकाव्य व संगीतिकाव्य के चरमोत्कर्ष का समय कहा जायेगा। इनके रचयिता उच्च श्रेणी के कवि व उच्च श्रेणी के संगीतज्ञ दोनों ही थे। अष्टछाप के कवियों में सूरदास की गणना कवि और संगीतज्ञ

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

दोनों के नाते सर्वोपरि है। सूरदास ने श्रीमद्भागवत की कथाओं को गेय पदों में प्रस्तुत किया। इनके अतिरिक्त भक्त मीरा, स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजू बावरा, गोपाल नायक इत्यादि के नाम भी काव्य और संगीत की समवेत परम्परा को चलाने में सदैव स्मरणीय रहेंगे। भक्तिकाल के अतिरिक्त रीतिकाल में भी उन्हीं के काव्य में संगीतात्मकता अधिक व्याप्त है, जिन्होंने रीतिकाल परम्परा से मुक्त होकर प्रेम और भक्ति विषयक रचनाएँ कीं। इस विषय में घनानंद और देव के नाम आते हैं। आत्मत्व, आवेश, तन्मयता और संगीतात्मकता घनानन्द में प्रचुरतर है।

प्राचीन काल से आधुनिक काल तक काव्य और संगीत की समवेत रस-धारा प्रवाहित होती रही है। आधुनिक काल में भारतेन्दु हरिश्चन्द ने आत्मनिवेदन की शैली बनाये रखने के साथ ही साथ, राष्ट्रीय गीत लिखने की परम्परा को भी प्रचलित किया। द्विवेदी युग में मैथिलीशरण गुप्त ने भी इस दिशा में ख्याति अर्जित की। इनके अतिरिक्त अनेकानेक कवियों व कवियित्रियों ने गीति काव्य की परम्परा, में नवीन अध्याय जोड़ा। साथ ही राजनैतिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के कारण काव्य एवं संगीत के स्वरूपों में भी स्वाभाविक परिवर्तन आया, किन्तु समवेत परम्परा बनी ही रही। विविध गायन शैलियों के विकास के साथ ही काव्य रचना निर्मित होती रही।

यह कहना उचित होगा कि 'गीत' काव्य का सबसे प्राचीन रूप है और वह कभी मंत्र बन कर रहा, कभी ऋचा बनकर, कभी श्लोक बनकर, कभी गान बनकर, कभी पद्य बन कर और कभी गीत बनकर। कितने ही साहित्यिक व सांगीतिक आन्दोलन आये, लेकिन काव्य और संगीत की समवेत परम्परा कभी नहीं मरी। काव्य और संगीत, दोनों की मानव के अन्तस् से अन्तरंग मैत्री है।

इसी सम्बन्ध में 'लय' सम्बन्धित आवश्यक चर्चा भी करें तो पाते हैं कि 'लय' संगीत और काव्य का सर्वप्रधान गुण है और 'लय' सृष्टि की वह व्यवस्था है, जिसके कारण विश्व की, व्यक्ति की स्थिति है। लय ही जीवन है। इसी लय के कारण ब्रह्माण्ड एक छन्द, एक महाराग, एक महागीत है। हर, चेतन तत्त्व इस छन्द, इस राग, इस नृत्य से बँधा हुआ एक वर्ण, एक स्वर, एक घुँघरू है। स्वरमय लय संगीत है। शब्दमय लय, छन्द। काल के नियमन का काव्य और संगीत दोनों में विशिष्ट स्थान है। वस्तुतः संगीत और काव्य दोनों का ही असर लय और छन्द पर आधारित है। कवि या संगीतकार दोनों ही 'लय' की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। काव्य में छन्द के द्वारा अर्थात् काल के नियंत्रण से, भावाभिव्यक्ति के लिए जो बल मिलता है, वह काव्य को संगीत की ही देन है, क्योंकि काव्य का अपना क्षेत्र तो शब्द और अर्थ तक सीमित हैं। शब्द और अर्थ में गति के नियंत्रण का योगदान, काव्य में संगीत का प्रवेश करा देता है, क्योंकि संगीत शब्द और अर्थ से निरपेक्ष होकर केवल स्वर और लय की अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनता है। काव्य में छन्द के माध्यम से, संगीत के 'लयतत्त्व' का विनियोग होता है और वह तत्त्व शब्द और अर्थ से निरपेक्ष

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होकर, अपना काम करता है, उसी प्रकार संगीत में, विशेष रूप से गीत में शब्द और अर्थ का प्रवेश अनायास हो जाता है। शब्द-अर्थ का यह योगदान संगीत में काव्य का प्रवेश करा देता है। छन्द के अतिरिक्त संगीत में गीत का नियामक एक और तत्त्व भी है, जिसे हम 'ताल' के रूप में पहचानते हैं। ऐसा कहा जा सकता है कि ताल और छन्द में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों ही काव्य एवं संगीत की समवेत परम्परा के द्योतक हैं। सारे संगीत का इतिहास छंदेबद्ध है। छन्द का संगीत से घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत के प्राचीनतम साहित्य की उत्कृष्टता यही है कि उसमें काव्यत्व के साथ संगीतात्मकता लाने हेतु वर्ण-विन्यास, मात्रा की संख्या, वर्ण संख्या, विराम, यति आदि नियमानुसार होना आवश्यक है।

काव्य एवं संगीत के उपकरणों को देखें तो पाते हैं कि काव्य का उपकरण सार्थक शब्द है और संगीत का उपकरण स्वर, किन्तु दोनों का मूल एक ही 'नाद-तत्त्व' है। काव्य और संगीत की समन्वित गंगा-धारा का स्नान अलौकिक, अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति कराता है। काव्य का माध्यम भाषा, संगीत का माध्यम स्वर, किन्तु दोनों का मूल रसात्मक अनुभूति ही है। सरस शब्दावली और भावनाओं के सजीव चित्रण, जब ताल और स्वर में बँधकर व्यक्त होते हैं, जिनके द्वारा आन्तरिक समन्वय की प्रति स्थापना हो जाती है और 'रस' का प्रवाह उमड़ने लगता है, तब निर्गुण धारा रूपी संगीत और सगुण धारा रूपी काव्य की समवेत रस धारा मानव हृदय को जो आनन्दानुभूति कराती है, वह ब्रह्मानंद सहोदर ही कही जायेगी।

इस प्रकार भारत में काव्य और संगीत की समवेत परम्परा आदि काल से प्रारम्भ होकर आज तक विद्यमान है एवं सदैव चलती रहेगी।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१२
रंगमंच

डॉ. धर्मराज त्रिपाठी

'नाटक' साहित्य की सर्वाधिक सशक्त एवं रसपूर्ण विधा है। यह संवाद प्रधान तथा दृश्यकाव्य है। नाटक का सार्थक्य रंगमंच के बिना असंभव है; रंगमंच (स्टेज) ही वह माध्यम है जो नाटक को लोकप्रिय तथा विशिष्ट बनाता है। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि रंगमंच नाट्यविधा के लिए अनिवार्य तथा अपरिहार्य है। नाटक पढ़ने के लिए नहीं, अपितु देखने के लिए लिखे जाते हैं। नाटक और रंगमंच का परस्पर गहनतम संबंध है। एक के अभाव में दूसरे की स्थिति का कोई भी महत्त्व नहीं है, कोई उपयोगिता एवं वैशिष्ट्य नहीं है। रंगमंच नाटक का प्राण है।

नाटक का मूलाधार है अभिनय, अभिनेयता वैशिष्ट्य के कारण ही नाटक का साहित्य की अन्य विधाओं से अलग महत्त्व है। नाट्यलेखक नाटक की रचना करते समय रंगमंच और उस पर अभिनय करने वाले विभिन्न पात्रों की स्थितियों तथा दर्शकों के मनोविज्ञान का भी ध्यान रखता है। कथावस्तु, सम्वाद, वातावरण तथा चरित्र-वैशिष्ट्य का संयोजन रंगमंच के अभाव में संभव नहीं है। श्री नेमिचन्द्र जैन ने इस क्रम में बिलकुल सत्य कहा है– ''वास्तव में अपनी मूल प्रकृति की दृष्टि से 'नाटक' वह संवादमूलक कथा है, जिसे अभिनेता रंगमंच पर नाट्य व्यापार के रूप में दर्शक वर्ग के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार नाटक के तीन मौलिक पक्ष हैं– कवि या नाटककार द्वारा तैयार की हुई सम्वादात्मक तथा अभिनेताओं द्वारा उसका अभिनय प्रदर्शन एवं दर्शक वर्ग इन पक्षों को एक साथ समंजित किए बिना नाटक का कोई भी विवेचन-विश्लेषण असंभव है। नाट्य-रचना की प्रकृति में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में रंगमंच इस प्रकार निश्चित रूप से विद्यमान रहता है।

रंगमंच की ही यह शक्ति भत्ता है कि जो नाट्य विधा को 'वैयक्तिकता' से उठाकर समूहपरक बनाता है। नाटक में अनेक ऐसे रंग संकेत होते हैं जो पात्र के सम्वादों की अपेक्षा अत्यधिक व्यापक एवं मर्मस्पर्शी होते हैं। मंच पर अपने हाव-भाव से पात्र सम्वादों से अधिक प्रभाव डाल सकने में समर्थ तथा सफल होता है इसलिए रंगमंचीयता के अभाव में नाटक की कल्पना ही व्यर्थ है। नाट्यप्रदर्शन अभिनेता समूह तथा अन्य रंगकर्मियों के सक्रिय सहयोग से ही होता है। अभिनेयता के अभाव में नाटक की सम्पूर्णता तथा सार्थकता संभव नहीं है। इसीलिए नाट्यानुभति सुनिश्चित और व्यापक होती है, नाट्यात्मक अनुभूति के सामूहिक पक्ष का एक स्तर आत्यंतिक भी है– नाटक का दर्शक वर्ग के साथ तात्कालिक और अनिवार्य सम्बन्ध कविता तथा कथा साहित्य के पाठक से भिन्न 'नाटक' का दर्शक एकाकी नहीं होता,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वह समूह में रहकर आस्वाद करता है, यही नहीं अनवरत जब तक नाट्यावधि रहती है बिना व्यवधान के रस सागर में आकंठ निमग्न रहता है। रंगमंच ही वह माध्यम है जो पात्रों, कथा, देशकाल से दर्शकों को सीधा सम्बद्ध करता है। यह इतना सुदृढ़ सेतु है जिसका प्रत्येक खम्भा आनंद उत्स से परिपूर्ण है। इस प्रकार यह स्वयं सिद्ध है कि नाटक का पूर्ण प्रस्फुटन तथा सम्प्रेषण रंगमंच के अभाव में कतई संभव नहीं है।

रंगमंच के बिना नाटक लेखन मात्र साहित्यिक दस्तावेज है। वे मात्र शिक्षित समुदाय के लिए हैं। रंगमंच पर जब प्रदर्शन होता है तो वह नाटक 'आम जनता' को रस प्रदान करता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय नाटककार जयशंकर प्रसाद ने कहा है कि "रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाय, प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो, जो अति व्यावहारिक है। "इसी कथन की पुष्टि पाश्चात्य नाटककार मौलियर भी करते हैं– साहित्यिक परीक्षणों से दूर रहकर नाटक रंगमंच पर अवश्य प्रदर्शित हों। नाटककार ड्यूनसे ने स्पष्ट कहा है– "मेरा विश्वास है कि नाटक मूलतः रंगमंचीय होते हैं और इसीलिए जब तक मेरे नाटक रंगमंच पर अभिनीत होकर दर्शकों के द्वारा नाटक कहलाने के योग्य सिद्ध नहीं होते, मैं तब तक उन्हें प्रकाशित होने की अनुमति नहीं प्रदान करता। यह सत्य है कि नाटक का मूलसार शब्द नहीं वरन् अभिनय है नाट्यरचना पढ़ने के लिए नहीं रंगमंच के लिए ही होती है। नाटक प्राण है तो रंगमंच शरीर। इनका परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है।

नाटक में अभिनय और अभिनेतया का महत्त्व सर्वोपरि है। नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत करने, रसमय बनाने में अभिनेता की विशिष्ट भूमिका होती है। नाटक के अन्य तत्त्व चाहे जितने महत्त्वपूर्ण हों यदि अभिनय लचर है तो वह निरर्थक, रसहीन माना जाता है। नाटककार अपने रचना उद्देश्य को अभिनेता के माध्यम से ही जनता के समक्ष रखता है यदि अभिनय में शिथिलता है तो नाटककार का रचना श्रम व्यर्थ हो जाता है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है। अभिनेता और उसकी अभिनय कला से निम्नांकित उपलब्धियाँ होती हैं–

(१) अभिनेता रचना करता है

(२) अभिनेता कुशल व्याख्याता है।

(३) रंगमंच का वही जीवन्त माध्यम है जिससे नाटक दर्शक को आनंदित करता है। ,

अभिनय में आंगिक क्रियायें होती हैं। पाश्चात्य रंगमंच में भी पंच-वैशिष्ट्य की ओर संकेत है–

(क) मुख मुद्रा (२) शरीर मुद्रा (३) गति (४) बेरा (५) वाणी या वाक्।

अभिनेता अपने कुशल अभिनय से नाटक के पात्र को इस प्रकार जी लेता है कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उसी नाम से पुकारा जाने लगता है, यह

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उसकी उत्कृष्ट अभिनय कला का प्रमाण होता है। देवदास, मंजनू, राणा प्रताप, हरिश्चंद्र, शिवाजी, गाँधी, भगतसिंह, लक्ष्मीबाई, द्रौपदी, सीता, गिरिजा आदि के उदाहरण इसी क्रम में दिए जा सकते हैं। पात्र अपनी 'आइडेंटिटी' खोकर इन पात्रों को यह 'लोक उपहार' प्रदान करते हैं। यह पात्र के अभिनय जीवन की असाधारण उपलब्धि होती है।

रंगमंच मानव स्वभाव की पुरातन एवं सनातन प्रवृत्ति है। आदिमयुग से अद्यावधि मनुष्य रंगमंच से सम्बद्ध है। हाँ, यह बात अवश्य है कि रंगमंच का स्वरूप देश काल के अनुसार अनवरत परिवर्तित विकसित होता रहा है। भारतीय रंगमंच की परम्परा अति प्राचीन है। आचार्य भरतमुनि ने नाटक को 'पंचमवेद' कहकर इसकी प्रतिष्ठा की है। शास्त्रीय तथा लौकिक रंग भरकर नाटकों का सृजन होता रहा और उनका जन-प्रदर्शन भी लोकगति, लोकसंगीत और लोकनाट्य भी इसी परम्परा में रहे हैं। रंगमंच का स्वरूप भी इसी क्रम में निश्चित, निर्धारित होता रहा है। लोकनाट्य, नौटंकी, रास, रामलीला, भवाई, तमाशा, कथाकली, कठपुतली आदि नाट्य प्रस्तुतियाँ प्रचलित हैं। आज बैले, नाट्यऑपेरा, आरकेस्ट्रा, पाश्चात्य नाट्य प्रस्तुतियाँ भी भारत में प्रचलित हैं प्रायः महानगरीय जीवन में इनकी प्रविष्टि अधिक है, दूरदर्शन तथा सिनेमा भी आज अपना महत्त्व दर्ज करा चुका है। सेल्यूलाइड का रंगमंच वर्तमान जीवन में अधिक लोकप्रिय हो रहा है। यह जीवन वैज्ञानिक तकनीक है जो रंगमंच के स्वरूप को परिवर्तित करने में अग्रणी है। मुखौटे लगाकर तथा छाया-प्रदर्शन भी रंगमंच की उपस्थिति को दर्शाता है। प्राचीन एवं नवीन रूप रंगमंच की विशेषताओं को आज भी प्रदर्शित कर रहे हैं।

रंगमंच के लिए 'सज्जा' एक अनिवार्य आवश्यकता है। प्रेक्षागृह, जहाँ रंगमंच निर्मित होता है, वह खुला या बंद दोनों प्रकार का हो सकता है। आवश्यकता एवं स्थिति के अनुसार छोटा और बड़ा भी बनाया जाता है। आज महानगरों में सुसज्जित, स्थायी, वातानुकूलित, स्वच्छ, विशाल प्रेक्षागृह बने हैं, वहीं दूसरी ओर सुविधाहीन, सड़क के मोड़ पर 'नुक्कड़ नाटक' भी आयोजित होते हैं। इनके लिए तात्कालिक सुविधा की पूर्ति सहित रंगमंच बना लिया जाता है।

दृश्यबंध भी रंगमंच के लिए आवश्यक है। कथाक्रम से संबंधित आवश्यक उपकरण ही 'दृश्यबंध' है, सामग्री, उपादान, वस्तुएँ आदि इसके अन्तर्गत अपेक्षित होती है। प्रकाश-व्यवस्था रंगमंच की जरूरत है– सुख-दुख की दृश्यावलियों को व्यक्त करने के लिए प्रकाश का संयोजन किया जाता है। मुख-मुद्राओं एवं छाया प्रदर्शन के लिए भी इसकी आवश्यकता पड़ती है। इसके साथ ही संगीत एवं ध्वनि योजना भी आवश्यक है, संगीत का पार्श्व-प्रयोग तथा प्रेम-रोमांच, दुख-शोक आदि भावों की प्रस्तुति के लिए संगीत ही सशक्त माध्यम होता है। बिजली, टेलीफोन की घंटी, रेल की गति को व्यक्त करने के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग आवश्यक होता है। विज्ञान के प्रयोग ने इस ध्वनि प्रयोग को और सार्थकता प्रदान की है। वेशभूषा को

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भी रंगमंच का मूल तत्त्व माना गया है। राजा, प्रजा, साधु, शैतान, शिक्षक, स्त्री आदि को वेशभूषा ही 'अलग' करती है। विदूषक या जोकर अपनी वेशभूषा से ही पहचाना जाता है। उसे हास्य रस का आलम्बन उसकी वेशभूषा ही बनाती है।

नाटक, नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, प्रेक्षागृह, मंचसज्जा आदि रंगमंच से ही संबंधित है। नाट्यकर्मी रंगकर्मी की भी भूमिका का निर्वाह करता है। रंगमंच से सम्बद्ध कलाकार आज अपने अभिनय के शीर्ष पर पहुँचने का उपक्रम कर रहे हैं। यथार्थ वास्तविकता एवं विश्वसनीयता के गुणों की सृष्टि इस क्रम में अपरिहार्य है। आज का रंगकर्मी विभिन्न प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त है। जीवनमूल्यों के इस संक्रमणकालीन समय में वह हताश और चिंतित है। सांस्कृतिक, नैतिक तथा आदर्शपरक मूल्यों की अभिव्यक्ति ईमानदारी से करने में असमर्थ दिख रहे हैं। इसका कारण सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थितियों परिस्थितियों की अस्तव्यस्तता है। सिनेमा घर की टिकट खिड़की पर जो भीड़ और गहमागहमी रहती है, 'हाउसफुल' के बोर्ड लटकते हैं, टिकट बिक्री काला बाजारी में होती है– वैसा उत्साह रंगमंच पर प्रदर्शित होने वाले नाटकों में क्यों नहीं है? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अश्लील, द्विअर्थी सम्वाद तथा नग्नदृश्य रंगमंच पर नहीं दिखाये जा सकते क्योंकि 'रस' के साधारणीकरण की प्रक्रिया को भी बनाये रखना रंगकर्मी की चिन्ता है। साम्प्रदायिक सद्भाव, धार्मिक पवित्रता, सामाजिक एक्ट, राजनीतिक-समीकरण, सांस्कृतिक गरिमा, अर्थ चिन्तन तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना करना रंगमंचीय नाटक का लक्ष्य होता है।

इसी से रंगमंच की आज भी प्रतिष्ठा है– भले ही दर्शकों की संख्या सिनेमा से कम हो।

रंगमंच का भविष्य उज्ज्वल है। भारतीय महानगरों दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि में रंगमंच के प्रति जनोत्साह है। रंगकर्मी तथा अभिनेता भी हैं– जिनका सम्पूर्ण समर्पण नाट्यकला तथा रंगमंच के विकास हेतु है। भोपाल स्थित भारत भवन, लखनऊ स्थित 'दर्पण'- रंगमंच, कलाकारों को प्रोत्साहित करता रहा है। अनेक रंगमंच कलाकार आज 'दूरदर्शन के चहेते' बन गए हैं और फिल्माकाश पर भी उनकी चमक बन रही है। रंगमंच के प्रति जनरुचि में वृद्धि हो रही है और संभावनायें बलवती हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१३
रंगमञ्च

डॉ. शैलजा पाण्डेय

वैदिक यज्ञभूमि नाटकों की रंगभूमि रही है एवं वैदिक कर्मकाण्ड नाट्य परम्परा के मूल स्रोत। कालिदास ने नाटक को 'शान्तं चाक्षुषं क्रतुं' कहा है।[१] इस चाक्षुष यज्ञीय प्रक्रिया का विधान पञ्चम वेद नाट्य शास्त्र में प्राप्त होता है। नाट्यवेद में सभी प्रकार के ज्ञान, शिल्प, विद्या एवं कलादि का समावेश रहता है।[२]

भारतीय रगंमञ्च की ऐतिहासिक यात्रा वेद से प्रारम्भ होती है। अशोक के शिलालेख भी इस तथ्य की सम्पुष्टि करते हैं।[३] ऋग्वेद के संवाद सूक्त (पुरुरवा–उर्वशी संवाद, यज्ञ-यज्ञी संवाद आदि) वर्तमान नाट्य परम्परा के मूल हैं। भरतमुनि के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्यशास्त्र की संरचना ऋग्वेद से पाठ, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस लेकर की।[४] नाटकों को वेदमूलक मानने वाले विद्वानों में डॉ. श्रीधर, डॉ. विन्टरनित्ज, डॉ. ओल्डनबर्ग प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं।[५]

नाटकों के मूल के विषय में अन्य मत भी प्राप्त होते हैं। कुछ विद्वान् नाटक का प्रारम्भ विष्णुपूजा से मानते हैं तो डा. पिशेल नाटकों में सूत्रधार पद का प्रयोग देखकर इसे पुत्तलिका नृत्य से जोड़ते हैं। कतिपय विद्वान नाटक का उद्भव पितरों की पूजा से जोड़ते हैं तो डा. लूडर्स, कोनों एवं पिशेल प्रभृति इसे छाया नाटकों से उद्भूत मानते हैं।[६] परदे के लिये 'जवनिका' पद के प्रयोग से भारतीय रंगमञ्च को ग्रीक प्रभाव से भी जोड़ा गया। इस मत के प्रमुख प्रतिपादक जर्मन विद्वान् डॉ० वेबर एवं डॉ. विण्डिश हैं।[७]

किन्तु डॉ. वेबर का मत तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता क्योंकि परदे की अवधारणा भारतीय रंगमञ्च के लिये नवीन नहीं है। अमरकोश में 'पटवेश्म' 'वस्त्रवेश्म' आदि शब्द का व्यवहार परदे के लिये किया गया है। अपरतः जवनिका पद यूनान से सम्बद्ध जवनिका का अपभ्रंश नहीं है अपितु पाणिनीय व्याकरण से सिद्ध जवनिका शब्द है।[८] यूनानी नाटक प्रायः खुले आकाश के नीचे होता था। जबकि भारतीय नाट्य प्रयोग के संग में प्रेक्षागृह का उल्लेख मिलता है।[९] इसके विपरीत परवर्ती एलिजाबेथयुगीन रंगमंच संरचना की दृष्टि से भारतीय रंगमंच के अत्यन्त सन्निकट है।[१०] अतः यह सुनिश्चित है कि भारतीय नाट्य-प्रयोग पाश्चात्य जगत् से अप्रभावित है।

भारत्तीय रंगमञ्च के विकास में जहाँ एक ओर वेदों का योगदान रहा है, वहीं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

लोकोत्सवों ने भी इसकी पृष्ठभूमि तैयार की है। बंगाल के 'यात्रा' उत्सव में रामचरित एवं कृष्णचरित का अभिनय, नवरात्र में सम्पन्न होने वाली रामलीलाएँ, मथुरा की रासलीला, महाराष्ट्र का गणपतिपूजन महोत्सव लोक नाट्य परम्परा की कड़ियाँ हैं। कन्नड के समुद्रतटीय ग्रामों में 'भूतस्थान' देवालय होते हैं। इन देवालयों के सम्मुख 'मानी' पुरुष भड़कीले वस्त्र पहनकर, पारम्परिक सज्जा, घुँघरू, तलवार आदि से सुसज्जित होकर वाद्य एवं गीत के साथ भूताविष्ट व्यक्ति का अभिनय करता है। यह एक लोकनाट्य विधा है, जिसका प्रयोग भूत-पूजन के लिये किया जाता है।[११] इसी प्रकार नाग देवता को प्रसन्न करने के लिये नाग-नृत्य का आयोजन एक नाट्य-प्रयोग है। नृत्य स्थान को रंगोली से सजाते हैं। एवं नर्तक नाग के सदृश्य वस्त्र पहनकर एवं प्रसाधन कर नाग की भंगिमा में नृत्य करता है।[१२] कौटिल्य ने लोक-मनोरञ्जनार्थ नट-नर्तकों द्वारा प्रदर्शित प्रेक्षाओं का उल्लेख किया है। प्रेक्षाओं में स्त्री एवं पुरुष दोनों ही कार्य करते थे जिन्हें गोप जीवी कहा गया है। इसके अतिरिक्त कुशीलव भी सर्वत्र विचरण करते हुये प्रेक्षाओं का प्रदर्शन करते थे। वर्षा काल में उन्हें भ्रमण करते हुये प्रेक्षा-प्रदर्शन की अनुमति नहीं दी गई है।[१३]

इसके अतिरिक्त मन्दिरों के प्रांगण भी नाटकों के रंगमञ्च बने। यहाँ देवताओं के चरितों का अभिनय भक्त-जनों के सम्मुख किया जाता था, जो कि देवाराधन का एक अंग था।[१४]

नगरों में सभ्य नागरिकों, राजपुरुषों एवं राजपरिवार के मनोरञ्जनार्थ प्रेक्षागृहों का निर्माण हुआ।[१५] प्रथम रंगमञ्च की रचना एवं नाट्य-प्रयोग भरत मुनि ने इन्द्रध्वजोत्सव में किया। देवासुर संग्राम में देवों की विजय के प्रसंग में इन्द्रविजय नाटक का अभिनय हुआ। नाटक में देवताओं की विजय देखकर दानव अत्यन्त क्रुद्ध हुए। उन्होंने नाटक में विघ्न प्रारम्भ कर दिया। इस पर इन्द्र ने दैत्यों को इन्द्रध्वज की यष्टि से मार भगाया तथा नाटक की विघ्नों से रक्षा के लिये विश्वकर्मा को नाट्यगृह बनाने का आदेश दिया।[१६] इसी घटना के प्रतीक के रूप में आज भी नाटक से पूर्व रंगमंच पर विघ्वविनाशार्थ जर्जर-पूजन का विधान होता है।

महोत्सवों के प्रसंग में क्रीड़ादि के प्रदर्शन के लिये रंगभूमि का उल्लेख पुराणों में प्रायः मिलता है।[१७] श्रीमद्भागवत, विष्णु एवं हरिवंशादि पुराणों में कंस निर्मित रंगभूमि का उल्लेख मिलता है। रंगभूमि में प्रवेश एवं निर्गम द्वार, पौरों एवं जनपदवासियों के लिये यथायोग्य आसन-व्यवस्था, राजमञ्च, मल्लों का मञ्च, अन्तः पुर की स्त्रियों एवं नागरी स्त्रियों के लिये पृथक मञ्च आदि की व्यवस्था थी। मल्लों की क्रीड़ा-प्रदर्शन का स्थल दर्शकों के मध्य बना था। हरिवंश पुराण[१८] के अनुसार रंगभूमि चित्रमय अष्टास्रिचरण, अर्गला-द्वार- वेदिका से युक्त अर्धचन्द्राकार गवाक्ष, मञ्च तथा छत आदि से युक्त थी। राजकुल की स्त्रियों के लिये पृथक् आसन व्यवस्था थी।

महाभारत में कौरवों एवं पाण्डवों के शस्त्रास्त्र सम्बन्धी कौशल प्रदर्शन के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

लिये रंगमण्डप का उल्लेख मिलता है। रंगमंच पर विभिन्न शस्त्रास्त्र सुसज्जित थे। रंगमंडप मुक्तामालाओं से अलंकृत था। वहाँ बैठने के लिये राजपरिवार, गणमान्य तथा अतिथियों के लिये यथोचित आसन-व्यवस्था थी।[१९]

स्थापत्य एवं शिल्प की दृष्टि से प्रेक्षागृह एवं रंगमञ्च का संस्कृत वाङ्मय में विशद वर्णन प्राप्त होता है। नाट्यगृह देवालय के पुरोभाग या दक्षिणभाग में मन्त्री या सेनापति के भवन के पार्श्व में चौराहों पर, राजपथ के अनृ में या श्रृंगार के नीचे रंगशाला एवं गीतिशाला की स्थापना एक साथ अथवा पृथक्-पृथक् होनी चाहिये।[२०]

प्रेक्षागृह या नाट्य मण्डप के विभिन्न आकार एवं प्रकारों का वर्णन किया गया है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार नाट्य मण्डप आयताकार एवं चतुरस्राकार दो प्रकार के कहे गये हैं। आयतनाट्यमण्डप ३२ हाथ का एवं चतुरस्र उसका दुगुना कहा गया है।[२१] भरतमुनि के अनुसार प्रेक्षागार विकृष्ट (आयत या मण्डलाकार),वर्गाकार अथवा त्रिभुजाकार हो। ये प्रमाणभेद से ज्येष्ठि, मध्यम एवं कनिष्ठ कहे गये हैं। इनमें से ज्येष्ठ विकृष्ट नाट्य गृह देवों के लिये तथा शेष मनुष्यों के लिये विहित हैं। नाट्यशास्त्र में सभी भेदों का प्रमाण पूर्वक वर्णन मिलता है।[२२]

भरतमुनि ने नाट्य-शाला की निर्मित का सागोंपांग निरूपण किया है। निर्माण के लिये चयन की गई भूमि सम, स्थिर, कठोर, कृष्ण या श्वेत वर्ण के मिट्टी वाली हो। भूमि चयन के पश्चात् भूमिशोधन एवं शुभ नक्षत्र में भू-मापन करें।[२३] तदनन्तर भूमि का वास्तुपदविन्यास करें। विकृष्ट नाट्य मण्डप के निर्माण के लिये ६४X३२ के क्षेत्र के दो भाग करना चाहिये। पुनः एक भाग के दो भाग करे। एक भाग में नेपथ्यगृह की योजना बनानी चाहिये।[२३]

वास्तु विभाग के अनन्तर नाट्य-गृह का शिलान्यास[२४] भित्ति-संरचना एवं स्तम्भ निर्माण हो।[२५] रंग पीठ से ऊँची रंगपीठ के दोनों ओर १ १/२ हाथ की मत्तवारणी की संरचना की जानी चाहिये। यह बरामदे के आकार की कही गई है।[२६] रंगपीठ के पिछले भाग में नेपथ्यगृह का निर्माण हो जो कि रंगपीठ से ऊँचा हो तथा पात्रों के प्रवेश एवं निष्क्रमण के लिये दो द्वारों से युक्त हो। रंगपीठ की वेदिका काली मिट्टी की बनी हो। यह मिट्टी श्वेतवर्ण के बैलों से जुती एवं कंकण पत्थर रहित हो। श्रमिक भी विकलांग न हों। वेदिका बीच में ऊँची एवं चारों ओर नीची हो। इसकी सतह दर्पण की तरह समतल हो। रंग पीठ के साथ ही रंगशीर्ष की रचना का भी विधान है।[२७]

रंगपीठादि के निर्माण के पश्चात् नाट्यगृह में काष्ठ कर्म का विधान किया गया है। स्तम्भ, द्वार, वातायन आदि के निर्माण में काष्ठ-शिल्प का उत्कृष्ट प्रयोग हो। स्थान-स्थान पर सर्प हाथी एवं अलंकृत काष्ठ-पुत्तलिकायें बनाई जायें। इतना अवश्य अवधेय है कि स्तम्भ वातायन या नागदन्त आदि किसी दर्शक के सामने अवरोध न उपस्थित करें।[२८]

प्रेक्षागृह द्विभूमिक एवं शैलगुहाकार हो। इसमें छोटे-छोटे वातायन हों जिससे

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वायु के कम प्रवेश होने से अन्दर स्वर गूँजे। मण्डप की भित्ति पुताई के पश्चात् चमकदार लगे। उन पर श्रृंगार एवं ललित भाव युक्त स्त्रियों एवं पुरुषों का, लता, वृक्ष, गुल्म, पर्वत, नदी, विविध विलास एवं क्रीड़ा आदि का अंकन हो। प्रेक्षागृह में चार या छह द्वार बनें।[२९]

चतुरस्र नाट्य गृह ३२X३२ प्रमाण का कहा गया है। दीवारें इष्टका निर्मित हों। दस स्तम्भ हों तथा प्रेक्षकों की आसन व्यवस्था सोपानाकृति हो। ये सोपान लकड़ी एवं ईंट से बने हों। धरातल से १ हाथ ऊपर उठते हुये वहाँ तक ऊँचे बने जहाँ से रंगपीठ सीधा परिलक्षित हो। इस नाट्यगृह में भी रंगपीठ, रंगशीर्ष, नेपथ्य, मत्तवारणी आदि बनें। रंगपीठ ८ हाथ की एवं उसके दोनों ओर ४-४ स्तम्भ की मत्तवारणी बने। रंगपीठ का धरातल दर्पण के तल की भाँति समतल एवं वेदिका भी समतल बने।[३०]

त्र्यश्र् नाट्यगृह त्रिभुजाकार होता है। इसका रंगपीठ भी त्रिभुजाकार बनता है। इसका एक द्वार कोने में एवं दूसरा रंगपीठ के पीछे अभिनेताओं के प्रवेश के लिये होता है। भित्ति स्तम्भादि अन्य प्रेक्षागारों के सदृश होता है।[३१]

विश्वकर्मा के अनुसार रंगशाला के तीन विभाजन– दैव, गान्धर्व एवं मानुष्य– हों। दैवभाग में शान्त अलंकरण हो, गान्धर्व भाग में गान व्यवस्था तथा मनुष्य भाग में सभासदों की आसन व्यवस्था हो। राजमहिषी एवं संभ्रान्त स्त्रियों के बैठने की पृथक् व्यवस्था हो। मानुष्य भाग का पुरोभाग 'वैरिञ्च' तथा द्वार 'ब्रह्मद्वार' कहलाता है। गर्भार्धक के द्वार को 'व्यास द्वार' कहते हैं। रंगवेदी पर एक ओर गायकों का स्थान हो। वाम पार्श्व में नट-नर्तकों के वस्त्रादि का स्थान तथा रंग वेदी के सम्मुख नान्दिकोचित शाला हो। रंगशाला का मध्य भाग विशाल एवं नाना प्रांगणों से युक्त हो। शिखर एवं कर्णनासा से युक्त विमान रंगशाला के उर्ध्व भाग में बने। इसकी सज्जा स्तम्भ, मणिदर्पण, वातायन, तोरण एवं चित्रादि के द्वारा की जाय। चित्र के वर्ण्य विषय विधाता, सरस्वती, विद्याधरी, चन्द्र, सूर्य आदि हों। द्वार पार्श्वों पर खड्गधारी योद्धा, चामरधारिणी, दिव्यांगनायें, लक्ष्मी, उमा, शिव तथा दिव्य गायकादि का अंकन हों। कहीं-कहीं उद्यान वापी आदि का भी उल्लेख मिलता है।[३२]

मानसार के अनुसार मध्यरंग में अंघ्रिपाद मसूरक वेदी मञ्च कुट्टिम उपपीठ आदि का निर्माण हो। इनका अलंकरण व्यालमकर मुष्टिबन्ध लुपा आदि के द्वारा किया जाय।[३३]

इस प्रकार भारतीय रंगमञ्च अपनी वैज्ञानिकता, सुव्यवस्था एवं शिल्पशास्त्र के अप्रतिम निदर्शन के रूप में विश्व की रंगशालाओं के इतिहास में अपना अप्रतिम स्थान रखता है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सन्दर्भ

१. मालविकाग्निमित्रम्, १/४
२. नाट्यशास्त्र, १/११३
३. रावलिन्सन, एच. जी.– इन्डियाः ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ. १३४
४. नाट्यशास्त्र, १/१७
५. उपाध्याय, बलदेव, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ४८४–४८५
६. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. ४८३, तु० उपाध्याय, भगवतशरण– भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका, पृ. १३४
७. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. ४८६
८. उपाध्याय, बलदेव, वही, ४८६-४६०, अमरकोश, २/१/२१०
६. उपाध्याय, बलदेव, वही, पृ. ४६४
१०. रावलिन्सन, एच. सी., इन्डियाः ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ. १३५
११. रंगनाथ, एस, के. द कन्नड थियेटर, पृ. ३३-३४
१२. रंगनाथ, एस. के, वहीं, पृ. ३५-३६
१३. सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, पृ. २८१, उपाध्याय रामजी, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ. ६०४
१४. विश्वकर्मा वास्तु शास्त्र, ४६/१
१५. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, ३/२०/२-४
१६. नाट्यशास्त्र, १/५४-७०
१७. श्रीमदभागवत १०/४२/३३-३८, ४३/१; विष्णु० ५/२०/२७, ६३, हरिवंश०, २/२८/६-७, २/२६/२-६, १२-१३
१८. हरिवंश पुराण, पूर्वोक्त उद्धरण
१६. महाभारत; आदिपर्व, ३८
२०. विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, ४६/१
२१. विष्णु धर्मोत्तर पुराण, ३/२०/५
२२. नाट्यशास्त्र, २/६-१०
२३. वही, २/२६-३०
२४. वही, २/३०-३८
२५. वही, २/३६-४६
२६. वही, २/४६-६६
२७. वही, २/६७-७२
२८. वही, २/७३-७६
२६. वही, २/८०-८५
३०. वही, २/८५-६०
३१. वही, २/६१-१०५
३२. वही, २/१०६-१०६
३३. विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र, ४६/१-२६
३४. मानसार, ४७/२-१३

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१४

वृत्तयो नाट्यमातरः

डॉ. कृष्ण चन्द्र झा

पाश्चात्य यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने कला को अनुकरण मानकर संसार की समग्र चेष्टाओं को भी अनुकरण ही मान लिया है। अरस्तू ने त्रासदी की व्याख्या करते हुए उसे कार्यों की अनुकृति माना है। इन अनुकृतियों में हमारी चेष्टाएँ हमारे मानसिक भावों के अनुरूप होने लगती हैं। काव्य, ललितकला, नाटक आदि में मानव तथा मानवेतर का अनुकरण कर उसके द्वारा आनन्द की उत्पत्ति या रसोद्‌बोध होता है। यह अनुकरण केवल बाह्य प्रकृति का ही नहीं होता है, अपितु मानव की अन्तः प्रकृति का भी। एक कुशल कवि, चित्रकार या नाटककार पात्रों के मनोजगत रागादि की तरह उसकी बाह्य चेष्टाओं को भी वर्णित करता है। इन्हीं बाह्य चेष्टाओं का अभिनय वृत्तियाँ हैं।

आचार्य भरत ने भी अभिनय का आश्रय स्थल वृत्तियों को मानकर कार्यों की अनुकृति के रूप में वृत्तियों को स्वीकृत किया। अभिनय का अर्थ होता है अभिनेय चरित की अवस्थाओं का जिसमें अनुकरण हो– भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः।[1] अर्थात् जिसमें अभिनेता द्वारा शरीर, मन तथा वाणी से अभिनेय चरित की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है। नाट्‌यशास्त्र में अभिनय की व्याख्या करते हुए भरत ने कहा है कि जिसके सांगोंपांग प्रयोग द्वारा नाट्‌य के अनेक अर्थों का श्रोता या सामाजिक के हृदय से विभावन या रसास्वादन कराया जाय उसे अभिनय कहते हैं–

विभावयति यस्मांच नानार्थामिह प्रयोगतः
शाखांगोपांग संयुक्त तस्मादभिनय स्मृतः।[2]

अभिनय में भावों और रसों के प्रदर्शन के लिए वृत्तियों का महत्त्वपूर्ण योग माना गया।

आचार्य भरत के अनुसार काव्यकार या नाटककार जब अपने हृदय को वृत्तियों से अभिभूत कर लेता है, तभी काव्यरत्न की सृष्टि होती है। जब तक लेखक का अन्तःकरण रस की अवस्था विशेषमयी वृत्तियों के द्वारा आक्रान्त नहीं होता तब तक वह काव्य-निर्माण नहीं कर सकता। अतएव भरत ने वृत्ति को काव्यों की माता कहा है– सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः।[3]

काव्य के अन्तर्गत नाटक भी चला जाता है, अतः नाट्‌य की भी मातृरूपा वृत्तियाँ हैं– वृत्तयो नाट्‌यमातरः।[4] भरत के इस कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि वृत्ति ही इन सबों की उत्पत्ति का मूल स्रोत है, इसलिए यह जननी कही जाती

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है।

रस भाव तथा अभिनय इन तीनों की आधारशिला पर ही काव्य या नाटक की पृष्ठभूमि तैयार होती है। अतएव वृत्तियों की योजना का अभिप्राय पाठकों तथा दर्शकों को हृदय में रस तथा भाव का संचार करना है। अतएव भरत ने वृत्तियों का सम्बन्ध रसों के साथ स्थापित किया है। नाट्यशास्त्र के अनुसार श्रृंगार तथा हास्य रसों के अभिनय में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग आवश्यक माना गया। वीर और अद्भुत रसों के लिए सात्वती वृत्ति उपयुक्त मानी गई है। रौद्र तथा वीभत्स रसों के अभिनय के लिए आरभटी वृत्ति उपयुक्त है। भारती वृत्ति को सभी रसों के साथ सन्निविष्ट कर दिया गया है– श्रृंगारे चैव हास्यं च वृत्तिः स्याद् कैशिकीति सा सात्वती नाम सा ज्ञेया वीर रौद्राद् भूताश्रया। भयानके च वीभत्से च रौद्रैचारभटी भवेत्। भारती चापि विज्ञेया करुणादभुतसंश्रया।[५] इस प्रकार नाट्यशास्त्र में वृत्तियों का परिगणन रसोद्बोधक अभिनयों के प्रयोग हेतु विभिन्न चेष्टाओं के रूप में हुआ।

नाट्यशास्त्र में भरत ने वृत्तियों का जो स्वरूप निर्धारित किया वह आनन्दवर्धन के समय तक कई भागों में विभक्त हो गया। इस काल तक वृत्तियों के मुख्य तीन रूप उपलब्ध हुए–

(क) अभिधा लक्षणादि शब्द वृत्तियों के रूप में।

(ख) उपनागरिकादि के रूप में (पद रचना के सन्दर्भ में)।

(ग) नाट्य वृत्तियों के रूप में।

वृत्ति के सम्बन्ध में चली आती हुई उपर्युक्त भ्रांतियों को दूर कर उसे एक निश्चित स्वरूप आनन्दवर्धन ने ही सर्वप्रथम प्रदान किया। उन्होंने रस आदि के अनुकूल शब्द और अर्थ के उचित व्यवहार को वृत्ति की संज्ञा दी।

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयो
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा।[६]

आनन्द की इस परिभाषा से पता चलता है कि वृत्ति दो प्रकार की होती है– (क) रसानुगुण औचित्यमुक्त शब्द व्यवहार (ख) रसानुगुण औचित्ययुक्त अर्थ व्यवहार। इनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त शब्द भी दो प्रकार के होते हैं– (क) शब्द रचना की दृष्टि से उपनागरिका, परुषा कोमला आदि एवं अर्थ बोधानुकूल व्यापार की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि। रसानुगुण औचित्ययुक्त अर्थ-व्यवहार के अन्तर्गत आनन्दवर्धन ने कैशिकी, सात्वती, आरभटी आदि वृत्तियों को माना है। आनन्द के अनुसार रसानुकूल प्रयुक्त कैशिकी आदि तथा उपनागरिका आदि वृत्तियाँ नाटक और काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं। इन्होंने उपर्युक्त दोनों वृत्तियों के आत्मभूत तत्त्व के रूप में रस को ही माना है– रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीविभूता।[७]

उद्भट ने अनुप्रास के एक भेद वृत्यनुप्रास के अन्तर्गत वृत्तियों का परिगणन किया है। उद्भट की ये वृत्तियाँ भरत की नाट्य वृत्तियों से भिन्न हैं। अभिनवगुप्त ने अभिनव भारती में उद्भट के वृत्ति विषयक मत तथा भट्टलोल्लट द्वारा किये गये

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उद्भट के मत के खण्डन का सार भी प्रस्तुत किया है।

उद्भट ने अवस्था के अनुसार वृत्तियों का वर्णीकरण किया है। अवस्थाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं– चेष्टा तथा चेष्टारहित। चेष्टा युक्त क्रियाशीलनों में पात्रों के व्यापार स्वतः प्रस्तुत होते हैं। किन्तु दूसरी अवस्था में क्रियाशीलनों का सर्वथा अभाव रहता है। यह अवस्था उस समय आती है, जब पात्र अपनी चेष्टाओं के पल का उपभोग करता है। यह अन्तिम वृत्ति फल की उपलब्धमयीवृत्ति है, इसका नाम फलसंवित्ति है। चेष्टाएँ भी उचित तथा अनुचित ढंग से होती हैं। अतएव उद्भट् ने न्यायवृत्ति तथा अन्यायवृत्ति के नाम से इन चेष्टाओं का वर्णन किया है। उद्भट ने वाक् तथा चेष्टा के अनुरूप दोनों वृत्तियों के वैविध्य को भी स्वीकार किया है। इन्होंने पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) से इन वृत्तियों का सम्बन्ध माना है। इस कारण इनके चार-चार भेद हो जाते हैं। अंतिम वृत्ति फलसंवित्ति विभिन्न रसों से सम्बन्धित होने के फलस्वरूप नाना रूपों की हो जाती है।

आद्वयो वाक् चेष्टाभ्यां पुरुषार्थ चुतुष्ट्येनाष्टविधे
षोडशयातद्रवयतः फलवृत्तिर्नैकधा तु रस भेदात्।[८]

इस प्रकार उद्भट अपरोक्ष रूप से वृत्तियों के अनगिनत भेद स्वीकार कर लेते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उद्भट् ने परम्परागत आती हुई वृत्तियों के स्वरूप में मौलिक अन्तर स्वीकार किया। भरत के वृत्तिचतुष्ट्य का खण्डन तो किया ही, साथ ही उनके नामों में भी परिवर्तन करते हुए एक नवीन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भट्टलोल्लट भरत के रस– सूत्र के प्रवीण व्याख्याता थे। उन्होंने उद्भट के मत का खण्डन करते हुए अपनी दृष्टि से वृत्ति का स्वरूप-निर्धारण किया। लोल्लट का यह खण्डन भी अभिनवगुप्त के अभिनव भारती में ही प्राप्त होता है। उन्होंने सर्वप्रथम चेष्टाराहित्य रूप वृत्ति फलसंवित्ति की आलोचना करते हुए कहा कि उद्भट् ने जो व्यापार शून्य चेष्टा का उल्लेख किया है वह निराधार है, क्योंकि व्यापारहीनता की कल्पना वृत्तियों में करना अयुक्तिसंगत है। उद्भट् ने फल के उपभोग के उपरान्त की वृत्ति फलसंवित्ति मानी है। लोल्लट का कहना है कि किसी भी अवस्था में व्यापार शून्य नहीं होता। यहाँ तक कि मरण तथा मूर्च्छा में भी व्यापारों का अवसान नहीं होता। लोल्लट ने केवल इसी वृत्ति की आलोचना नहीं कि अपितु उनकी अपर दोनों वृत्तियों-न्यायवृत्ति तथा अन्यायवृत्ति की भी आलोचना की। लोल्लट का तर्क है कि यदि नाटक का कोई अंश व्यापार शून्य भी होता है, तो भी उस नाटक को वृत्तिहीन नहीं मान सकते। इससे नाटक के वृत्तिमय होने में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता। नाटक में समग्रतः वृत्तियों के अभाव की कल्पना भी नहीं कि जा सकती।

अगर कुछ अंश में व्यापार रूप वृत्ति का अभाव भी है, तो उससे कोई हानि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

नहीं होती।

उद्भट् एवं लोल्लट की वृत्ति विषयक धारणा उनके किसी स्वतंत्र ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती तथापि अभिनव द्वारा उपस्थापित मन्तव्यों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि लोल्लट, आचार्य भरत की नाट्यवृत्तियों के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन स्वीकार नहीं करते।

लोल्लट ने वृत्तियों को व्यापार रूप माना तथा पात्रों की चेष्टाओं एवं उनके व्यवहारों की वृत्ति की संज्ञा दी। इन्होंने व्यापार को ज्ञानात्मक माना है। उन्होंने नाटकादि में रस की उपस्थिति से तात्पर्य निकाला है– दार्शनिक ऊहापोहों से दूर रहना। नाटक जिसका सम्बन्ध अनुकरण से है। अभिनय प्रधान होने के कारण दर्शकों के मन पर गहरी छाप छोड़ता है। अनुकरण के माध्यम से यह जागतिक मूर्त पदार्थों का प्रदर्शन कर दर्शकों के हृदय में रसोन्मेष कराता है। यहीं वृत्ति की सार्थकता नाटक में दीख पड़ती है।

उद्भट् और लोल्लट के सिद्धान्तों के विवेचन के क्रम में एक ओर आचार्य शकलीगर्भ के सिद्धान्तों पर विचार कर लेना भी संगत होगा।

शकलीगर्भ ने भी उद्भट् के मतों का खण्डन किया है। इन्होंने उद्भट् के चेष्टाराहित्य वृत्ति फलसंवित्ति का खण्डन करते हुए बताया है कि वृत्ति एक सात्यात्मक व्यापार है, जो मरणोपरांत भी चलता रहता है। उस समय आत्मा एवं प्रकाश के द्वारा चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति के लिए अपने ज्ञान का अनुभव करती है। जब बाह्य जगत् व्यापार शून्य हो जाता है, तब यही सात्यात्मक व्यापार चलता रहता है।

शकलीगर्भ एक वेदान्ती थे। उन्होंने अद्वैत वेदान्तों के सिद्धान्तों द्वारा वृत्तियों के स्वरूप की व्याख्या की है। आत्मा की भी एक वृत्ति चलती रहती है, जो चिन्मय को प्राप्त करने के लिए हमेशा सचेष्ट रहती है। इसका प्रमाण सुषुप्तावस्था के समय प्राणियों की चित्त दशा है। सुषुप्तावस्था के उपरान्त जागृति होने पर सोऽहम् की अनुभूति जीव को होती है। जब बाह्य ज्ञान जीव को होता है, तब वह कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना। सुषुप्ति की अवस्था भी व्यापार शून्य अवस्था नहीं है। शकलीगर्भ ने मूर्च्छा के अनन्तर भी ज्ञान की दशा को माना है। उस समय केवल अन्तस् की इन्द्रियों का अस्तित्व रहता है, बाह्य इन्द्रियों के ज्ञान का अभाव रहता है। तात्पर्य है कि शकलीगर्भ किसी भी दशा को व्यापार शून्य होने की अवस्था नहीं मानते।

लोल्लट एक रसवादी आचार्य थे। अतएव उनका दृष्टिकोण रसोन्मेष पर अधिक रहा। उन्होंने उद्भट् के मत का खण्डन करते हुए शकलीगर्भ के वृत्ति-विषयक सिद्धान्त की तीखी आलोचना करते हुए रसोद्रेक के समय तथा रसानुभूति के समय दार्शनिक गुत्थियों से दूर रहने के लिए कहा। लोल्लट एक प्रसिद्ध मीमांसक भी थे। अतः कार्यकारणवाद की कसौटी पर भी उन्होंने अपने सिद्धान्त की परीक्षा की।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उनका कहना है कि बिना किसी कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। उसी प्रकार बिना किसी व्यवहार के या व्यापार के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती।

अभिनव गुप्त ने इन तीनों आचार्यों (उद्भट्, लोल्लट एवं शकलीगर्भ) के मतों को प्रस्तुत करते हुए कई नवीन तथ्यों की ओर निर्देशित किया है। अभिनवगुप्त भी रसवादी आचार्य थे। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से भी प्रभावित थे। एक तरफ उन्होंने अभिनव भारती के नाम से भरत के नाट्यशास्त्र की विस्तृत व्याख्या की तो दूसरी ओर से ध्वन्यालोक लोचन नाम से ध्वन्यालोक की भी टीका लिखी। अतः दोनों आचार्यों का समान प्रभाव भी इन पर दृष्टिगत होता है। यों काव्यशास्त्र पर अभिनव के किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का पता नहीं चलता, किन्तु इन्हीं दोनों के टीका ग्रन्थों में उनके सिद्धान्तों का पता चल जाता है।

वृत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में अभिनव ने नयी धारणा प्रस्तुत की। अभिनव गुप्त की वृत्ति पुरुषार्थ साधक व्यापार है—अर्थात् वह व्यापार जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में हमें सहायता प्रदान करता है। अभिनव ने भरत की वृत्ति जो "काव्यमातरः" एवं "नाट्यमातरः" के रूप में ख्यात हुई उसकी व्याख्या इसी आधार पर की। इनका अभिमत है कि काव्य या नाटक में ही वृत्ति का राज्य है, यह कथन उचित नहीं। उनके अनुसार काव्य में कोई भी वर्णन व्यापार शून्य नहीं होता— तस्माद् व्यापारः पुमर्थ साधको वृत्तिः। स च सर्वत्र वर्ण्यते इत्यतोवृत्तिः काव्यस्यमातृका इति। न किंचित् व्यापार शून्यं वर्णनीयमस्ति।[९] पुनः एक पग आगे बढ़कर अभिनव कहते हैं कि वृत्ति को काव्य क्षेत्र में ही सीमित कर देना उसके यथार्थ स्वरूप को न जानना ही है। उनकी वृत्ति की सीमा में सम्पूर्ण संसार का व्यवहार ही चला आता है। अभिनव का मन्तव्य है कि समग्र संसार ही चारों वृत्तियों से व्याप्त है— आस्तां काव्यार्थः सर्वो हि संसारः वृत्तिचतुष्केनव्याप्त।[१०] समस्त जीव लोक ही वृत्तियों से अभिभूत है। कब से यह जगत् वृत्तियों का आश्रय लेकर चल रहा है यह कहना कठिन है— ताः समग्रलोक जीवन्यः। अनिदं प्रथमताप्रवृत्ताः प्रवाहेण।[११] संसार की समग्र क्रिया वृत्तिचतुष्टय से व्याप्त हो रही है।

अभिनवगुप्त ने कायवाङ् मनःजा वृत्तियों को स्वीकार किया है। अर्थात् नाटक के पात्र तथा काव्य के नाटक के कार्य, वचन और मन की विचित्रता से संबलित चेष्टा ही वृत्ति कही जाती है। वृत्ति की अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने उद्भट् के सिद्धान्त का खण्डन किया है। उद्भट् ने ज्ञान शून्य पदार्थ में भी वृत्तियों की उपस्थिति स्वीकार की थी। इन्होंने ज्ञान शून्य पदार्थों में वृत्तियों की उपस्थिति को निराधार माना है। अभिनव ने उद्भट् के मत नाटक की समग्र वस्तुओं में कोई न कोई वृत्ति अवश्य होती है का खण्डन किया है। उन्होंने इसे अयुक्तिसंगत बताते हुए अस्थान संत्रास माना है। जैसे कोई व्यक्ति भयरहित स्थान में भी भय की कल्पना कर मूर्च्छादि को धारण करता है, उसी प्रकार—निवृत्तिक स्थानों पर भी वृत्ति की कल्पना करना उचित नहीं। अभिनव ने वृत्तियों की व्याख्या

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

करते हुए कहा कि उद्‌भट् ने जो यह कहा कि नाट्य में जो कुछ भी होता है, वह वृत्तियों के अन्तर्गत आता है तो फिर नाट्य के अनेक अंग संगीत आदि के रंग, मृदंग, पणव आदि वाद्यवृन्दों में वृत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है? उनका अभिमत है कि इन सबों में वृत्ति की कल्पना करना उपहासास्पद है। मद, मूर्च्छा आदि के वर्णन में मनोव्यापार रूप वृत्तियों की उपस्थिति रहती है। करुण रस में विलाप की प्रधानता रहने के कारण वाग्व्यापार की बहुलता रहती है। परन्तु आगे चलकर अभिनव ने जो अपना मन्तव्य प्रकट किया, उससे कुछ ऐसा लगता है कि अभिनव स्वयं इस सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं थे कि मूर्च्छादि अवस्थाओं में वृत्ति की कल्पना की जाय अथवा नहीं।

वे एक स्थल पर मद मूर्च्छादि के वर्णन में– "मदमूर्च्छादि वर्णनायामपि मनोव्यापारस्य सात्वत्यव्यस्य समवात्"[१२] सात्वती नामक एक वृत्ति की कल्पना करते हैं तो अन्यत्र कहते हैं कि समग्र नाट्य में वृत्ति की कल्पना नहीं की जा सकती। वे स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करते हैं कि मूर्च्छादि में व्यापार का अभाव होने से वृत्ति का अभाव है, क्योंकि वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त के अनुरूप ही व्यापार को वृत्ति मानते हैं। अतएव जहाँ क्रिया शून्यता है, व्यापार का अभाव है, वहाँ भी परम्परा या वृत्ति की खोज करना या किसी नयी वृत्ति की कल्पना करना युक्तिहीन तथा प्रमाण रहित है– मूर्च्छादि तु व्यापाराभावे वृत्याभावे एव। न हि सर्वनाट्यं वृत्तिब्रह्मतया समर्थनीयमितिअलम्।[१३] भोज ने वृत्तियों के सम्बन्ध में अपना एक अलग ही मत दिया है। इन्होंने वृत्तियों को बुद्धि से निकले अनुभावों की श्रेणी में रखा है– बुद्धयारम्भेषु वचन विन्यास क्रमोरीतिः चेष्टाविन्यास क्रमोवृत्तिः। वेषं विन्यास क्रमोप्रवृत्तिः।[१४] यह बुद्धयारम्भानुभाव के अन्तर्गत परिगणित होता है। उन्होंने वृत्तियों को चेष्टाविशेष– विन्यासकरण के रूप में भी स्वीकार किया है। भोजराज की यह मान्यता आनन्दवर्धन के व्यवहार से सम्बद्ध दीख पड़ती है। उन्होंने कार्य– वाङ् मनः व्यापार स्वरूप वृत्तियों को स्वीकार किया है।[१५]

भोज ने बुद्धयारम्भानुभाव के अन्तर्गत रीति-वृत्ति तथा प्रवृत्ति को रखा है– बुद्धरम्भास्तथा प्रोक्ताः रीतिवृत्ति प्रवृत्यः। भोज ने वृत्तियों के सम्बन्ध में अपने व्यापक दृष्टिकोण का परिचय दिया। इनके समय तक वृत्तियों के कई रूप काव्यशास्त्र में स्वीकृत हो चुके थे। प्रायः वृत्तियों के निम्न रूप उस समय तक स्वीकृत हो चुके थे– रूद्रट की समासा असमासा वृत्ति, उद्‌भट् की उपनागरिकादि वृत्ति जिसे मम्मट ने भी स्वीकार किया था, ध्वनिकार आनन्द की शब्दवृत्तियाँ एवं अर्थवृत्तियाँ आदि। भोज पर इन सभी आलंकारिकों के सिद्धान्तों का प्रभाव भी पड़ना आवश्यक था। उन्होंने अपने पूर्वकालिक आचार्यों की मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए वृत्तियों का स्वरूप निर्धारित किया। भोज ने अपनी द्वादश वृत्तियों (शब्द वृत्तियों) को सौकुमार्यादि गुणों तथा कैशिक्यादि वृत्तियों में ही अन्तर्भूत कर दिया। इससे स्पष्ट होता है कि भोज इन वृत्तियों की पृथक सत्ता नहीं मानते।[१६]

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

राजशेखर ने विलास के विन्यासक्रम को वृत्ति मानकर हावभाव एवं चेष्टाओं को ही प्रमुखता दी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विलास क्या है? विलास नायक के गुणों को कहते हैं। साहित्य दर्पण में उसका लक्षण देते हुए कहा गया है कि– गम्भीर दृष्टि से देखना, निराली चाल से चलना और मुस्कराकर बातें करना, ये विलास के चिह्न हैं– धीरा दृष्टिगतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचं।[१७] तात्पर्य है कि वृत्तियों से राजशेखर का अभिप्रेत अर्थ– हाव-भाव भरी चेष्टाओं से है। राजशेखर और भोज का प्रभाव अग्निपुराणकार पर भी पड़ा। उन्होंने भी बुद्धायारम्भानुभाव के अन्तर्गत वृत्तियों की चर्चा की।

दशरूपककार ने वृत्तियों की चर्चा करते हुए नाटक के अभिनय प्रदर्शन में नायक अथवा प्रधान पात्र जिन चेष्टाओं में प्रवृत्त होता है, उसे ही वृत्ति कहा है। यहाँ एक तथ्य विचारणीय है– किसी नाटक का नायक श्रृंगारिक चेष्टाओं में संलग्न दीख पड़ता है, तो अन्य नाटक का नेता शौर्य का प्रदर्शन करता हुआ दीख पड़ता है। ऐसी स्थिति में नायक के स्वभाव की भिन्नता के कारण वृत्तियों में अनेक तत्त्व का आभास भी स्वाभाविक है। परन्तु दशरूपककार यहाँ चुप हो जाते हैं। हाँ, उनके ग्रन्थ के टीकाकार धनिक ने वृत्तियों को पुरुषार्थ साधक– व्यापार के रूप में मानकर इसे विशिष्टता अवश्य प्रदान की है– प्रवृत्ति रूपौनतृ व्यापार स्वभावो वृत्तिः सा च कैशिकी– सात्त्वती– आरभटी– भारती भेदा– चतुर्विधा, तासां गीतनृत्य विलासकामोपभोगाश्रुपलक्ष्यमाणों मृदुः श्रृंगारी कामकला– वच्छिन्नो व्यापार।[१८]

भोज के उपरान्त यदि किसी ने वृत्ति की विशद व्याख्या एवं उसके स्वरूप पर विचार किया तो रामचन्द्र ने। उन्होंने वृत्ति के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए कहा कि पुरुषार्थ के साधक नाना प्रकार के व्यापार को वृत्ति कहते हैं। ये रस, भाव, अभिनय विषयक भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी आदि चार प्रकार की वृत्तियाँ नाट्य की माता के समान होती है–

भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः
रस भावाभिनयगाश्चतस्त्रो नाट्यमातरः।[१९]

नाट्य में सारा ही व्यापार रस, भाव और अभिनय के युक्त होता है। नाट्य दर्पणकार ने चतस्र पद से वृत्तियों की विभिन्नता का बोध नहीं कराया है। उनका कथन है कि चतस्र इस पद से कहा हुआ चतुर्भेदत्व किसी एक व्यापारांश की प्रधानता की विवक्षा से कहा गया है। वस्तुतः अनेक व्यापारों से मिला हुआ वृत्ति तत्त्व अर्थात् व्यापार एक ही होता है। क्योंकि नाटकादि (रूप प्रबन्धों) में कायिक वाचिक और मानसिक व्यापारों में से कोई भी व्यापार अन्य व्यापारों के योग के बिना नहीं होता है। कायिक व्यापार मानसिक तथा वाचिक व्यापारों से मिश्रित होते हैं, क्योंकि शब्द द्वारा निर्दिष्ट मानसिक ज्ञान के बिना कोई भी सुन्दर कायिक व्यापार सम्भव नहीं है और मानसिक तथा वाचिक व्यापार तो कायिक व्यापार के बिना हो ही नहीं सकते हैं। क्योंकि तालु आदि व्यापार के बिना शब्द का उच्चारण नहीं हो

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सकता है। इसलिए मानसिक तथा वाचिक व्यापार दोनों कायिक व्यापार के साथ मिश्रित होते हैं। अकेले नहीं हो सकते हैं। मनो-व्यापार से रहित कायिक या वाचिक व्यापार नीरस होने से नाटकादि में वर्णनीय नहीं होता। अतएव कायिक, वाचिक और मानसिक रूप कैशिकी आदि चारों वृत्तियों के परस्पर संकीर्ण होने पर भी तत्रत अंश की प्रधानता की दृष्टि से चार प्रकार की वृत्तियाँ कही गई हैं।[२०]

इस सम्बन्ध में रामचन्द्र गुणचन्द्र की व्याख्या निम्न है–

पुरुषार्थसाधको विचित्रो व्यापारो वृत्तिः रस भावाभिनया वक्ष्यमाणोः तांस्तन्मयत्वेन गच्छन्ति। रसभावाभिनयसंभिन्नो हिसर्वो नाट्ये व्यापारः चत्रस्र इति चतुर्भेदत्वमन्यतम चेष्टांशप्राधान्य विवक्षया अपरथाऽनेक व्यापारसंवलित मेकमेव वृत्तित्वम्। न नाम प्रबन्धेषु व्यापारान्तरासंवलितः कोऽप्येकाकी कायिको, वाचिको, मानसो वा व्यापारो लक्ष्यते। कायिक्यो हि व्याप्ततयो मानसैर्वाचिकैश्च व्यापारैः सन्निह्यन्ते। शब्दो लिया खितं मनः प्रत्ययं विना रंजकस्य कामव्यापार प० रिस्पन्दयाभावात्। वाचिक्यो मानस्यश्च कायपरिस्पन्दा विनाभाविन्य एव। ताल्वादि व्यापाराभावे वचनानुसरणात् प्राणादिरूप काय परिस्पन्दन्यश्च व्यापारः कायिको वाऽरंजकत्वाद– निबन्धनीय एवं। विदूषकोऽपि हास्यार्य बुद्धिपूर्वकमेव विसंस्थुलं विचेष्टते। अतः संकीर्णत्वेऽपि अंशप्राधान्यापेक्षया वृतयश्चतस्रः– नाट्यदर्पण।

नाट्यदर्पणकार ने काव्य की मातृरूपा वृत्तियों के स्वारस्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि नाट्य की अर्थात् अभिनेय काव्य की माता के समान होने से वृत्तियाँ नाट्य की माता कहलाती हैं। क्योंकि कवि के हृदय में वर्णनीय रूप से स्थित (कायिक, वाचिक, मानसिक) व्यापार रूप इन भारती आदि चारों वृत्तियों से ही काव्य की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कवि अपने काव्य में कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों का ही वर्णन करता है। वह त्रिविध व्यापार ही काव्य का जनक होता है और भारती आदि वृत्तियाँ कायिक, वाचिक, मानसिक व्यापार रूप ही हैं। इसलिए काव्य की जननी होने से उनको काव्य की माता कहा गया है। उन्होंने "नाट्यमातरः" शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा कि इसमें नाट्य यह पद प्रकरण की दृष्टि से आया है। अर्थात् नाटक का निरूपण किया जा रहा है– इसलिए यहाँ "नाट्यमातरः" कहा गया है। वैसे ये वृत्तियाँ केवल नाट्य अर्थात् अभिनेय काव्य की ही नहीं अपितु अभिनेय श्रव्यकाव्य की भी माता हैं। क्योंकि श्रव्य काव्यों में भी कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापारों का ही वर्णन होता है। इसलिए अभिनेय अर्थात् श्रव्यकाव्य में भी भारती आदि प्रवृत्तियाँ होती ही हैं। क्योंकि व्यापार रहित किसी अर्थ का वर्णन नहीं होता है– नाट्यस्य अभिनेय काव्यस्य मातरः इव मातरः आभ्यो वर्णनीयत्वेन कवि हृदये व्यवस्थिताभ्यः काव्यमुत्पद्यते नाट्य इति च प्रस्तावापक्षम तेनानभिनेयेऽपि काव्येवृत्तयो भवन्त्येवान् हि व्यापार शून्यं किंचिदभवर्णनीयमस्ति।[२२] किन्तु इनका मन्तव्य है कि "मूर्च्छादस्तु व्यापाराभावेत वृह्यभावेऽपि न नाट्यस्य वृत्तित्रयत्वहानिः। बाहुल्यापेक्षया वृत्तिमयत्वस्या भिमतत्वादिति।" अर्थात् बाहुल्य की दृष्टि से वृत्तिमयत्व

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

का कथन लिया गया है। कहीं थोड़े से भाग में व्यापार शून्य होने से कोई हानि नहीं होती है। मूर्च्छा दिप्रसंगों में वृत्ति का अभाव होने पर भी नाट्र्यवृत्तिमय ही माना जाता है। तात्पर्य है कि नाट्यदर्पण में वृत्तियों को कायिक, वाचिक तथा मानसिक व्यापार रूप ही माना गया है।

नाट्यदर्पणकार के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि इन्होंने वृत्तियों के सम्बन्ध में भरत का जो अस्पष्ट विचार था उसे स्पष्ट किया। वृत्तियाँ किस रूप में काव्य की जननी हैं, इसे नाट्यदर्पणकार ने बड़ी योग्यता से स्पष्ट किया। नाट्यशास्त्र में केवल इसका उल्लेख ही मिलता है।

नाट्यदर्पणकार के अतिरिक्त वृत्ति के सम्बन्ध में अग्निपुराणकार, शारदातनय, शिंगभूपाल आदि ने भी विचार किया है; किन्तु इन सबों की व्याख्याएँ पूर्वाचार्यों का अनुकरण ही है।

अस्तु भरत की नाट्य वृत्तियों का स्वरूप भारतीय काव्यशास्त्र में बारहवीं शताब्दी के मध्यभाग तक निम्नरूपेण प्राप्त होता है:–

(क) भरत की नाट्य वृत्तियाँ अभिनय प्रयोग के क्रम में

(ख) आनन्दवर्धन– रस के उद्बोधक के रूप में– रसानुगुण अर्थ व्यवहार।

(ग) अभिनवगुप्त– पुरुषार्थसाधक वृत्तियों के रूप में तथा कायवाङ् मनः जा चेष्टाओं के रूप में।

(घ) भोज– बुद्धायारम्भानुभाव के अन्तर्गत कायिक, मानसिक आदि व्यवहारों के रूप में।

(ङ) भोज– अनुप्रास के प्रादेशिक भेदों (कर्नाटक कौन्तेय के रूप में, किन्तु पश्चात्वर्त्ती आलंकारिक में से किसी ने भी इनका वर्णन नहीं किया।)

(च) मम्मट– वृत्यनुप्रास के रूप में– जो रीतियों में अन्तर्भूत हुई।

(छ) राजशेखर– विलास– विन्यास क्रम को अभिव्यक्त करने वाली चेष्टा के रूप में।

इस प्रकार विभिन्न मत-मतान्तरों के बीच वृत्ति परीक्षित होती रही, किन्तु किसी ने भी एक निश्चित दिशा इसे नहीं दी। कुछ हद तक आनन्दवर्धन ने इसे सीमाबद्ध करने का प्रयत्न किया और तीन रूपों में इसकी रूपरेखा स्पष्ट की। अगर आनन्द के मन्तव्य को स्वीकार कर लिया जाय तो वृत्तियों के सम्बन्ध में कहीं भी असंगति नहीं दीख पड़ती है।

सन्दर्भ

१. साहित्य दर्पण, छठा अध्याय

२. नाट्यशास्त्र, भरत २/८

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३. नाट्यशास्त्र, भरत
४. वही,
५. नाट्यशास्त्र २२/६५-६६
६. ध्वन्यालोक, ३/३३
७. वही,
८. अभिनव भारती में उद्धृत उद्भट् का यह पद्य
६. वही,
१०. वही,
११. वही,
१२. वही,
१३. वही,
१४. श्रृंगार प्रकाश परिच्छेद सातवाँ
१५. श्रृंगार प्रकाश बारहवाँ परिच्छेद
१६. सरस्वती कष्ठाभरन, २/८६
१७. साहित्यदर्पण
१८. दशरूपक, २/४७ की व्याख्या
१६. नाट्यदर्पण, रामचन्द्र गुणचन्द्र
२०. हिन्दी नाट्यदर्पण भाष्यकार, आचार्य विटवेश्वर शिरोमणि ६-१५५ तृतीय विवेक कारिका एक की हिन्दी व्याख्या
२१. नाट्यदर्पण रामचन्द्र गुणचन्द्र ३-१ की कारिका
२२. नाट्यदर्पण ३/१ रामचन्द्र की व्याख्या

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१५
मत्तवारणी

डॉ. श्रीमती इला घोष

समस्त कलाएँ सच्चिदानन्द ब्रह्म के आनन्द की ही विलास हैं। उत्कीर्ण प्रस्तर, उन्मीलित रेखाएँ, संगीत के स्वर, नृत्य की ताल, काव्य के छंद सभी उस आनन्दमय के आनन्द। तत्त्व से अनुप्राणित हैं। लीलामय परमेश्वर की सिसृक्षा जिस प्रकार ब्रह्माण्ड सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसी प्रकार मानवीय सिसृक्षा स्थापत्य, भास्कर्य, चित्र, संगीत, नृत्य काव्यादि विविध कलाओं के माध्यम से मूर्त होती हैं। 'ब्रह्मानन्द सहोदर' रस का आस्वाद कराने वाली शब्द और अर्थ के 'अन्यूनातिरिक्त साहित्य' की मनोहारिणी सृष्टि है– 'काव्य'। काव्य का ही सर्वोत्कृष्ट रम्य रूप है 'नाट्य' जिसे नाट्यशास्त्र के आद्यतम आचार्य भरतमुनि ने सार्ववर्णिकं वेदम्[1] दृश्यंश्रव्यं क्रीडनीयकम्[2] त्रैलोकस्य सर्वस्य भावा नुकीर्तनम्[3] विश्रान्तिजननम्[4] हितोपदेश जननम्[5] विनोदकरणम्[6] आदि विशेषणों से विभूषित किया है।

देववाणी के मूर्धाभिषिक्त नाट्यकार कालिदास ने नाट्य को देवताओं का चाक्षुष यज्ञ, स्वयं रुद्र के अंग से संभूत एवं भिन्न-भिन्न रुचि के सामाजिकों को समभाव से आनन्द प्रदान करने वाला मनोरंजन का महान स्रोत माना है–

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधात्येकं समाराधनम्।[7]

दृश्यश्रव्य एवं अभिनेय होने के कारण मनोरंजन के इस महान स्रोत नाट्य की सार्थकता सफल प्रदर्शन में है। इस हेतु आवश्यकता होती है–

प्रेक्षागृह, रंगमञ्च, नाट्यमण्डप या नाट्यशाला की। यह हमारे लिये बड़े ही गौरव का विषय है कि सहस्रों वर्ष पुरातन प्राचीनतम् नाट्यशाला एवं उसके स्वरूप, आकृति एवं स्थापत्य पर विस्तार से वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने वाला प्राचीनतम ग्रंथ, दोनों ही भारत में उपलब्ध हैं। प्राचीनतम नाट्यशाला मध्यप्रदेश के सरगुजा जिले में रामगढ़ पहाड़ी पर 'सीतावेंगा' गुफा[8] के रूप में प्राप्त होती है तथा नाट्यविषयक सर्वांग पूर्ण, अपनी तरह का अद्वितीय ग्रंथ है– भरतमुनि का नाट्यशास्त्र।

आचार्य भरत के अनुसार नाट्यप्रयोग का प्रारम्भिक तत्त्व है नाट्यमण्डप, अतः सर्वप्रथम उसके स्वरूप एवं लक्षणों का विवेचन आवश्यक है:–

इहादिर्नाट्ययोगस्य नाट्यमण्डप एव हि।
तस्मात्तस्यैव तावत्त्वं लक्षणं वक्तुमर्हसि।। २/३

प्रेक्षागृह तीन प्रकार के हो सकते हैं–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(१) विकृष्ट (आयताकार), (११) चतुरस्र (वर्गाकार), (३) त्र्यस्र (त्रिकोण)। इनके भी तीन प्रमाण होते हैं–ज्येष्ठ, मध्य तथा अवर।[९] इन नवविध नाट्य-मण्डपों के मुख्य पाँच अंग हैं– (१) प्रेक्षागृह[१०] (२) रंगपीठ[११] (३) रंगशीर्ष[१२] (४) नेपथ्य[१३] तथा (५) मत्तवारणी

चतुःस्तम्भ समायुक्ता कर्त्तव्या मत्तवारणी।[१४]

'मत्तवारणी' यह पद जितना मादक और श्रुतिसुखद प्रतीत होता है; इसके अभिधान, स्वरूप, स्थिति, संख्या एवं प्रयोजन से जुड़े प्रश्न एवं समस्यायें उतनी ही जटिल हैं। इस जटिलता के कारण हैं:–

(१) परवर्ती ग्रंथों में मत्तवारणी संबंधी विवेचन का अभाव

(२) नाट्यशास्त्र में इसके प्रयोजन एवं उपयोगिता का अनुल्लेख

(३) नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में पाठभेद

(४) आधुनिक विद्वानों में परस्पर मतभेद।

भरत परवर्ती प्राचीन आचार्यों में भरत के ही व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने मत्तवारणी पर विचार किया है। आधुनिक विद्वानों में हिन्दी भाषा के महान कवि श्री जयशंकर प्रसाद, श्रीकृष्णदास, रघुवंश, संस्कृत भाषा के विद्वानों में वी. राघवन, पं. सीताराम चतुर्वेदी, डी. आर. मनकड़, डा. मनमोहन घोष, प्रो. सुब्बाराव, डा. भोलाशंकर व्यास, आचार्य विश्वेश्वर, श्री बाबूलाल शुक्ल, मराठी भाषा के मान्य विद्वानों में डा० भानु, डा. गोदावरी केतकर आदि ने मत्तवारणी की समस्या को सुलझाने का प्रयास किया है।

संस्कृत कोश ग्रंथों, कतिपय साहित्य ग्रंथों एवं प्रासादवास्तु संबंधी शास्त्रीय ग्रंथों में मत्तवारणी से मिलते-जुलते 'मत्तवारणम्' तथा 'मत्तवारणः' पद प्राप्त होते हैं। इन समस्त संदर्भों, व्याख्यायों एवं विवेचनों के आलोक में प्रस्तुत आलेख में मत्तवारणी पर विचार किया जा रहा है।

भरत नाट्यशास्त्र में 'सात'[१५] स्थानों पर मत्तवारणी का उल्लेख हुआ है। प्रथम अध्याय में मत्तवारणी तथा उसके स्तम्भों की रक्षा के प्रसंग में, द्वितीय अध्याय में मत्तवारणी के निर्माण संदर्भ में तथा तृतीय अध्याय में रंगपूजा के अंतर्गत मत्तवारणी की पूजा के संदर्भ में।

मत्तवारणी से जुड़ी हुई प्रथम समस्या उसकी पहचान की है अर्थात् मत्तवारणी क्या है?– इसी से संबद्ध एक अन्य प्रश्न है कि इसका सही अभिधान क्या है?

किसी भी पद के अर्थ एवं साधुत्व के निर्णय प्रसंग में कोश, साहित्य एवं लोक व्यवहार ही मुख्य आधार होते हैं। कोश ग्रंथों में मत्तवारणी पद उपलब्ध नहीं है, किञ्चित समरूपी दो पद प्राप्त हैं– प्रथम 'मत्तवारणम्' द्वितीय 'मत्तवारणः'। 'मत्तं वारयतीति' अर्थ में 'वृ' धातु से विच् एवं 'ल्यु' प्रत्यय लगकर निष्पन्न 'मत्तवारणम्' पद का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार प्रासाद वीथीनां वरण्डः[१६] (प्रासादों का वराण्डा), हेमचंद्र के मत में प्रागंणावरणम् (४/७८) (आंगन की बाड़) तथा मेदिनी के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभिप्राय से प्रासादवीथीनां कुन्द वृक्ष वृत्ति। ११४/ (प्रासाद पंक्तियों की कुन्दवृक्ष की बाड़) है।

श्री वी. एस. आप्टे ने इस पद के चार अर्थ किये हैं–

(१) विशालभवन के चारों ओर की बाड़ (२) किसी विशाल भवन के ऊपर बनी अटारी (३) वराण्डा, अलिंद एवं (४) भवन का सुसज्जित बहिर्भाग।[१७]

'मत्तश्चासौ वारणश्च' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'मत्तवारणः', का अर्थ है मत्तहस्ती, वारणी अर्थात् हस्तिनी। साहित्य और शिल्पशास्त्र में प्रयुक्त 'मत्तवारणः' पद में वराण्डा और गज दोनों ही संयुक्त हो गये हैं यथा सुबन्धु की वासवदत्ता में नायिका के सौंदर्यवर्णन प्रसंग में उपमा के माध्यम से–

"मत्तवारणयोर्वरण्डकेनेव नासावंशेन परिष्कृताम्।[१८]

टीकाकारों के अनुसार अभिप्राय है–

'वरण्डस्त्वन्तरावेदौ युद्धतोर्गजयोर्द्वयोः' इत्यजयः।

मत्तवारणौ मत्तगजौ योधयन्तीसि प्रसिद्धं भित्तिः सा तु

वरण्डकम्। अगड इति भाषायां प्रसिद्धम्। इति शिव-रामः।

(युद्ध करते हुये दो हाथियों के मध्य की वेदी।

भित्ति के उभय पार्श्व में युद्ध की मुद्रा में दो हाथी स्थापित किये जाते हैं। ऐसे मत्तगजों से युक्त वेदी का वराण्डा मत्तवारणी है।)

इसी प्रकार दामोदर गुप्त के कुट्टिनीमतं काव्य में वाराणसी नगरी के वर्णन प्रसंग मेंः–

दिव्यधराधर भूखि या राजति मत्तवारणोपेता।। १/६।

अनुवादकार जगन्नाथ पाठक के मत में मत्तवारण से अभिप्राय हस्त्याकृति युक्त छज्जों से हैं।

नाट्यशास्त्र का संपादन एवं अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने वाले विद्वान डा. मनमोहन घोष के शब्दों में मत्तवारणी का अर्थ हैः–

A turset or a Small room on the top of a large building, a varanda a paviltion.

रंगमंच के संदर्भ में मत्तवारणी से अभिप्राय है – Side room[१९] अर्थात् पार्श्वकक्ष।

प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय तथा विदेशी रंगमञ्च एवं नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान पं. सीताराम चतुर्वेदी के मत में मत्तवारणी का अर्थ है–

"मतवाले हाथी के उठाये हुये सूँड़ के आकार वाली अंबारी।"

प्रो० सुब्बाराव ने; बड़ौदा से प्रकाशित अभिनवभारती व्याख्या समन्वित नाट्य शास्त्र के परिशिष्ट में; रंगमञ्च पर एक स्वतंत्र लेख लिखकर मत्तवारणी के विषय में एक सर्वथा नवीन कल्पना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार 'मत्तानां वारणानां श्रेणिः' मत्तवारणी है। रंगपीठ के सामने की ओर धरातल से डेड़ हाथ उठे हुये भाग की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

दीवार पर मत्तहस्तियों की कलात्मक पंक्ति एक लम्बी पट्टी पर उत्कीर्ण कर लगाई जाती थी।

अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने मूल पाठ में संशोधन करते हुये 'चतुःस्तम्भ समायुक्ता' के स्थान पर 'चतुः स्तम्बसमायुक्ता' यह पाठ स्वीकार किया है। 'स्तम्ब' का अर्थ है हाथियों को बाँधने का खूँटा या स्तम्भ। अतः हाथी का एक पर्याय्य स्तम्बेरमः[२०] भी है। चार खम्बों से युक्त मत्तहस्तियों की पंक्ति ही मत्तवारणी है।

श्री जयशंकर प्रसाद व्युत्पत्तिलम्य अर्थ के अनुसार मतवारणी का उपयोग 'मतवालों का वारण' मानते हैं। उनके मत में चार खम्बों वाली, डेढ़ हाथ ऊँची मत्तवारणी रुकावट के लिये बनाई जाती थी, जिसकी स्थिति रंगपीठ के सामने एक पार्श्व में होती थी।[२१]

मराठी भाषा के मान्य विद्वान प्रो० भानु एवं डा० गोदावरी केतकर का भी यही अभिमत है। प्रो० भानु ने कोशग्रंथानुसारी अन्वर्थ व्याख्या करते हुये अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है– 'मत्तों का वारण करने वाली मत्तवारणी होती है। नाटक देखते समय किसी अत्यंत भावपूर्ण दृश्य को देखकर कभी-कभी कुछ प्रेक्षक उन्मत्त हो उठते हैं। वे भावावेश में मंच पर अभिनय करने वाले पात्रों के पास पहुँचना चाहते हैं। नाट्य-प्रयोग की अबाधगति के लिये रंगपीठ के सामने एक छोटी-सी दीवार या कटहरा आदि लगा देना आवश्यक है। इस रोक के कारण मंच पर जाने के लिये उत्कण्ठित मत्त लोगों का वारण हो जाता है, अतः इस रोक को ही 'मत्तवारणी' कहते हैं।[२२]

कु० गोदावरी केतकर के अनुसार 'मत्तान् वारयतीति मत्तवारणः' इस प्रकार पुल्लिंग में मत्तवारणः यह पद सिद्ध हो सकता है, किन्तु स्त्रीलिंग में उसके स्थान पर कारिणी धारिणी (धृ + णिनि + ङीष्) की भाँति 'मत्तवारिणी' प्रयोग होना चाहिये।[२३]

प्रस्तुत संदर्भ में श्री बाबूलाल शुक्ल का समाधान इस प्रकार है–

मत्तवारण पद से 'षिद् गौरदिभ्यश्च' सूत्र से स्त्रीलिंग में 'ङीषू' प्रत्यय का योग करने पर मत्तवारणी रूप की सिद्धि हो सकती है, अतः शब्द असाधुत्व का प्रश्न ही नहीं है।[२४]

आचार्य विश्वेश्वर की सम्मति में कोश ग्रंथों एवं साहित्य में मत्तवारणी पद नहीं है, अतः नाट्यशास्त्र में भी 'मत्तवारणः' (पुल्लिंग) रूप ही ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार मूलपाठ को 'कर्त्तव्यौ मत्तवारणौ' मानने पर अनेक समस्याओं का समाधान भी संभव है। उनके विचार से संभवतः किसी लिपिकार प्रमादवश स्त्रीलिंग में 'कर्त्तव्या मत्तवारणी' ऐसा पाठ हो गया है।[२५]

मेरी राय में भरत द्वारा वर्णित नाट्य-मण्डप का महत्त्वपूर्ण अंग मत्तवारणी ही है 'मत्तवारणः' या 'मत्तवारिणी' नहीं, क्योंकि सभी स्थानों पर स्त्रीलिंग में ही यह पद तथा इसके विशेषण प्रयुक्त हुये हैं। लिपिकार का प्रमाद सभी स्थानों पर संभव नहीं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है। अभिनव गुप्त ने भी इसे मत्तवारणी ही माना है। इसका अर्थ है मदमत्त हस्तिनियों से युक्त अटारी।

अब मत्तवारणी की संख्या स्थिति आकार एवं प्रयोजन संबंधी विचार प्रसंग प्राप्त हैं। भरतमुनि के अनुसार मूल पाठ इस प्रकार है– रंगपीठस्य पार्श्वेतु कर्त्तव्या मत्तवारणी। २/६७।

चतुः स्तम्भ समायुक्ता रंगपीठ प्रमाणतः।
अध्यर्ध हस्तोत्सेधेन कर्त्तव्या मत्तवारणी।।६८।।
उत्सेधेन तयोस्तुल्यं कर्त्तव्यं रंगमण्डपम्।

(रंगपीठ के पार्श्व में; रंगपीठ के प्रमाण के अनुसार ही चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारणी का निर्माण करना चाहिये। मत्तवारणी डेढ़ हाथ ऊँची होनी चाहिये। उन दोनों (तयोः) के समान ऊँचाई से रंगमण्डप (रंगपीठ) का निर्माण करना चाहिये।)

बड़ौदा से प्रकाशित अभिनव भारती टीकानुसारी पाठ तथा काशी संस्कृत ग्रंथमाला चौखम्बा, वाराणसी, के पाठों में 'पार्श्व' के स्थान पर 'पश्चात्' 'तयोस्तुल्यं' के स्थान पर 'तयातुल्यं' एवं रंगमण्डपम् के स्थान पर 'रंगमण्डलम्' पाठ प्राप्त होता है। अधिकांश विद्वान प्रथम पाठ को ही स्वीकार करते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी पार्श्व वाले पाठ को स्वीकार कर मत्तवारणी की स्थिति, संख्या एवं आकार पर इस प्रकार प्रकाश डाला है–

पार्श्व इति विशेषानुपादानात्, 'तयोस्तुल्यम्' इति
च द्विवचनाल्लिंगाद भाविनोर्द्वयोः पार्श्वयोरिति लभ्यते..............।

"यद्यपि रंगपीठस्य पार्श्व' इस एकवचन का प्रयोग है, किन्तु (दाहिने या बाँयें) किसी विशेष पार्श्व का ग्रहण का होने के कारण तथा 'तयोः' में द्विवचन का प्रयोग होने से रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारणी बननी चाहिये, यह सिद्ध होता है। इसके चार स्तम्भ मण्डप से बाहर निकाल कर बनाये जाते हैं, रंगपीठ की दीवार की समाप्ति पर दो खम्भे तथा उससे भी परे एक-दूसरे से आठ हाथ की दूरी पर दो स्तम्भ और बनेंगे। इस प्रकार चतुरस मण्डप में 8X8 चौकोर (अष्टहस्तविस्तारा समचतुस्रा) मत्तवारणी होती है। विकृष्ट मण्डप में रंगपीठ और रंगशीर्ष दोनों को मिलाकर सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ चौड़ी आयताकार मत्तवारणी बन सकती है। इसकी ऊँचाई डेढ़ हाथ होती है तथा इसी की समान ऊँचाई में रंगपीठ का निर्माण किया जाता है।"[२६]

इस प्रकार अभिनवगुप्त के मत में मत्तवारणियों की संख्या दो थी, जो रंगमण्डप के पार्श्व में मुख्यमण्डप के बाहर बनाई जाती थीं।– श्री बाबूलाल शुक्ल, विश्वेश्वर आदि भी मत्तवारणियों की संख्या दो मानते हैं तथा इन्हें मुख्य मण्डल के बाहर स्थान देते हैं।

डा. मनमोहन घोष[२७] तथा मनकड[२८] मत्तवारणियों को रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में; वराण्डों के रूप में मानते हैं तथा इन्हें मुख्य मण्डल के भीतर स्थान देते हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इनके मत में त्र्यस्र मण्डप में मत्तवारणी नहीं होती थी, जबकि अन्य विद्वानों ने त्र्यस्र (त्रिकोण मण्डप) में भी मत्तवारणी का आकार एवं स्थान निर्धारित किया है।

डा० वी. राघवन के अनुसार भी विकृष्ट रंगमण्डप में मुख्य प्रेक्षागृह के भीतर ही रंगपीठ के दोनों पार्श्वों पर 8X8 हाथ की दो मत्तवारणियाँ बनती थीं तथा दोनों के बीच 8X16 हाथ का रंगपीठ होता था।[२६]

डा० भानु, गोदावरी केतकर, प्रो. सुब्बाराव के अनुसार मत्तवारणी एक ही होती थी, जो रंगपीठ के सामने वाले पार्श्व में लगाई जाती थी।

पं० सीताराम चतुर्वेदी का मत इन सबसे भिन्न हैं–"रंगपीठ के पीछे (पश्चात्) मत्तवारणी बननी चाहिये, जो रंगपीठ से डेढ़ हाथ ऊँची हो। यह रंगशीर्ष पर वेदी पर बनी होनी चाहिये .... एक ही अंक के विभिन्न दृश्यों के मंचन हेतु मत्तवारणी का रंगशीर्ष पर दोनों ओर होना अनिवार्य है।[३०]

डा० रायगोविन्द चंद्र 'रंगपीठस्य पश्चात्तु' पाठ को स्वीकार कर मत्तवारणी का स्थान रंगपीठ के ऊपर निर्धारित करते हैं। इसका आकार विकृष्ट मण्डप में विकृष्ट, चतुरस्र में विकृष्ट तथा व्यस्र में चतुष्कोण होता था। मत्तवारणी एक ही बनती थी, दो नहीं।[३१]

श्री कृष्णदास के अनुसार भी मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में बने कक्षों के ऊपर ही बनाई जाती थी। इसके नीचे के कक्ष विंग्स के काम आते थे। मत्तवारणी का प्रयोग आकाश मार्ग में दिखाये जाने वाले दृश्यों में होता था।[३२]

सम्प्रति इन समस्त विवेचनों की पृष्ठभूमि में मत्तवारणी के यथार्थ स्वरूप एवं भरत सम्मत अभिप्राय का निरूपण आवश्यक है। 'रंगपीठस्य पश्चात्तु', 'तया तुल्यम्' एवं 'रंगमण्डलम्' पाठ को स्वीकार कर मत्तवारणी का स्वरूप निर्धारण इस प्रकार किया जा सकता है।

नाट्यशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र ही स्त्रीलिंग एक वचन में हुआ है यथा– कर्त्तका मत्तवारणी,. स्थापिता मत्तवारण्याम्, स्तम्भेषु मत्तवारण्याः, सम्पूज्या मत्तवारणी आदि।

कहीं भी भरत का अभिप्राय मत्तवारणी की दो संख्या से नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त एवं उनके अनुयायियों ने जिस द्विवचन पद 'तयोः' के आधार पर मत्तवारणी की दो संख्या प्रमाणित की है, उसके स्थान पर एकवचन में तया[३३] पाठ भी प्राप्त होता है। कारक नियमों के अनुसार (तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तुतीयान्य तस्याम्/ अष्टाध्यायी/२/३/७२) भी तुल्य के योग में तृतीया विभक्ति हो सकती है, अतः मत्तवारणी की संख्या एक ही मानने में कोई बाधा नहीं है।

अब मत्तवारणी की स्थिति का निर्धारण करने से पूर्व नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में प्रेक्षागृह निर्माण की प्रक्रिया एवं क्रम पर विचार आवश्यक हैः–

"(विकृष्ट मण्डप में) चौंसठ हाथ लम्बी भूमि को नाप कर दो भागों में विभक्त करें। पीछे के आधे भाग को पुनः दो भागों में विभाजित कर अगले भाग पर रंगपीठ एवं रंगशीर्ष तथा पिछले आधे पर नेपथ्य का निर्माण किया जाय। इस प्रकार क्रमशः

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भूमि विभाग हो जाने के बाद शुभ नक्षत्र योग में मण्डप की आधारशिला रखी जाय। तत्पश्चात् भित्तिकर्म एवं उसकी समाप्ति पर स्तम्भों की स्थापना हो।"[३४]

इस प्रकार नाट्य-मण्डप का जो ढाँचा खड़ा हुआ, उसमें भी मत्तवारणी के लिये भूमि विभाग एवं नींव नहीं है। रंगमण्डप के बाहर पुनः नींव बनाते हुये मत्तवारणी के निर्माण का कोई विशिष्ट प्रयोजन एवं संगति भी नहीं है।– इतना निर्माण कार्य हो जाने के बाद भरत कहते हैं–

रंगपीठस्य पश्चात्तु कर्त्तव्या मत्तवारणी
चतुःस्तम्भ समायुक्ता रंगपीठ प्रमाणतः।। (२/६७-६८)

अर्थात् मत्तवारणी का निर्माण रंगपीठ निर्माण के पश्चात् रंगपीठ के ऊपर होता था। यह चार स्तम्भों पर अवस्थित होती थी, जो रंगपीठ की वेदिका के पार्श्व से चारों कोनों से उठाये जाते थे। ये स्तम्भ ऊपर तक जाते थे एवं 'द्विभूमि' के भार का वहन करते थे। अतः आचार्य भरत ने कुशल कारीगरों द्वारा इनके मूल में लोहा रखे जाने की बात कही है।[३५] मत्तवारणी की वेदिका (कुमारस्वामी के मत में वेदिका से अभिप्राय रेलिंग से है)[३६] डेढ़ हाथ ऊँची बनाई जाती थी। मत्तवारणी का आकार रंगपीठ के अनुसार होता था। इसकी और रंगमण्डप की ऊँचाई समनुपात में होती थी (तया तुल्यं कर्त्तव्यं रंगमण्डलम्), अर्थात मत्तवारणी की ऊँचाई इतनी रखी जाती थी कि प्रेक्षागृह में सोपानाकृति पीठों पर प्रथम से अंतिम पंक्ति तक बैठे दर्शक मत्तवारणी के दृश्यों का भली-भाँति अवलोकन कर सकें।

आचार्य भरत ने प्रथम अध्याय में नाट्य-गृह के रक्षक देवताओं की नियुक्ति के प्रसंग में रंगपीठ के पार्श्व से महेन्द्र को मत्तवारणी की रक्षा के लिये दैत्यनिषूदनी विद्युत को एवं इसके चारों स्तम्भों की रक्षा के लिये भूत, यक्ष, पिशाच एवं गुह्यकों को नियुक्त किया है। यदि रंगपीठ के पार्श्व में ही मत्तवारणी की स्थिति होती, तब इंद्र की प्रतिष्ठा के बाद पुनः विद्युत की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अतः स्पष्ट है कि रंगपीठ के पार्श्व से भिन्न स्थान पर ही मत्तवारणी होनी चाहिये।

भरत ने नाट्यमण्डप की आकृति की चर्चा करते हुये 'कार्यः शैलगुहाकारो द्विभूमिर्नाट्य मण्डपः'[३७] कहा है। इस पर प्रसिद्ध इतिहासविद् एवं शिल्पकला मर्मज्ञ कुमारस्वामी का विचार है कि रंगभूमि दो खण्ड ऊँची बनती थी।[३८]

डॉ० बाबूलाल शुक्ल का भी यही मत है–

द्विभूमि नाट्यमण्डप का आशय है कि नाट्यमण्डप दो मंजिला बनाया जाए। प्राचीन नाटकों में कुछ ऐसे दृश्य हैं जो दो मंजिले मण्डपों पर ही अभिनीत हो सकते हैं।[३९]

प्रतीत होता है कि विशाल भवनों के ऊपर निर्मित अटारी की भाँति मत्तवारणी का निर्माण होता था। तथा इसके तोरणों को सूँड़ ऊपर उठाये दो हस्तितियाँ धारण किये रहती थीं जिससे उसका नाम मत्तवारणी पड़ा होगा।

भोज के समरांगणसूत्रधार में राजप्रासादों के निर्माण प्रसंग में मत्तवारणों का स्वरूप एवं उपयोगिता इस प्रकार बताई गई है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मुखचंद्र भवेदयुक्तं वेदिका मत्तवारणैः।
क्षेत्रभागोदयर्थाभूराभूमिफलकान्तरम्।।

"ऐसे मत्तवारणों से वेदिका का परिदृश्य शोभन प्रतीत होगा, जो वेदिका-भूमि के एक प्रान्त से उठकर दूसरे प्रान्त तक के भाग को आच्छादित किये हो।"

(राजगृह अध्याय/३०/६)

मण्डन सूत्रधार के 'प्रासादमण्डन' में प्रासादों के मुखमण्डप के वर्णन प्रसंग में 'तदूर्ध्वं मत्तवारणम्' (७/६) कहकर मण्डप के ऊपर मत्तवारण बनाने का विधान किया गया है।

'अपाराजित पृच्छा' के अनुसार प्रत्येक देवालय से लगे हुये रंगमण्डप, नृत्यमंडप होते थे, जिनमें मत्तवारणों से शोभित पीठ या आसन का निर्माण किया जाता था-

अथ चोच्चयमध्यं चैकविंशत्यगुलोन्नतम्।
मत्तवारणशोभाढ्यं कक्षासनं करोन्नतम्।।

(१८४/६)

दक्षिण भारत में निर्मित मंदिरों में ऐसे मत्तवारणों से अलंकृत रंगमण्डप आज भी देखे जा सकते हैं।

भरत के अनुसार 'मत्तवारणी' के निर्माण के अवसर पर भूतों को इष्ट पदार्थों की बलि, ब्राह्मणों को खिचड़ी एवं मत्तवारणी के स्थान पर नानावर्णी पुष्प, मालायें, सुगंधित पदार्थ, वस्त्र आदि अर्पित किये जाएँ।

'एवं विधि पुरस्कारैः कर्त्तव्या मत्तवारणी।'[४०]

संभवतः इन सब नियमों का पालन इसलिये किया जाता था, कि मत्तवारणी का विशिष्ट निर्माण निर्विघ्न एवं दृढ़ हो, वह अभिनय के समय गिर न पड़े, देवता उसकी रक्षा करें।

इस मत्तवारणी का प्रयोजन क्या था? इस विषय पर भरत मुनि मौन हैं। विविध विद्वानों के मत इस प्रकार हैं-

डा० भोलाशंकर व्यास के मत में-

"रंग के दोनों ओर मत्तवारणी होती थी, जहाँ से पात्र प्रवेश करते थे।"[४१]

श्री जयशंकर प्रसाद, डा० भानु आदि इसका प्रयोजन मत्तों का वारण मानते हैं, किंतु रंगमंच के इतने महत्त्पूर्ण अंग का मात्र यह प्रयोजन संभव नहीं है। यदि आचार्य भरत को यही अभिमत होता तो वे प्रथम अध्याय में नाट्यविघ्नों के वर्णन प्रसंग में इसका उल्लेख अवश्य करते।

श्री बाबूलाल शुक्ल ने इसके दो प्रयोजन बताये हैं-

(१) इसका उपयोग रंगमंच पर प्रवेश और निर्गम करने वाले पात्रों की प्रतीक्षा और विश्राम के लिये किया जाता था।[४२]

(२) एक अंक के अंतर्गत आने वाले दृश्यों का कई स्थानों पर अभिनय किया

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

जाता है। यह अभिनय अधिकांश में रंगपीठ पर होता है अतः जब किसी दूसरे प्रदेश तक जाने की पात्रों की स्थिति आती है, तब पात्र परिक्रमण करते हुये मत्तवारणी में सजे हुये दृश्य में पहुँचा दिये जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जायेगा कि मत्तवारणी वर्तमान प्रचलित पक्षक (Wing) नहीं है।[४३]

श्री बाबूलाल शुक्ल के प्रयोजन संबंधी ये दोनों मत परस्पर विरोधी हैं। यदि मत्तवारणी का उपयोग पात्रों के विश्राम के लिये होता है, तब वहाँ अन्य दृश्यों का मंचन संभव नहीं है। अन्यत्र इसी प्रयोजन के लिये 'षड्दारुक' का उल्लेख किया गया है। अभिनवगुप्त के मत में भी–

"तत्पात्राणां विश्रान्त्यै, आगच्छतां च गुप्त्यै रंगस्य शोभायै रंगशिरः कार्यम्।"[४४] इसी मत का अनुसरण करते हुये श्री शुक्ल लिखते हैं–

रंगशीर्ष पर षड्दारुक' की योजना से नेपथ्य गृह की ओर दो द्वार बन जाते हैं, जिनका उपयोग अभिनय के समय रिक्त पात्रों के विश्राम तथा नेपथ्यगृह से निकल कर आने वाले पात्रों को एकाएक सामाजिकों (प्रेक्षकों) की दृष्टि से बचाने के लिये होता है।[४५]

इसके साथ ही श्री शुक्ल ने स्पष्ट रूप से मत्तवारणी की अवस्थिति मुख्य भवन से बाहर मानी है– "रंगपीठ (तथा रंगशीर्ष) दोनों के बराबर बनने वाली मत्तवारणी मुख्य भवन से बाहर ही बनेगी, भीतर नहीं। इस तथ्य को मूल नाट्यशास्त्र तथा अभिनव भारती के मिलान से ठीक से हृदयंगम किया जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि यदि मत्तवारणी मुख्य भवन से बाहर होगी, तब मुख्य भवन के अंदर प्रेक्षागृह में बैठे दर्शक मत्तवारणी में अभिनीत दृश्य को किस प्रकार देख पायेंगे? संभवतः इस पर श्री शुक्ल ने विचार नहीं किया है।

आचार्य भरत द्वारा मत्तवारणी और उसके स्तम्भों की रक्षा के विधान, निर्माण से पूर्व पूजा, बलि आदि नियमों तथा पुनः 'रंगपूजन के प्रसंग में अनेनैव विधानेन सम्पूज्या मत्तवारणी (३/१४)' (इसी विधि से मत्तवारणी की पूजा करनी चाहिये) इस प्रकार पृथक् रूप से उल्लेख यह प्रमाणित करता है यह निश्चित रूप से रंगमंच के अन्य अंगों से कुछ पृथक् एवं महत्त्वपूर्ण रही होगी। जैसा कि श्री कृष्णदास की मान्यता है, इसमें आकाश मार्ग आदि के दृश्य दिखाये जाते होंगे। यथा शाकुन्तल के सप्तम् अंक में असुरों को पराजित कर आकाशमार्ग से पृथ्वी की ओर आते हुये स्थ.सीन दुष्यन्त एवं मातलि संबंधी दृश्य।

भवन की अटारी छत आदि के दृश्यों को भी मत्तवारणी में प्रदर्शित किया जाता होगा। उदाहरण स्वरूप शाकुन्तल के ही षष्ठ अंक में मेघप्रतिच्छन्द नामक भवन के ऊपर का दृश्य, जहाँ सोपानमार्गों से होते हुये दुष्यन्त पहुँचते हैं।

नाटक मनोरंजन के साधन होने के साथ ही कान्ता सम्मित उपदेश भी देते थे। अतः सम्राट अशोक ने धर्म-प्रचार के लिये इनका उपयोग किया था। 'शिला प्रज्ञापन ४' से ज्ञात होता है कि नाट्यगृहों में प्रजा को ऐसे दिव्य दृश्य दिखाये जात थे। जो धार्मिक आचरण करने वाले व्यक्ति को मृत्यु के पश्चात् दिव्यलोक में प्राप्त

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होते थे यथा देवताओं के स्वर्गीय प्रासाद (विमान), आकाश में सुसज्जित दिव्य श्वेत हस्ती, अग्नि, स्कंध आदि। ये दृश्य प्रजा का मनोरंजन करने के साथ ही पवित्र जीवन बिताने की प्रेरणा भी देते थे। पालि साहित्य के 'विमानवत्थु' नामक ग्रंथ में भी ऐसे दिव्य दृश्यों का वर्णन हुआ हैं।

मेरी मान्यता है कि इस प्रकार के दिव्य दृश्यों का प्रदर्शन रंगपीठ पर न होकर ऊपर बने मत्तवारणी में ही किया जाता होगा, जिससे दृश्य अलौकिक और प्रभावोत्पादक हो सके। राजा-महाराजाओं तथा धनी श्रेष्ठियों द्वारा इस प्रकार की सुविधा सम्पन्न, मत्तवारणी युक्त रंगशालाओं का निर्माण किया जाता था।

प्राचीन भारतीय वास्तुकला का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है– गज या वारण। मंदिरों, प्रासादों, मण्डपों, स्तम्भों, तोरणों, मुख्य द्वार के पार्श्वों, देवालयों में सोपानों के दोनों ओर, मंदिरों की जगती पर सौंदर्य, समृद्धि, शक्ति, लक्ष्मी, श्री, वैभव और मंगल-सूचक गजों की आकृतियाँ स्थापित करने की सुदीर्घ परम्परा रही है। तोरण द्वारों में स्तम्भों के ऊपरी कोनों पर तोरणों को आधार देते हुये गजमस्तक भारतीय वास्तुकला के अनुपम प्रतीक हैं। अतः भरत द्वारा नाट्यमण्डप के प्रसंग में वर्णित मत्तवारणी रंगपीठ के दोनों ओर बनने वाले वराण्डे नहीं थे, अपितु रंगपीठ के ऊपर निर्मित गजयुक्त तोरणों वाली अटारी थी, जिसका उपयोग रंगपीठ की ही भाँति अभिनय एवं विशिष्ट दृश्यों के प्रदर्शन के लिये होता था। वारण अलंकरण के साथ ही; (अपने 'जर्जर' संज्ञकध्वज से समस्त विघ्नों का नाश करने वाले) रंगमंच के अधिष्ठातृ देवता इंद्र के वाहन ऐरावत के भी प्रतीक थे।

इस प्रकार दिव्य अद्‌भुत दृश्यों से प्रेक्षकों को चमत्कृत कर देने वाली, नाट्य रस से सहृदय को रसमत्त बना देने वाली 'मत्तवारणी' स्वयं में शिव और सुन्दर को संजोये हुई थी।

संदर्भ

१. नाट्यशास्त्र, सं. बाबूलाल शुक्ल/ चौखम्बा प्रकाशन/१/१२।
२. वही, १/११;
३. वही, १/१०७
४. वही, १/११५
५. मालविकाग्निमित्रम् /१/४
६. Blaskh J. H., Archaeological Survey of India, 1903-04, P. 123-130
७. नाट्यशास्त्र, २/८
८. वही, /२/१२
६. वही, २/६७
१०. वही, २/३८
११. वही २/३६
१२. वही, २/६७

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१३. वही, १/६०, ६१, २/६७, ६८, ७२, १०३; ३/४१
१४. शब्द कल्पद्रुम /
१५. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. ७६४
१६. मेदिन कोश पृ. ११४
१७. सं. जीवानन्द, पृ. ३३
१८. The Natya Sastra- (The Royal Asiatic Society 1950) P. 27
१६. स्तम्बेरमामुखरश्रृंखलकर्षिणस्ते, रघुवंश/५/८२
२०. 'रंगमञ्च' काव्यकला तथा अन्य निबंध, पृ. ६३
२१. भरत नाट्यशास्त्र (मराठी) अ. २/१
२२. वही, (मराठी)
२३. हिन्दी नाट्यशास्त्र भाग १, परिशिष्ट, पृ. ४६६
२४. हिन्दी अभिनवभारती, पृ. ३१४
२५. Hindu Theatre, I. H. Q. vol. 9. 1933, P. 991
२६. हिन्दी अभिनवभारती, पृ. ३१०, ३१६
२७. Indian Historycal Quarterly, vol. 9, 1933, P. 591
२८. Hidu Theatre, I. H. Q, vol. VIII 1932, P. 480
२६. भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ. ४६३' ४६४
२७. भरत नाट्यशास्त्र में नाट्यशालाओं के रूप, पृ. १०, १२, १८
२८. हमारी नाट्य परम्परा, (१६५६), पृ. १०८
२६. भरत का नाट्यशास्त्र, (श्री रघुवंश), भाग १ /२/७१ पर पाद टिप्पणी।
३०. नाट्यशास्त्र / २/३७-४६
३१. आयसं तत्र दातव्यं स्तम्भानां कुशलैरधः २/७०
३२. A. L kumar swami Hindu Theatre, Indian Hisptorical Quart. vol. 9, (1933) P. 594
३३. नाट्यशास्त्र, २/८५
३४. Hindu Theatre, Indian Hist. Quasterly, vok. 9. (1933), P. 594
३५. हिन्दी नाट्यशास्त्र, भाग १/ अ० २, पृं. ५४
३६. नाट्यशास्त्र /२/६६, ७१/
३७. हिन्दी दशरूपक, भूमिका, पृ. ४६
३८. नाट्यशास्त्र, २/८१, ८२, ८३, ८६
३६. वही, अध्याय २/ पृ. ५०
४०. नाट्यशास्त्र, भाग १, परिशिष्ट/ पृ. ४६६
४१. अभिनवभारती, २/६८ पर कारका
४२. नाट्यशास्त्र, भाग १, परिशिष्ट, पृ. ४६६
४३. नाट्यशास्त्र, भाग १, परिशिष्ट, पृ. ४६७
४४. भण्डारकर, 'अशोक', पृ. १०६, ११६
४५. विमान वत्थु, पृ. ४, १४

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१६

अवस्था : अर्थ प्रकृति और सन्धि

डॉ. जयकुमार जलज

भरतमुनि तथा बाद के अन्य सभी आचार्यों ने वस्तु में कार्य की पाँच अवस्थाएँ स्वीकार की हैं– आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। मोटे रूप में कार्य में प्रयोजन व्यापार से है। इन अवस्थाओं के निर्धारण का उद्देश्य वस्तु में कुतूहल की मात्रा बनाये रखना प्रतीत होता है। घटनाओं का विकास सीधी-सपाट रेखा में न होकर आवश्यक घुमाव के साथ हो, इसी बात को भरतमुनि तथा परवर्ती आचार्यों ने कार्य की अवस्थाओं के रूप में कहा है। लेकिन इन अवस्थाओं का सम्बन्ध नायक की मानसिक दशा से ही मुख्य रूप से है। घटनाओं का क्रम इस मानसिक दशा का ही व्यक्त अनुसरण है। आरम्भ में नायक के मन में लक्ष्य प्राप्ति के लिए इच्छा उत्पन्न होती है। 'प्रयत्न' में इस इच्छापूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। 'प्राप्त्याशा' में प्राप्ति की सम्भावना दिखाई देने लग जाती है। यह अवस्था पूरी तरह प्राप्ति और अप्राप्ति के द्वन्द्व की न होकर प्राप्ति की ओर झुकी हुई होती है। इसलिए चरम सीमा के कुछ बाद की अवस्था इसे स्वीकार किया जा सकता है। इसके पश्चात् 'नियताप्ति' है, जिसमें लक्ष्य प्राप्ति में केवल एक ही मुख्य बाधा शेष रह जाती है। 'फलागम' में लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

वस्तु की पाँच अर्थप्रकृतियाँ मानी गयी हैं। ये फल प्राप्ति के लिए उपाय हैं। इन्हें हम कथावस्तु की विविध घटनाओं, प्रयत्नों, उपकरणों या तत्त्वों के रूप में समझ सकते हैं, जैसे किसी उपन्यास के तत्त्व कथावस्तु, चरित्र-चित्रण आदि हुआ करते हैं, लेकिन इन सभी तत्त्वों को एकत्र कर देने से ही उपन्यास की रचना नहीं हो जाती। उसके लिये तो कोई केन्द्रीय भावना, विचार या चरित्र-चित्रण चाहिए, जो एक सम्बन्ध सूत्र बनकर बिखरे हुए तत्त्वों में अन्विति उत्पन्न कर सके। इसी प्रकार कथानक की विविध घटनाओं अर्थात् अर्थप्रकृतियों में कार्य की अवस्थाओं के कारण अन्विति उत्पन्न होती है। अर्थ प्रकृतियाँ जैसा उनके नाम से स्पष्ट है (अर्थ = कार्य या साध्व + प्रकृति = हेतु। अर्थात् किसी साध्य के लिए हेतु या किसी फल के लिये उपाय) फल की प्राप्ति के लिये अवान्तर घटनाओं के रूप में कार्य या व्यापार या केन्द्रीय भाव को विकसित होने का अवसर प्रदान करती हैं। इसीलिए अर्थप्रकृतियाँ देह और कार्य की अवस्थाएँ प्राण स्वरूप हैं या जैसा कि आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने स्पष्ट किया है कि कथानक के ये भेद (अर्थ प्रकृतियाँ) नाटक के बाह्य सौन्दर्य के विधायक हैं। इससे भिन्न कार्यावस्था या व्यापार का तत्त्व नाटक को

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सजीव और सप्राण बनाने के उद्देश्य से नियोजित किया जाता है। वह नाटक का अन्तरंग और गतिशील तत्त्व है।[1]

डा० बलदेव उपाध्याय भी बहुत कुछ इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं।[2] यहाँ तक तो ठीक है, लेकिन कठिनाई वहाँ उत्पन्न होती है, जहाँ आरम्भ और बीज के संबंध के आधार पर क्रमशः प्रयत्न का बिन्दु से, प्राप्त्याशा का पताका से, नियताप्ति का प्रकरी से और फलागम का कार्य से मेल मिलाया जाता है। यह तो वैसा ही है जैसे हम उपन्सास के आरम्भ, मध्य, चरमसीमा और अन्त इस विकासक्रम के सम्बन्ध को क्रमशः कथानक, चरित्र-चित्रण, परिवेश आदि तत्त्वों से जोड़ते फिरें। हिन्दी संस्कृत की लगभग सभी पुस्तकों में इस प्रकार के मेल मिलाने पर बल दिया गया है। डा० सत्यव्रत सिंह भी जिन्होंने सन्धियों तथा अर्थप्रकृतियों पर अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और स्पष्टता से विचार किया है 'अवस्था पंचक' और 'अर्थ प्रकृति पंचक' को 'संधि पंचक' के द्वारा परस्पर समन्वित करने की बात कहते हैं। वे आरम्भ और बीच का समन्वय मुखसन्धि, यत्न और बिन्दु का सन्धान प्रतिमुख-सन्धि, प्राप्त्याशा और पताका का सामंजस्य गर्भसन्धि, नियताप्ति और प्रकरी का सम्बन्ध विमर्शसन्धि तथा फलागम और कार्य का संयोजन निर्वहण-सन्धि को स्वीकार करते हैं।[3] केवल कीथ ने अवश्य इस दिशा में निर्वाह की कठिनाई और नीरसता को ध्यान में रखकर इतना संकेत दिया है कि पाँच सन्धियों का पाँचों अर्थ प्रकृतियों व पाँचों अवस्थाओं से मेल मिलाने की योजना दोषपूर्ण है और अर्थप्रकृतियों का विभाजन अनावश्यक है। उनका इस प्रकार मानना सर्वथा उचित है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों के क्रमशः मेल या अर्थप्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के क्रमशः मेल की बात भरत ने कहीं कही ही नहीं है।

क्रमशः मेल मिलाने की इस भूल के घटित होते रहने का एक कारण अर्थप्रकृतियों के अन्तर्गत कार्य नाम की अर्थप्रकृति को ठीक से न समझ पाना है। भरत मुनि ने कार्य की परिभाषा इस प्रकार दी है—

यदाधिकारिकं यस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं समुदाहृतम्।[4]

अर्थात् मुख्य कथावस्तु के उद्देश्य के लिए जो भी प्रयत्न प्राज्ञो (प्रधान नायक, पताका नायक, प्रकरी नायक) के द्वारा किया जाता है वह कार्य है। अभिनवगुप्त[5] और नाट्यदर्पणकार[6] का भी यही मत है। किन्तु दशरूपककार ने कार्य का दूसरा ही लक्षण निरूपित किया है।[7] विश्वनाथ ने यह लिखकर उनका अनुकरण किया—
अपेक्षित तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।

समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्
यथा रामचरिते रावणवधः।[8]

स्पष्ट है कि इस संबंध में सबसे पहली भूल धनंजय से हुई। फिर उनसे संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी के लगभग सभी ग्रन्थों में पहुँची। एच० एच० विल्सन

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

ने भी 'कार्य' को धनंजय के ही अर्थ में समझा है।[९] लेकिन भरत द्वारा दी हुई कार्य की जो परिभाषा हमने ऊपर उद्धृत की है और अभिनवगुप्त तथा नाट्यदर्पणकार ने जिसका समर्थन किया है, उससे निश्चित है कि कार्य और फलागम का मेल नहीं बैठाया जा सकता। नाट्यशास्त्रकार ने आरम्भ और बीज को छोड़कर[१०] कहीं भी अर्थप्रकृतियों और कार्य की अवस्थाओं के मेल की बात नहीं कही है। आरम्भ और बीज का साथ-साथ होना तो संभव और उचित भी है, क्योंकि नायक के मन में फल प्राप्ति की उत्सुकता उत्पन्न होने के साथ ही साथ कथावस्तु का बीज पड़ता है। सम्भवतः बीज और आरम्भ के इस सम्बन्ध को देखकर शेष अर्थ प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं में भी बाद के आचार्यों ने क्रमिक मेल मिला दिया होगा।[११] धनंजय और फिर विश्वनाथ ने कार्य नामक अर्थप्रकृति से फल या उद्देश्य का अर्थ लिया। अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों की बराबर की पाँच-पाँच संख्या है। इसलिए मेल मिलाने की एक ग़लत लेकिन सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से तथाकथित सुविधापूर्ण परम्परा-सी चल निकली है। हमारे मत का समर्थन इस बात से भी होता है कि भरत ने 'बिन्दु' को बन्ध (नाटक) की समाप्ति तक व्याप्त माना है—[१२] और पताका तथा प्रकरी के कथानकों को किसी विशेष स्थान पर रखने के लिये कोई निर्देश नहीं दिया है। पताका के सम्बन्ध में उनका कथन है कि उसे गर्भ अथवा विमर्श संधि तक समाप्त हो जाना चाहिए।[१३] इसका अर्थ यह हुआ कि वह गर्भसंधि से बँधी नहीं है। वह विमर्श तक चल सकती है और गर्भ के पूर्व ही आरम्भ हो सकती है तथा गर्भ के पूर्व ही समाप्त भी हो सकती है। स्पष्ट है कि आवश्यकता पड़ने पर उनका (पताका तथा प्रकरी का) नियोजन कहीं भी हो सकता है और वे प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति अवस्थाओं तथा गर्भ और विमर्श सन्धियों के साथ उनके सम्बन्ध की कठिनाइयों को देखकर ही कभी-कभी इस सम्बन्ध को वैकल्पिक मानकर मुक्ति पाने का प्रयत्न भी हुआ है।[१४] वास्तव में जैसे पताका और प्रकरी अवान्तर कथाएँ हैं, वैसे ही बीज और कार्य भी अवान्तर कथात्मक स्वरूप ही हैं। अन्तर केवल यह है कि पताका तथा प्रकरी की तरह उनका कथात्मक स्वरूप स्वतन्त्र, सीमित और फलस्वरूप स्पष्ट तथा बीज की तरह निश्चित स्थान पर रहने वाला न होकर सारी आधिकारिक कथा में व्याप्त है।

जो काम कार्य की अवस्थाएँ करती हैं, वही काम सन्धियों का भी है अर्थात् कुतूहल की मात्रा को बनाए रखना और नाटकीय कथावस्तु के ढांचे में एक ही विभाजन तथा सुसम्बद्धता उत्पन्न करना। अन्तर यह है कि कार्य की अवस्था जहाँ भावनात्मक अन्विति उत्पन्न करती है, वहाँ सन्धि कथानक के स्थूल ढाँचे का विभाजन और उसे जोड़ने का कार्य करती है। इसीलिए धनंजय नाटक रचना आरम्भ करने के पूर्व इस बात का निर्देश देते हैं कि नाटककार सबसे पहले यह निश्चित कर ले कि वह कथा का आदि व अन्त कहाँ रखेगा। इसे निश्चित कर लेने पर उसे सारी कथा को पाँच भागों में बाँट लेना चाहिए। ये पाँच खण्ड ही पाँच

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सन्धियाँ हैं। इन सन्धियों को विभागों अंगों में भी विभाजित कर देना चाहिए।[१५] भरत भी सन्धियों को काव्य (नाटक) के शरीर रूप इतिवृत्त के ही पाँच भाग कहते हैं।[१६] कार्य की अवस्था और सन्धि दोनों ही ही रेखाएँ एक-सी हैं। दोनों नीचे से उठकर ऊपर आती हैं और फिर पतित होती हैं। इसलिए सन्धि और कार्य की अवस्थाओं का क्रमिक सम्बन्ध बिठाया जा सकता है। इस प्रकार के विभाजनों को अच्छी दृष्टि से न देखने वाले कीथ भी सन्धियों के महत्त्व को स्वीकार करते हैं– जहाँ तक सन्धियों का प्रश्न है, उनका विभाजन इसलिए ठीक है कि उनमें नाटकीय संघर्ष पर जोर दिया गया है। किस प्रकार नायक विघ्नों पर विजय प्राप्त करके फल प्राप्ति की ओर बढ़ता है, यह इस विभाजन का लक्ष्य है।[१७] सन्धियाँ पाँच हैं– मुख, प्रति मुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।[१८]

इन पाँच सन्धियों के पश्चात् भरत २१ सन्ध्यन्तरों का उल्लेख और ६४ सन्ध्यंगों का वर्णन करते हैं, जिनका निर्वाह करने का प्रयत्न भी भट्टनायक जैसे एकाध नाटककार ने अपने नाटक में किया है। २१ सन्ध्यन्तरों को बाद के आचार्यों धनंजय, विश्वनाथ आदि ने छोड़ दिया। भरत ने भी उनके नाम ही गिनाये थे, विवेचन नहीं किया था। सन्ध्यंगों का विस्तृत वर्णन धनंजय और विश्वनाथ में भी मिलता है। वास्तव में सन्धि के रूप में जो पाँच विभाग वस्तु के कर दिए गए हैं, उन्हें अधिक कलात्मक बनाने की चेष्टा इन सन्ध्यंगों से झलकती है। किसी सन्ध्यंग से चरित्र-चित्रण (जैसे नर्मद्युति, प्रतिमुखसन्धि) किसी से संवाद का कौशल (जैसे संफेट, विमर्श) आदि प्रकट होता है। सन्ध्यंगों की योजना से ६ प्रकार के लाभ कहे गए हैं– अभीष्ट अर्थ की योजना, सामाजिक के हृदय में आश्चर्य भाव का संक्रमण, कथानक का विस्तार, सामाजिक के हृदय में रूपकदर्शन के प्रति अनुराग का उत्पादन, गोपनीय विषय का गोपन और प्रकाशनीय विषय का प्रकाशन।[१९]

इन भेदों-प्रभेदों की निन्दा करने के स्थान पर नाट्यशास्त्रकारों की कठिनाई को सहानुभूति के साथ समझना चाहिए। उनका उद्देश्य नाट्यवस्तु के स्वरूप को समझाना था। लेकिन यह कार्य ऐसा है कि विभाजनों, वर्गीकरणों और भेदों-प्रभेदों में गए बिना शास्त्रीय ढंग से सुविधापूर्वक समझाया नहीं जा सकता। कथावस्तु का उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण विकास क्रम, उसे रसनिष्पत्ति के अधिक से अधिक अनुकूल बनाने के लिए नियोजित किए जाने वाले अनेक कलात्मक तत्त्व आदि बिना विस्तार में गए कैसे समझाए जा सकते हैं? उनका यह उद्देश्य कभी नहीं है कि नाटककार उनके द्वारा परिगणित प्रत्येक तत्त्व की अनिवार्य भर्ती अपने नाटक में करे ही। किसी स्थान तक पहुँचने के लिए मार्गदर्शक हमें दस मार्ग बता सकता है। लेकिन यह तो हमारे निर्णय की बात है कि हम एक साथ दस मार्गों पर न चलकर किसी एक पर चलें।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

संदर्भ

१. आधुनिक साहित्य, पृ. २१२

२. संस्कृत आलोचना, पृ. ८७

३. संस्कृत नाट्यशास्त्र में पंचसंधियाँ और अर्थप्रकृतियाँ, डा० सत्यव्रत सिंह, भारतीय नाट्य साहित्य (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ), पृ. ४८

४. नाट्यशास्त्र, २१/२७

५. जनपदकोशदुर्गादिक व्यापार वैचित्र्य समाद्युपायवर्ग इत्येतत् सर्वे कार्येऽन्तर्भवति, अभिनवभारती, तृतीय भाग, पृ. १६

६. साध्ये बीज सहकारी कार्यम्। नाट्यदर्पणम्, सूत्र ३५, पृ. ८०
प्रधाननायक-पताकानायक- प्रकरीनायकैः साध्ये प्रधानफलत्वेनाभिप्रेते, बीजस्य प्रारम्भावस्थोपक्षिप्तस्य प्रधानोपायस्य, सहकारी सम्पूर्णतादायी सैन्य-कोश-दुर्यसामाद्ध पायलक्षणों द्रव्यगुण क्रियाप्रभृतिः सर्वोऽडर्थः
चेतनैः कार्यते फलमिति, कार्यम्
अयमत्रोपायानां निबन्ध संक्षेपः।
सहायानपेक्षाणां नायकानां वृत्ते बीजबिन्दुकार्याणि त्रय एवोपायाः।
सहायापेक्षाणां तु पताका-प्रकरीभ्यां, अन्यतरया वा सह पंच चत्वारो वेति।
—नाट्यदर्पणम्, उक्त सूत्र की कारिका क्रमांक ३३, पृ. ८०

७. साहित्यदर्पण, टीका भाग, डा० सत्यव्रत सिंह, पृ. ४०३

८. साहित्यदर्पण, षष्ठः परिच्छेदः, पृ. ४०२

९. Karya, is the end or object which being aeffected the whole is affected, as the marriage of vatsa and Ratnawali. The Theatre of the Hindu, P. 24

१०. औत्सुक्य मात्र बन्धस्तु यद्बीजस्य निबध्यते।
महतः फलयोगस्य स खध्वारम्भ इष्यते।।— नाट्यशास्त्र, २१ /१०

११. यह कार्य भी सम्भवतः सबसे पहले धनंजय ने ही किया, अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्वितः। यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः ।।, दशरूपक, १/२२

१२. प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेदकारणम्।
यावत्समाप्तिबर्न्धस्य स बिन्दुरिति संज्ञितः ।।— नाट्यशास्त्र, २१/२४

१३. आगर्भादाविमार्शद्वा पताका विनिवर्तते।
तस्मादयस्मात्तु बन्धो स्याः परार्थायोपकल्प्यते। — नाट्यशास्त्र, २१/३०

१४. संस्कृत आलोचना, पृ. ८८

१५. आद्यन्तमेवं निश्चित्य पंचधा तद्विभज्य च
खण्डशः सन्धिसंज्ञाश्च विभागानपि खण्डयेत्। —दशरूपक, ३/२५

१६. नाट्यशास्त्र, २१/१

१७. द संस्कृत ड्रामा, पृ. २६६

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१८. मुख-बीज तथा आरम्भ को मिलाने वाली सन्धि, जिसमें बहुत से रसों की कल्पना होती है।

प्रतिमुख – मुख सन्धि में उत्पन्न बीच कभी लक्षित और कभी अलक्षित रहता है

गर्भ– जिसमें उपाय कहीं दब जाय और उसकी खोज के लिए बीज का और भी विकास हो। इसमें फल छिपा रहता है, इसलिए इसे गर्भसन्धि कहते हैं।

विमर्श– जहाँ पर फल का उपाय तो पहले ही अपेक्षा अधिक विकसित होता है, परन्तु विघ्नों के आ जाने से उसमें आघात पहुँचता है। विमर्श का अर्थ है विचार करना। इस सन्धि में फल-प्राप्ति की पर्यालोचना की जाती है।

निर्वहण– इसमें प्रयोजन की पूर्ण सिद्धि होती है।

१६. साहित्यदर्पण, पृ- ४५३

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१७

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के मर्मी समीक्षक आचार्य द्विवेदी

डॉ. देवकी नंदन श्रीवास्तव

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य के अध्येता और व्याख्याता के रूप में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का असाधारण योगदान उनके तपःपूत– बहुमुखी व्यक्तित्व एवं स्वानुभूति समन्वित स्वाध्याय साधना का परिचायक है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उपरान्त आचार्य द्विवेदी जैसा अद्भुत प्रतिभासम्पन्न और मर्मान्वेषी मनीषी इस क्षेत्र में दूसरा नहीं हुआ। वस्तुस्थिति तो यह है कि आचार्य शुक्ल ने मध्ययुगीन भक्ति काव्य के समझने-बूझने और परखने के लिए जो मानदण्ड निर्धारित किये थे, उनकी सम्यक् विवेक संगत अवधारणाओं की प्रामाणिक प्रतिष्ठा आचार्य द्विवेदी द्वारा ही संभव हुई। इस दृष्टि से एक ओर तो द्विवेदी जी आचार्य शुक्ल की प्रवर्तित परम्परा के अग्रसरकर्ता हैं और दूसरी ओर उनकी दृष्टि से छूट जाने वाली अनेक रहस्यमयी गुत्थियों एवं समस्याओं के समाधानकर्ता। शुक्लजी ने अपने समय तक सुलभ साहित्य–सामग्री के आधार पर जिन सामान्य प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का परिचायक विवेचन प्रस्तुत किया था। उनका नवीन शोध–सामग्री के आलोक में पुनर्परीक्षण तथा अखिल भारतीय भक्ति आन्दोलन के परिप्रेक्ष्य में समग्र हिन्दी भक्ति काव्य की मूल प्रेरणाओं एवं नवीन उद्भावनाओं का विशद् मूल्यांकन द्विवेदी जी की विलक्षण भावयित्री प्रतिभा की ऐतिहासिक देन है।

भक्ति साहित्य के अनेक मूल उपजीव्य ग्रंथों के अनुशीलन के साथ-साथ एतद्विषयक अनेक पाश्चात्य मनीषियों की कृतियों का सर्वेक्षण करते हुये द्विवेदी जी ने भक्ति साधना के तत्त्वों तथा हिन्दी भक्त कवियों की मान्यताओं के विषय में अपने प्रामाणिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। संस्कृत वाङ्मय तथा मध्ययुगीन भारतीय इतिहास से घनिष्ठ परिचय के साथ-साथ शान्तिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ और आचार्य क्षितिमोहन सेन है सान्निध्य से प्राप्त विशिष्ट मूल्यांकन- दृष्टि ने भी द्विवेदी जी को इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रेरणायें प्रदान की थीं। एक भावुक भक्त, सहृदय समीक्षक, संवेदनशील विचारक और मेधावी पंडित आचार्य द्विवेदी सच्चे अर्थों में मध्ययुगीन भक्ति चेतना के इतिहास को भीतर से झांक सके थे। वे रवीन्द्रनाथ द्वारा चर्चित 'इतिहास-रस' के मर्मी उपभोक्ता थे। यही कारण है कि इतिहास के तथ्यों को वे भारतीयं धर्म साधना और प्रेमभावना के उस व्यापक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परिवेश में उजागर कर सके हैं, जिसने मध्ययुगीन भक्त कवियों के असामान्य तेजस्वी व्यक्तित्व और उनके जनमानस सम्मोहक, साथ ही नवचेतनासंचारक विपुल भक्तिकाव्य को विश्वजनीन गौरव प्रदान किया है।

वैसे तो आचार्य द्विवेदी ने भक्ति काल के सभी प्रमुख सन्तों एवं भक्तों के व्यक्तित्व और कृतित्व के संबंध में मार्मिक संकेत सूत्र दिये हैं, पर कबीर के व्यक्तित्व के मूल्यांकन में उनकी सूझबूझ बड़ी ही गहरी एवं अद्भुत मौलिकता से मंडित है। द्विवेदी जी के पूर्व भक्तिकालीन कवियों में कबीर का महत्त्व एक संत के रूप में ही मान्य रहा था, आचार्य शुक्ल जैसे शीर्षस्थ हिन्दी समीक्षक एवं इतिहासकार ने उनके काव्य में धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना का ही दर्शन किया था, विशुद्ध काव्यकला की दृष्टि से उनमें अव्यवस्था और अपरिमार्जन का ही आरोप किया था– यहाँ तक कि उनके दार्शनिक विचारों में भी नाना मतवादों का असंगत सम्मिश्रण तथा उनकी भाषा को सधुक्कड़ी कह कर उसमें साहित्यिक सौष्ठव के अभाव की भी झलक देखी थी। जिन अन्य समीक्षकों ने कबीर को प्रभावी कवि के रूप में जाना-पहचाना था वे भी उनकी रसात्मकता का उद्घाटन करने में समर्थ नहीं हो सके थे।

आचार्य द्विवेदी ने सर्वप्रथम उन्मुक्त भाव से और डंके की चोट पर कबीर के कवि रूप के विराट वैभव की घोषणा की और उनकी अन्तः प्रकृति तथा बाह्य अभिव्यंजना पद्धति का मार्मिक विश्लेषण करके अपने नूतन मूल्यांकन की तर्कसंगत संपुष्टि की। इस दृष्टि से द्विवेदी जी की 'कबीर' शीर्षक समीक्षा- पुस्तक एक युगान्तर कारिणी कृति के रूप में ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। एक ओर उसमें कबीर के युग और जीवन वृत्त से संबंधित सारी किंवदन्तियों और ऐतिहासिक उल्लेखों की छानबीन करते हुये कतिपय प्रामाणिक निष्कर्षों का निरूपण हुआ, दूसरी ओर उसमें कबीर के व्यक्तित्व और कृतित्व को केवल हिन्दी भक्ति काव्य की निर्गुणधारा की सीमाओं में न बांधकर अखिल भारतीय भक्ति साधना और मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के व्यापक परिवेश में समझने-बूझने और परखने का जागरूक प्रयास हुआ। उनके बाह्य अक्खड़-फक्कड़, समाज सुधारक एवं क्रान्तिकारी युगद्रष्टा रूप के पीछे झांकते हुये उनके अन्तर प्रेम-विह्वल हृदय की रहस्यमयी माधुर्यमयी रसमूर्ति का भी सम्यक् साक्षात्कार करते हुये कबीर के काव्य की आत्मा, उस में उभरती हुई प्राणशक्ति तथा उसको खोलने वाली अदम्य ऊर्जामयी वाणी के अनेक मार्मिक रहस्यों का उन्मीलन द्विवेदी जी की अनूठी भावयित्री प्रतिभा के बल पर संभव हुआ।

कबीर के व्यक्तित्व की संस्कारगत विशेषताओं को स्वभावगत मात्र न मान कर पूर्ववर्ती सहजानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों की परम्परा से जोड़ कर द्विवेदीजी ने भारतीय धर्मसाधना के इतिहास के एक गूढ़ पक्ष का उद्घाटन किया है। इसके द्वारा कबीर की ही नहीं वरन् समग्र संतकाव्य की प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

का वास्तविक रूप प्रत्यक्ष हो सका है। उन्होंने पहली बार निभ्रीन्त शब्दों में इस प्रचलित धारणा का निराकरण किया कि कबीर के निर्गुण पंथ पर इस्लाम और सूफीमत का अभारतीय स्वर प्रबल था। उन्होंने सबल तर्कों के आधार पर स्पष्ट घोषित किया कि "यदि कबीर आदि निर्गुण मतवादी सन्तों की वाणियों की बाह्य रूपरेखा पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सम्पूर्णतः भारतीय है और बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों और नाथपंथी योगियों के पदादि से उसका सीधा संबंध है। वे ही पद, वे ही राग रागिनियाँ, वे ही दोहे, वे ही चौपाइयां कबीर आदि ने व्यवहार की है जो उक्त मत के मानने वाले उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने की थी क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या परिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही कबीरदास के मार्ग दर्शक हैं। भक्त कबीर की भाँति ये साधक नाना मतों का खण्डन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे, दोहों में गुरु के ऊपर भक्ति करने का उपदेश देते थे। इन दोहों में गुरु को बुद्ध से भी बड़ा बताया गया है और ऐसे भाव कबीर में भी बड़ी आसानी से मिल सकते हैं, जहां गुरु को गोविन्द के समान बताया गया है। 'सद्‌गुरु' शब्द सहजयानियों, वज्रयानियों, तान्त्रिकों, नाथ पंथियों में समान भाव से समाहृत है।[1]

कबीर के अक्खड़पन का बीज सिद्धों और नाथों में तथा उनका फक्कड़पन अपना था। पूर्व परम्परा और निजी स्वभावगत विशेषता ने मिल कर कबीर के व्यक्तित्व को एक निराला रूप प्रदान किया था। उनके प्रभावी जीवन-दर्शन और उनकी मर्मभेदिनी वाणी के आकर्षण का रहस्य समझने में द्विवेदी जी की विश्लेषण पद्धति सूक्ष्मदर्शिनी रही है। कबीर के जाति-पांति विरोधी विचारों को भी उन्होंने सहजयानी सिद्धों की परम्परा से जोड़ा है। यद्यपि कबीर का स्वर उनके युग की जटिल परिस्थितियों के अनुरूप और अधिक तीखा हो गया था। स्वयं द्विवेदी जी के शब्दों में— सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों का अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है और उसके साथ ही उनका स्वाभाविक फक्कड़पन मिल गया है। इस परम्परागत अक्खड़पन और व्यक्तिगत फक्कड़पन ने मिल कर कबीरदास को अत्याधिक प्रभावशाली और आकर्षक बना दिया है।[2]

कबीर तथा संतों पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव स्वीकार करते हुये भी कबीर की मौलिकता के प्रति वे सचेत हैं। इनका मंतव्य यही सिद्ध करना था कि कबीर अन्य संतों की विचार पद्धति भारतीय परम्परा से संबद्ध है। पूर्व परम्परा से अनेक प्रचलित पारिभाषिक शब्दों को स्वीकार करते हुये कबीर ने किस प्रकार उन्हें नया अर्थ, नया मार्ग भरा है इस तथ्य का बड़ा ही तर्कपूर्ण उदघाटन करते हुये द्विवेदीजी ने कबीर की मौलिकता का सूक्ष्म निरूपण किया है। नाथपंथियों, सहजयानियों, सूफियों और वैष्णवों में प्रचलित कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों के परम्परागत तथा नवीन अर्थों का विश्लेषण उन्होंने जिस सुलझी हुयी शैली में किया है उससे सन्त काव्य की साधनात्मक और साहित्यिक पृष्ठभूमि एवं विकास- स्थितियों को समझने की नई

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

दिशा का सूत्रपात हुआ है। सहज, शून्य, खसम, अवधूत, राम, लौ, मदिरा जैसे अनेक शब्दों की विभिन्न अर्थ-सरणियों का विवेचन इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

द्विवेदीजी के कुछ संकेत सूत्र ऐसे हैं कि उनके द्वारा कबीर तथा अनेक संत कवियों की अन्तःप्रकृति और भाव-व्यंजना प्रणाली अपने स्वाभाविक रूप में प्रत्यक्ष हो सकती है। इससे पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा उठाई हुई अनेक शंकाओं का समाधान तथा एत्‌विषयक अनेक समस्याओं का संतोषजनक निराकरण संभव हुआ है।[३]

स्वयं द्विवेदीजी के शब्दों में कबीर ने आदि योगियों और सहजयानियों के पारिभाषिक शब्दों की अपने ढंग पर व्याख्या की। जिस प्रकार वैष्णव शास्त्रों से ग्रहीत होकर भी उनके राम, दशरथ-सुत नहीं थे, ठीक उसी प्रकार उनके सहज शून्य, षड्‌चक्र, समाधि, इड़ा, पिंगला आदि भी सहजयानियों और योगियों के इन्हीं शब्दों से भिन्न अर्थ रखते थे। इतना ही नहीं, सूफियों की साधना से गृहीत शब्दों की भी उन्होंने अपने ढंग पर व्याख्या की थी।[४]

परम्परागत सहज शब्द को एक नवीन अर्थ देते हुये कबीर ने किस प्रकार अपनी मौलिक सूझबूझ का परिचय दिया है, इसका स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है--

वे साधना को सहज भाव से देखना चाहते थे। वे नहीं चाहते कि प्रतिदिन के जीवन के साथ चरम साधना का कहीं विरोध हो। दैनिक जीवन और शास्वत साधन का यह जो अविरोध भाव है, वही कबीर का सहज पंथ है। उनके युग में यह शब्द बहुत प्रचलित था। जैसे आजकल संस्कृति शब्द बहुत प्रचार के कारण कुछ सस्ता हो गया है, वैसे ही उन दिनों सहज शब्द भी सस्ता हो गया था, लोग गली-कूचे में सहज-सहज कहते फिरते थे। इस शब्द की व्याख्या भी निश्चय ही नाना भाँति से की जाती रही होगी। कबीरदास इससे चिढ़कर एक जगह कहते हैं कि सहज-सहज तो सभी कहते हैं, पर सहज को पहचाना किसी ने नहीं। सहज उसी को कह सकते हैं, जो सहज ही विषय का त्याग कर सके।

अपने सैद्धान्तिक निष्कर्षों में परम्परागत और मौलिक उद्‌भावनाओं का एक समन्वित निर्वाह द्विवेदी जी की निजी विशेषता रही है। संतकाव्य की पूर्ववर्ती प्रेरणाओं का मूल नाथपंथ और सहजयान आदि में खोजते हुये भी वे कबीर की मौलिकता तथा अन्य सन्त कवियों की सीमाओं को भलीभाँति पहचानते हैं और उनका स्पष्ट संकेत करते हैं:--

जो हम कबीर आदि साधकों, योगियों और सिद्धों की बात करते जा रहे हैं उसका यह अर्थ नहीं कि मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि कबीर आदि ने वही कहा है जो इन योगियों और सिद्धों ने। मैं केवल इस बात पर जोर देता रहा हूँ कि जहाँ तक उनकी उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार छन्द, पद आदि का संबंध है, ये सन्त सौ फीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं। उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रूढ़ि विरोचिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है। परन्तु उनमें आत्मा उनकी है। उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है।[५]

सन्त काव्य के अतिरिक्त वैष्णव भक्तिकाव्य के उद्‌भव और विकास के संबंध में भी पूर्वप्रचलित अनेक परम्पराओं का खण्डन तथा अपनी मौलिक मान्यताओं का मण्डन आचार्य द्विवेदी की शास्त्रीय प्रौढ़ता और प्रत्युत्पन्न मेधा का परिचायक है।

डा० ग्रियर्सन के इस अनुमान का कि भक्ति आन्दोलन ईसाइयत की देन है उन्होंने तर्कपूर्ण प्रतिवाद किया है। उनका स्पष्ट अभिमत है कि यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है और यह कहना तो और भी उपहासास्पद है कि जब मुसलमान हिन्दू मंदिरों को नष्ट करने लगे तो निराश होकर हिंदू लोग 'भजनभाव में जुट गये।' दूसरा वाक्य आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य के इतिहास के लेखक की धारणा के प्रति सटीक व्यंग्योक्ति है। 'सूर साहित्य' नामक अपनी पुस्तक में उक्त दोनों धारणाओं का युक्तिपूर्ण खंडन द्विवेदी जी ने किया है।

तुलसीदास के संदर्भ में भी द्विवेदीजी ने यूरोपियन पंडितों की धारणाओं को चुनौती दी है। तुलसीदास में अपने को पतित समझ कर भगवान् को सर्वात्मना समर्पण कर देने की भावना मध्ययुग के तमाम भक्तों की अपेक्षा अधिक है। यूरोपियन पंडितों का अनुभव है कि यह बात ईसाई धर्म का अप्रत्यक्ष प्रभाव है। लेकिन– यह अनुमान गलत है। भागवत धर्म में ही यह भाव मूल रूप से वर्तमान था।[६]

भक्तिकाल के सूफी कवियों के संबंध में भी द्विवेदीजी ने संक्षिप्त पर सारगर्भित संकेत सूत्र दिये हैं। उदाहरणार्थ निर्गुण भाव के शास्त्र निरपेक्ष साधकों की भांति इन कवियों में भी अधिकतर शास्त्र ज्ञान विरहित थे, पर निस्संदेह पहुँचे हुये प्रेमी थे। इन्होंने प्रेम के जिस एकान्तिक रूप का चित्रण किया है, वह भारतीय साहित्य में नई चीज है, प्रेम की इस पीर के सामने ये लोकाचार की कुछ भी परवाह नहीं करते। भारतीय काव्य साधना में प्रेम की ऐसी उत्त्कट तन्मयता दुर्लभ थी। विरह का वर्णन करने में ये कवि कमाल करते हैं। ये कथा, कथा के लिए नहीं कहते, इनका लक्ष्य सदा भगवत्प्राप्ति रहती है। इसीलिए भगवान् के विरह में जीवात्मा की तड़पन का ये बड़ी सजीवता के साथ वर्णन करते हैं।[७]

दोहा, चौपाइयों में प्रबंधकाव्य लिखने की प्रवृत्ति सूफी कवियों की अपनी विशेषता रही है, इसको सर्वथा उनकी मौलिक देन मानने की पूर्ववर्ती धारणाओं का खंडन करते हुये द्विवेदीजी ने एतद्विषयक पूर्व परम्परा का प्रमाणिक उल्लेख किया है।

उन्हीं के शब्दों में– कुछ लोगों को भ्रम है कि पद्‌मावत आदि में दोहे और चौपाइयों में प्रबंधकाव्य लिखने की जो प्रथा है, वह सूफी कवियों का अपना आविष्कार है। यह बात नितान्त भ्रमजन्य है। सहजयान क़े सिद्धों में से सरहपाद और कृष्णाचार्य के ग्रंथ में दो-दो चार-चार चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद दोहा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

लिखने की प्रथा पाई जाती है। अपभ्रंश काव्यों में दस-दस, बारह चौपाइयों अर्धालियों के बाद धत्ता, उल्लाला, आदि लिख कर प्रबंध लिखने का नियम बहुत पुराना है। अपभ्रंश काव्यों में ठीक उन्हें चौपाई नहीं कहते थे, परन्तु हैं वे वही चीज जिसे तुलसीदासजी ने और जायसी आदि ने चौपाई कहा है।– ये दो श्रेणियों के पाये जाते हैं– पज्झटिका और अलिल्लह। इनमें अलिल्लह तो चौपाई ही है, अन्तर इतना है कि चौपाई के अन्त में दो गुरु हो सकते हैं, पर इसके अन्त में लघु होने चाहिये। यह अन्तर भी व्यवहार में शिथिल हो जाता है। दस बारह पज्झटिका या अलिल्लह, जिसके बाद धत्ता या कव्व या उल्लाला होते हैं। इन वेदात्मक छन्दों में अर्थात् घत्ता, उल्लाला आदि के बीच की अलिल्लाह आदि चौपाई जातीय छंदों की पंक्तियों को अपभ्रंश साहित्य में कड़वक कहते हैं। इस प्रकार यह पद्धति अर्थात् कड़वक के बाद छंदात्मक उल्लाला या कब्ब छंद देकर धारावाहिक के रूप से प्रबंध काव्य लिखना सूफी कवियों की ईजाद नहीं है।[८] उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि आचार्य द्विवेदीजी ने केवल निर्गुणवादी संत काव्य को ही नहीं वरन् सूफी काव्य को भी पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्य की परम्परा से जोड़ कर पूर्व प्रचलित धारणाओं को एक नयी दिशा प्रदान की थी।

भक्तिकालीन कवियों के व्यक्तित्व की चर्चा करते हुये आचार्य द्विवेदी जी कतिपय प्रतिनिधि कवियों की मौलिक विशेषताओं का जो उद्‌घाटन किया है, वह उनकी अन्तःप्रकृति के निरूपण तथा उनके ऐतिहासिक योगदान के मूल्यांकन में द्विवेदी जी की भावयित्री प्रतिभा की गहरी पैठ का द्योतक है।

इन पर अनेक आलोचकों द्वारा विशद विवेचन किया गया है, पर द्विवेदीजी की अपनी कथन भंगिमा और प्रस्थापन– पद्धति निराली है। विशेषकर कबीर, सूर और तुलसीदास के विषय में उनके कितने ही वाक्य शास्त्र प्रमाण जैसे उद्धरणीय हो गये हैं। उनके वाक्यों में मात्र प्रतिपाद्य कवियों के व्यक्तित्व का ही नहीं वरन् स्वयं द्विवेदी जी के अपने व्यक्तित्व का भी फलक प्रत्यक्ष हो उठा है। सृजनात्मक समीक्षा (Creative Critieism) के इतने सटीक और चुटीले उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ हैं। कुछ अंश बानगी के रूप में प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

उन्मुख विचारक और सहज प्रेमी भक्त कबीर का सारा व्यक्तित्व द्विवेदी जी के इन छोटे-छोटे वाक्यों में कितना सजीव हो उठा हैः–

कबीर जैसा उन्मुक्त विचार का आदमी किसी प्रकार की रूढ़ियों का कायल नहीं हो सकता था। वस्तुतः कबीर प्रेमाभक्ति के प्रचारक हैं। परन्तु उनके द्वारा प्रचारिता प्रेम में गलत भावुकता या अन्ध श्रद्धा को स्थान नहीं है। वे सहज प्रेम के पक्षपाती थे।[९]

इसी प्रकार कबीर को ज्ञानाश्रयी और निर्गुनिया कहने वाले आचार्य शुक्ल जैसे साहित्येतिहासकारों की धारणा पर परोक्ष व्यंग्य करते हुये आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि लोग कबीर आदि भक्तों को ज्ञानाश्रयी, निर्गुनिया आदि कहते हैं। वे

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

प्रायः भूल जाते हैं निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके राम वेदान्तियों के ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों के भगवान् अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता, केवल ज्ञानमयता से भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर हैं। इसीलिए कबीरदास आदि भक्ति ज्ञानी होते हुये भी प्रेम में विश्वास रखते हैं।[१०] निर्गुणधारा और सगुणधारा के कवियों के बीच समन्वयसूत्र खोजते हुये द्विवेदी जी ने कुछ विशिष्ट मौलिक धारणायें व्यक्त की हैं जो भक्ति तत्त्व के गूढ़ रहस्यों से उनका घनिष्ठ परिचय सिद्ध करती हैं। उनका कथन है कि कबीरदास, दादू दयाल आदि निर्गुणमतवादियों की नित्यलीला और सूरदास, नन्ददास आदि सगुणमतवादियों की नित्यलीला एक ही जगत की हैं। अन्तर यही है पहली श्रेणी के भक्तों के सामने भगवान् सदा प्रतीकरूप में आते हैं और इसीलिए उनकी अनन्य और समीपता ओझल-सी हुई रहती है।[११]

कबीर के प्रेम और भक्ति में अन्धश्रद्धा, गलदश्रु भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्माद का एकान्त अभाव बताते हुये एक छोटे से वाक्य में उनके समग्र व्यक्तित्व का सजीव चित्र अंकित कर दिया है– सिर से पैर तक वे मस्तमौला थे। बेपरवाह, दृढ़, उग्र। – – – वे साधना के क्षेत्र में, युग गुरु थे और साहित्य के क्षेत्र में भविष्य के स्रष्टा।'[१२]

कबीर की भाषा व्याकरण की दृष्टि से अनगढ़ और अपरिमार्जित समझी जाती रही है, पर द्विवेदी जी ने अपनी जिस विशिष्ट प्रतिपादन शैली के बल पर उनकी भाषा के इस अनादि रूप में भी असाधारण क्षमता का साक्षात्कार किया है। प्रभाववादी समीक्षा का बड़ा ही चुटीला रूप उनके निम्नलिखित वाक्यों में प्रत्यक्ष है–

"भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया है– बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ उनके सामने लाचार-सी नज़र आती है। उसमें मानों ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फारमाइश को नाहीं कर सके। और – अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है, वैसी बहुत कम लेखकों में पाई जाती है।– वाणी के ऐसे बादशाह को साहित्य रसिक, काव्यानन्द का आस्वाद कराने वाला समझे तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करने में और चुटकी लेने में भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काज़ी, अवधू और जोगियों, मुल्ला और मौलवी – सभी उनके व्यंग्य से तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषा में वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खाने वाला केवल धूल झाड़ के चल देने के सिवा ओर कोई रास्ता ही नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीर ने कहीं काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनकी आध्यात्मिक रस की गगरी से छलके हुये रस से काव्य की कटोरी में भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।[१३]

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अन्यत्र द्विवेदी जी के वाक्यों में कबीर तथा तुलसी के अद्भुत महत्त्व की सबल स्वीकृति द्रष्टव्य है– "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीर के व्यक्तित्व में बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोण से एकदम भिन्न थे।"

मस्ती, फक्कड़ाना या स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियों में सब कुछ को छोड़कर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है।[१४]

कृष्णभक्तिधारा के प्रतिनिधि कवि सूरदास के व्यक्तित्व को भी द्विवेदी जी ने गहराई से पहचाना था और विशेष रूप से उनके प्रेम-चित्रण की सहज स्वाभाविकता और मर्मस्पर्शिता से उनके प्रेम चित्रण की सहज स्वाभाविकता और मर्मस्पशिला का निरूपण बड़ी ही हृदयहारिणी भाषा शैली में किया है। अत्यन्त सरल और साथ ही अत्यन्त गूढ़ वाक्यों में सूर के प्रेम व्यंजना का विश्लेषण देखिएः–

सूरदास का प्रेम संयोग के समय सोलह आना संयोगमय है और वियोग के समय सोलह आना वियोगमय है, क्योंकि उनका हृदय बालक का था जो अपने प्रिय के क्षणिक वियोग में भी अधीर हो जाता है और क्षणिक सम्मिलन में ही सब कुछ भूल कर किलकारियाँ मारने लगता है।[१५] सूरदास की राधिका का स्वभाव निरूपण करते हुये द्विवेदी जी ने चंडीदास और विद्यापति की अपेक्षा सूर का वैशिष्ट्य जिस सांकेतिक शैली में उद्घाटित किया है, वह भी अनूठा हैः–

असल में सूरदास की राधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका है। उनके प्रेम में चंडीदास की राधा की तरह पग-पग पर सास-ननद का डर भी नहीं है और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता नहीं है। घर में वन में, घाट पर, कदम्ब तले, हिंडोले पर– जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है, वहीं वह अपने आप में ही पूर्ण है मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है।[१६]

सूरदास के सरल हृदय व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य द्विवेदी जी के इस एक वाक्य में बड़े ही सुलझे हुये रूप में व्यक्त हो गया हैः– "सूरदास सुधारक नहीं थे, ज्ञानमार्गी भी नहीं थे, किसी को कुछ सिखाने का मान उन्होंने कभी किया ही नहीं। वे कहीं भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति विशेष के प्रति कटु नहीं हुए। यह भी उनके सरल हृदय का ही निदर्शक है।"

द्विवेदी जी की तुलनात्मक दृष्टि कहीं-कहीं अनेक भक्तिकालीन कवियों के व्यक्तित्त्व की भेदक रेखाओं की झलक दिखाती चलती है– उदाहरणार्थ सूरदास के संबंध में कबीर, तुलसीदास और नन्ददास से उनके पद का स्पष्टीकरण। वे

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कबीरदास की तरह ऐसे समाज से नहीं आये थे, जो पग-पग पर लांछित और अपमानित होता था और जहाँ का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था।– वे तुलसीदास की भाँति दृढ़चेता सेनानायक नहीं थे जो समाज की कुरीतियों से कुशलतापूर्वक बाहर निकल कर उस पर गोलाबारी आरम्भ कर दें। नन्ददास की तरह पर पक्ष की युक्तियों को तर्क बल पर निराश करना भी वे नहीं जानते थे। वे केवल श्रद्धालु और विश्वासी भक्त थे, जो जब झगड़ों में पड़ने के ही नहीं।[१७]

राम भक्तिधारा के प्रतिनिधि और भक्तिकालीन मूर्द्धन्य द्रष्टा कवि गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में भी आचार्य द्विवेदी की मान्यतायें सूक्ष्म ऐतिहासिक दृष्टिकोण और गंभीर मूल्यबोध से समृद्ध हैं। उनकी असाधारण प्रतिभा के प्रति वे पूर्ण सजग थे। उन्होंने गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व का सर्वाधिक मौलिक वैशिष्ट्य रूप में उनके समन्वयकारी रूप में देखा है। द्विवेदी जी के शब्दों में :– "उनका सारा काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। लोक और शास्त्र का समन्वय, गार्हस्थ और वैराग्य का समन्वय, भक्ति और ज्ञान का समन्वय, भाषा और संस्कृत का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, कथा और तत्त्वज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चण्डाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय– रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है। इस महान समन्वय के प्रयत्न का आधार उन्होंने राम चरित्र को चुना, वस्तुतः इससे अधिक सुंदर चुनाव हो नहीं सकता।[१८] तुलसीदास के विराट व्यक्तित्व में कवि, भक्त, पंडित, सुधारक, लोकनायक और भविष्य द्रष्टा आदि अनेक रूपों का जो अद्भुत समन्वय हुआ है, उसकी जितनी गूढ़, सटीक और अतलस्पर्शी अभिव्यक्ति आचार्य द्विवेदी के निम्नलिखित वाक्यों में हुई है, अन्यत्र दुर्लभ है:– "तुलसीदास कवि थे, भक्त थे, पंडित सुधारक थे, लोकनायक थे और भविष्य के द्रष्टा थे। इन रूपों में उनका कोई भी रूप किसी से घट कर नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने सब ओर से समता (Balance) की रचना करते हुये एक अद्वितीय काव्य की सृष्टि की जो अब तक उत्तरभारत का मार्गदर्शक रहा है और उस दिन भी रहेगा जिस दिन नवीन भारत का जन्म हो गया होगा।"[१९]

इस प्रकार मध्ययुग तथा विशेष रूप से भक्तिकाव्यधारा की प्रेरणाभूमि, पृष्ठभूमि, प्रतिपाद्य विषय की व्यापकता, मूलभूत सिद्धान्तों की दृढ़ता, व्यावहारिक परिवेश की विविधता, शास्त्रीय प्रौढ़ता, असाधारण लोकप्रियता, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक सजगता तथा विश्वजनीन संदेशों के द्वारा विराट लोकमंगल साधना की अखण्डता आदि सभी संभव पक्षों का अखिल भारतीय साधना एवं साहित्य के वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में निर्भ्रान्त एवं निष्पक्ष मूल्यांकन तथा उसकी अनेक मौलिक दिशाओं का उद्घाटन आचार्य द्विवेदी की जागरूक मनीषा, अद्भुत मर्मज्ञता और उनके निरंतर विकसनशील मेधावी व्यक्तित्व की गरिमा का उद्घोषक है। मध्ययुगीन भक्ति साधना और भक्ति काव्य के अप्रतिम पारखी के रूप में उनकी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनूठी प्रतिभा शताब्दियों तक भारतीय साहित्य के इतिहासकारों का पथ आलोकित करती रहेगी।

संदर्भ

१. हिंदी साहित्य-भूमिका, पृ. २८
२. वही, पृ. २६
३. वही, पृ. ३३
४. वही, पृ. ३७
५. वही, पृ. ३७
६. वही, पृ. ४६
७. हिंदी साहित्ये, पृ. ४६-५०
८. वही, पृ. ५६
६. वही, पृ. ७२
१०. वही, पृ. ५४, ६३-६४
११. वही, पृ. ८०
१२. कबीर, पृ. २१६-२१७
१३. कबीर, पृ. २१७
१४. हि० सा० भू०, पृ. ८२
१५. वही, पृ. ८२
१६. हि० सा०, पृ. ८३
१७. वही, पृ. ८५
१८. वही, पृ. ८७
१६. वही,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१८

चमत्कृति मूल काव्य तत्व

सूर्य नारायण द्विवेदी

मानवीय हृदय को प्रभावित करने में कलाओं का अलौकिक प्रभाव किसी से छिपा नहीं है और ललित कलाएँ तो उसे इतनी विशिष्ट आनुभूतिक ऊँचाई तक ले जाती हैं, जिससे मनुष्य चित्त न केवल आस्वाद का अनुभव करता है, अपितु तन्मयता की गहन स्थिति पाकर अलौकिक आह्लाद को भी उपलब्ध करता है, लेकिन इन सारे प्रभावों के पीछे जो विशेष प्रतिपद अनुस्यूत है, जिसके बिना न तो कलाओं को आकार दिया जा सकता है, न प्रभाव प्राप्त किया जा सकता है और न आह्लाद की स्थिति तक पहुँचा जा सकता है, वे भी ऐसे किसी सार सर्वस्व से अवश्य जुड़ी होती है, जिसके न होने पर उनकी सारी कलाबाजियाँ अर्थ विहीन हो सकती हैं। यदि उस सार सर्वस्व को जिसके होने पर कलाओं का अस्तित्व अक्षुण्ण रहेगा, जिसकी सत्ता के विलीन हो जाने पर सारा कुछ प्रभाव बिखर सकता है। उसे उसका सत्य कहें तो समीचीन होगा। अर्थात् कलाओं का सत्य, ललित कलाओं का सत्य अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण वस्तु है, उसके सन्धान के बिना वस्तुस्थिति ही अधूरी रहेगी। जहाँ तक काव्यकला का सम्बन्ध है, उसकी स्थिति भी उससे अलग नहीं। अर्थात् काव्य में भी कोई ऐसा मूल सत्य प्रतिष्ठित रहता है, जो शुरू से अन्त तक अर्थात् रचनाकार की अनुभूति से अभिव्यक्ति तक और सहृदयकों अभिव्यक्ति से अनुभूति तक सहायंता करता है। तब यह आवश्यक हो जाता है कि वह काव्यसत्य क्या है– या कलाओं का सत्य क्या है? उसे उपलब्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए।

इससे पहले कि सत्यानुसन्धान के क्रम से जुड़ा जाय, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कलाओं का सत्य की अभिव्यक्ति से नाता तो होता है किन्तु वह एक अर्थ में भिन्न होता है, कलाएं आकारवती होती हैं, क्षणभंगुर तत्त्वों से मिली होती हैं और कई प्रकार के उपमानों, अनुमानों, आरोपों, अध्यारोपों, अकृतियों, शैलियों और कल्पनाओं का मानव परिकल्पित वस्तओं और व्यापारों की सहायता से आकार लेने वाली होती हैं। जबकि सत्य इन सारे साधनों द्वारा प्रकाशित होने वाला मूलतत्त्व है। ऐसी अवस्था में दोनों का स्थूल सूक्ष्म स्वरूप अरूप, क्षणभंगुर और अपेक्षाकृत स्थिर नूतन (निर्मिति के क्षणों में) और नित्य नूतन का भेद तो स्वभावसिद्ध है। इस प्रकार यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि असत्य से सत्यानुसन्धान कैसे सम्भव है। कलाओं का आधार क्षणिक और कल्पना पर आधारित है या फिर कलाओं की कल्पना मात्र है। जबकि सत्य कल्पना नहीं होता है। इस सम्बन्ध में

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

यह कहा जा सकता है कि सत्य को अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्थूल आधारों की आवश्यकता अवश्य पड़ेगी, तब यह भी स्थूल का भी मर्म सूक्ष्म ही होता है। शास्त्रों में तो इसीलिए यह मानकर चला गया है कि स्थूल आकार ही नहीं ले सकता, यदि उसका आधार सूक्ष्म न हो। कला का सत्य कलाकार की अनुभूति होती है। आधार की सूक्ष्मता के बीच ही कला का स्थूलरूप लेते हैं, या फिर इसलिए भी कि असत्य से चलकर ही सत्य का अनुसंधान सम्भव होता है– "असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते। इसलिए अनुसन्धान का यह क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होगा।

सत्य के सूक्ष्म स्तरों तक जाने का मार्ग स्थूल से होकर ही जाता है। विवादों की पूर्ववर्ती परम्परा का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ क्रम मनुष्य की प्रज्ञा को उसकी नई-नई परिधियों से परिचित कराता चलता है और इस प्रकार मनुष्य चेतना के ऐन्द्रिय स्तरों से आत्मिक स्तर की परिणतियों से जुड़ता है और अनुसन्धान यात्रा पूरी करता है। यह कहना ठीक नहीं होगा कि नये विचारों का ही विशेष महत्त्व होता है उत्तरवर्ती विवाद ही अनुसन्धान की प्रक्रिया पूरी करते हैं। यह विवेक निश्चित ही दोषपूर्ण है क्योंकि विचार कभी पुराने नहीं पड़ते। वास्तव में उनके मूल में उत्तरोत्तर विकसित होने वाले विचारों के मूल बीज किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। उत्तरोत्तर आने वाली प्रज्ञाएँ विश्लेषण और परिशीलन के आधार पर उसके भीतर छिपे विचार्यमाण को उद्घाटित करती हैं और रेखांकित भी। चमत्कृति के सम्बन्ध में भी कुछ इसी तरह का है अर्थात् पुराने विचारकों ने काव्य सत्यानुसन्धान के क्रम में जो विचार व्यक्त किये हैं, उसमें भी चमत्कृति का किसी न किसी रूप में अस्तित्व बना हुआ है, यद्यपि वह वहाँ अनुद्घाटित और सुषुप्त स्थिति में था और शब्दान्तर से ही स्वीकृति पा सका था, किन्तु था अवश्य।

विचारक जब अनुसन्धान की दिशा में पद संचार करता है, सत्य के पहले ही न उजागर होने के कारण उसे कई भटकावों से गुजरना पड़ता है। ऐसे क्षणों में उसे श्रम, सन्देह, अनुमान, आभास आदि कई स्थितियों से बनना होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि वह सत्य के पास तक पहुँचकर भी नहीं पहुँच पाता। क्योंकि वहाँ भ्रम और सन्देह उसके मन की वृत्तियों को आ घेरते हैं। कहीं वह इसका आभास पाता है और उसे अनुमान, उपमान और आरोप आदि की प्रक्रिया से विचारात्मक आकारों के दायरे में बाँधना चाहता है, किन्तु उसका लक्ष्य मात्र सत्य की उपलब्धि होता है। वहीं उसके सम्पूर्ण विमर्श की मूल प्रेरणा होता है। यह प्रेरणा उसे विचार्यमात्र की ओर निरन्तर अग्रसर करती है। चमत्कृति भारतीय काव्यशास्त्र के आदिम पद संचार क्रम में ऐसे ही भटकाव वाले मोड़ से गुजरी है, जहाँ उसे कभी वक्रोक्ति, अतिशयतम वैचित्र्य आदि नामों से अभिहित किया गया। किन्तु इस में सन्देह नहीं कि वहाँ आचार्य प्रज्ञाओं का दृष्टिकोण विचार्यमात्र सत्य का अनुसन्धान या उद्घाटन ही लक्ष्य था। भामह, दण्डी, उद्भट, वामन और रुद्रट

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इसी परम्परा की कड़ियाँ हैं जिन्होंने अपने ढंग से अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की प्राणवत्ता का चारूता विच्छित्ति, सौन्दर्य अतिशयता, वक्रोक्ति, वैचित्र्य आदि नामों से उद्‌घाटन किया है।

प्रत्येक विचारक का लक्ष्य व्यवधान के परदे को हटाकर सत्य के उद्‌घाटन की ओर होता है। उन क्षणों में वह जितनी दूर तक देख पाता है, उद्‌घाटित करने का प्रयत्न करता है। स्थूल न होने के कारण वह सत्य जल्दी विचारक की पकड़ में नहीं भी आ सकता है। लेकिन इसके कारण अनुसन्धान की दिशा में विचारक के प्रयास को कम करके नहीं आँका जा सकता। इसमें सन्देह नहीं है कि भामह आदि आचार्यों ने अलंकृति और रीति सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के क्षणों में काव्यसत्य को पूरा-पूरा अधिगत करने का प्रयत्न किया था, उस समय जो मूल प्रश्न था उससे उन्होंने टकराने का प्रयत्न भी किया। दृश्यकाव्य से श्रव्यकाव्य को स्वतन्त्र रूप में पृथक विश्लेषित करने का प्रयत्न इस बात का साक्षी है कि दृश्यकला के आगोश में फँसी श्रव्यकाव्यकला को अधिक महत्त्व देने की दृष्टि से ही उन्होंने श्रव्यकाव्य तत्त्व के निर्वर्तक तत्त्वों को ढूंढने का प्रयत्न किया। इस प्रसंग में सबसे पहले उनके सामने काव्यगत शब्द और अर्थ की अप्रतिम चामत्कारिकता उजागर हुई थी। उन्होंने उसका प्रतिपादन ही नहीं किया उसके गुण और दोष का भी विवेचन किया और चलते-चलते मूल काव्यसत्य के रूप में वक्रोक्ति, अतिशयता एवं उपमा को स्वीकार किया था। आगे ध्वनि, औचित्य और रस जो भी सिद्धान्त आये मूल सत्य वहाँ अनायास प्रकाशित हो उठा। ध्वनि के विवक्षित वाव्य और अविवक्षितवाव्य के सारे भेदों-प्रभेदों में उसकी स्वीकृति अनायास अस्तित्व में आ गई, चमत्कारक चमत्कार्य और चमत्कृति तीनों रूपों में उन सत्यों के पीछे इतने स्पष्ट रूप में सामने आया। सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। इस तरह व्यवधानों के होते हुए भी सूक्ष्म और मूल सत्य प्रकाशित हुए बिना नहीं रहता। अनुसन्धाता को व्यवधान के वे परदे तोड़ने ही होते हैं।

यह एक स्वीकृत बात है कि सत्य को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि वह स्वयं प्रकाश होता है। प्रारम्भ से ही काव्य में निहित सत्य बराबर अस्तित्व में बना रहा और वह अनुभाविता सहृदयों के अनुभवपथ पर भी आता रहा है। इसी प्रकार रचनाकार की मेधा का स्पर्श कर रचना में लावण्य और नित्य नूतनता की आकर्षक शक्ति भरने में उसका बराबर प्रयोग होता रहा। इस प्रकार काव्य का वह मूल सत्य सहृदय और रचनाकार दोनों की अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के पीछे लगातार काम करता है। रचना तब तक हो ही नहीं सकती, जब तक रचनाकार के मन और मस्तिष्क में विषयवस्तु की अतिम चामत्कारिकता कौंध न उठे। अनुभूति का यह पहला स्तर रचनाकार की मेधा को ऐसे विशेष रूप में आन्दोलित करता है कि उसमें उस अलौकिक चमत्कारकारी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने की आकुलता जाग उठती है। फिर तो उसकी विभावक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कल्पना विभिन्न रचनात्मक स्तरों से गुजरती हुई काव्य का अभिव्यक्ति स्वरूप ग्रहण करती है। और उस आकार में भी उसमें इतनी आवर्जक शक्ति होती है कि वह विश्व के सामान्य शब्दार्थों की तरह होती हुई भी उन सबसे भिन्न कोटि की भंगिमा से युक्त होती है। ठीक इसी प्रकार अभिव्यक्त आकार में निहित मूलसत्य अनुभविता (सहृदय) के भी ऐन्द्रिय माध्यमों को तत्काल इतने अतिम रूप आकृष्ट और प्रभावित करता है कि अन्तस्तलीय विभिन्न स्तरों को पार करके वह रचनाकार की अनुभूति के अशेष प्रभामण्डल को सहृदय चित्त में उजागर करती हुई रचनाकार के अन्तस्तल में स्फूर्त स्वयं- प्रकाशमूल– काव्यसत्य सहृदय चित्त में भी उसी प्रकार उतारता है। इस रूप में दोनों आश्रयों में अलौकिक चमत्कारकारी मूलकाव्यसत्य का महत्त्व असंदिग्ध है।

सत्य के स्वयं प्रकाश होने पर भी भारतीय प्राचीन पण्डितों का मत रहा है कि वह बराबर अवगुण्ठित स्थिति में रहता है–"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" अर्थात् सत्य का स्वरूप हिरण्मय पात्र से ढँका हुआ है। यह हिरण्मयपात्र और कुछ नहीं उसकी अभिव्यक्तियों के विभिन्न स्तर हैं। काव्य को ही लिया जाय शब्द पर मुग्ध होने वाले शाब्दिक चमत्कार तक ही जाते हैं। अर्थ की विशेष भंगिमा पर मुग्ध होने वाले शब्द और अर्थ की सीमा तक चमत्कृत होते हैं और मूलसत्य की भी उसी रूप में व्याख्या करते हैं। भारतीय काव्य सिद्धान्त परम्परा में जैसा अलंकार वादियों ने किया था। इससे आगे वर्णसंघटना, पदसंघटना और गुणों पर मुग्ध होने वाले आचाया को भी एक परम्परा रीति सिद्धान्त के रूप में प्राप्त है, जिनके सामने सत्य का उतना ही रूप प्रकाशित हुआ। काव्य में संकेतार्थ वीर लक्ष्यार्थ से आगे उसकी अभिव्यंजकता पर सही करने वालों ने कुछ आगे बढ़कर सत्य के अधिक व्यापक स्वरूपों का रस, वस्तु और अलंकार ध्वनि के रूप में जो उद्घाटन किया, वह उनकी सीमा तक ही उन्हें प्रभावित कर सका था। इसमें सन्देह नहीं रहा। कवि की प्रतिभा को आधार बनाकार काव्य सत्य का अनुसन्धान करने वाले आचार्यों ने विशेष अभिधा का आधार लेकर काव्य के जिन सहज विचित्र और मध्यम पात्रों की चमत्कृति का अनुसन्धान किया समझना चाहिए उन्होंने उसकी वहीं तक इयत्ता स्वीकार की। औचित्य के आधार पर या आस्वाद के आधार पर जिन आचार्यों ने अगले सिद्धान्तों में अपने अभिमत दिये निश्चित ही उनकी दृष्टि में काव्यसत्य का जो सत्य उद्घाटित हुआ, वह उनके प्रतिपादन की सीमा से बंधा हुआ-सा था। इस प्रकार ये लम्बी यात्रा यह स्पष्ट करती है कि मूलसत्य का निरन्तर अनुसन्धान सत्य की एक-एक परत खोलता था और जो आचार्य जिस सीमा तक पहुँचता काव्यसत्य की वही इयत्ता मानकर सन्तोष कर लेता था। भारतीय प्रज्ञा के द्वारा प्रतिपादित अन्तिम सिद्धान्त रस तक पहुँचकर लगा कि यह यात्रा अपने पड़ाव पर पहुँच गई है। जबकि सत्य यह था कि भारतीय आचार्य परम्परा के सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीयता को काव्य का मूलसत्य उद्घोषित करते

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

हुए अथवा 'चमत्कारवत्वं एव वा काव्यत्वम्' कहकर अगली परम्परा को चौंका दिया। यह एक ऐसी बात थी, जिसने भारतीय प्रज्ञा के प्रथम प्रयास से लेकर अन्तिम प्रयास तक पर पुनः दृष्टिपात करने को बाध्य किया। जिससे यह लगा कि मूलसत्य के अनुसन्धान की वह अन्तर्यात्रा अभी भी अनिर्णीत अविश्लेषित और अरेखांकित रह गयी है।

मूलसत्य का उद्घाटन प्रज्ञा के प्रसविता के ही अधीन है। यह बात जो वैदिक ऋषियों ने कही थी वह अपनी जगह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। काव्य सत्य के मूल के अनुसंधान के सम्बन्ध में भी वह उतनी ही काम की है। मति, बुद्धि और प्रज्ञा के सारे स्तर जिससे प्रेरणा प्राप्त करते हैं और अपेक्षित सत्य के उद्घाटन में मनुष्य की सहायता करते हैं उनका देवता प्रसाविता ही है, अर्थात् प्रज्ञा के विभिन्न स्तरों में आने वाली शक्ति प्रसविता की शक्ति है। जिसमें ये क्षमता होती है कि वह सत्य के सूक्ष्म से स्थूल तक ही सारी परिधियों के प्रभामण्डल को प्रकाशित करे, वास्तव में ये प्रसविता शक्ति की रचनाकार और सहृदय की भी अपनी शक्ति है, जिसकी कारयित्री क्षमता का सहारा लेकर रचनाकार संवेदनात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देता है। और सहृदय भावयित्री क्षमता के स्तर पर उसे उसी रूप में अधिगत करता है। प्रज्ञा की वह क्षमता प्रसविता की क्षमता है और उसकी चरम परिणति काव्यगत वह चमत्कृति है, जो स्वयं ही काव्य का साधक तत्त्व भी है और साध्य तत्व भी। वास्तव में इसी रूप में इसका विचार किया जाना चाहिए।

यह मानने में कोई कठिनाई नहीं कि मूलकाव्य सत्य हो या उसको उजागर या उद्घाटित करने वाली शक्ति दोनों का स्वरूप भावात्मक होता है और सारे भाव पदार्थ विज्ञाता पर आवश्यक प्रभाव की सृष्टि के लिए उसके सामने आना चाहते हैं। उन्हें माध्यमों की आवश्यकता होती है, जैसे सृष्टि का परमात्मा और आत्मा दोनों ही भावात्मक स्तर पर है, वे अपनी अभिव्यक्ति के लिए मूलतः चिन्मय और भाव स्वरूप होने पर भी प्रकृति के गुणों तत्त्वों का आश्रय लेकर विश्वाकार या देहाकार रूप में अभिव्यक्त होने को बाध्य हैं, अन्यथा उनके अस्तित्व और कार्य क्षमता का विज्ञाता को अनुभव बहुत कठिन है। ठीक वैसे ही मूलकाव्य सत्य जैसे भावात्मकतत्त्व को भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए रस और ध्वनि जैसे सूक्ष्म तत्त्वों से लेकर शब्द और अर्थ जैसे स्थूलतम तत्त्वों का आश्रय लेना होता है। अर्थात् भावात्मक तत्त्व को अपनी अभिव्यक्ति के लिए भौतिक माध्यमों की अपेक्षा है। ये माध्यम स्थूल होते हुए भी भावात्मक विशिष्ट सत्य के संस्पर्श से इस तरह की शक्ति पा लेने में समर्थ होते हैं कि वे उस स्थिति को अनुभविता के सामने इस तरह प्रकट कर सकें कि उसकी प्रज्ञा क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म स्तरों तक का अनुभव कर पाये।

जिन भौतिक माध्यमों का आश्रय लेकर मौलिक सत्य की भावात्मक परिधि अभिव्यक्ति पथ पर अभिव्यक्त होती है, वे माध्यम स्थूल होने के कारण एक निश्चित शक्ति और सीमा से बंधे हैं। वहीं सीमाएँ एक निश्चित दूरी तक ही मूल सत्य को

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

संकेतित, लक्षित या अभिव्यक्ति कर सकती हैं। यही क्यों उनका भौतिक रूप उनकी जिस स्थूल अभिव्यक्ति का परिचय देता है, उसमें इतनी भी शक्ति नहीं होती कि बार-बार दुहराया जाने पर उनमें अपेक्षित नित्य- नूतनता या विभिन्न देश कालों में अपेक्षित प्रभाव सृष्टि सम्भव हो पाये। अतएव उन्हीं शब्दों और अर्थों में ऐसी शक्ति की आवश्यकता होती है, जो उनके स्थूल आकारों में भी इस तरह की विशेष भंगिमा की सृष्टि कर सके, कि वह मूलसत्य के उजागर करने में अधिक सहायक हो सके। इस प्रकार का विशेष भंगिका से युक्त शब्द और अर्थ सूक्ष्म संवाहक माध्यमों अर्थात् भाव-विचार और कल्पना की तंत्रियों को इस में झंकृत करेगा कि एक ऐसी तन्मयता की स्थिति सहृदय चित्त में बन पाये कि वह तन्मयी भवन योग्यता की उत्तम भूमिका में पहुँचकर रचनाकार के द्वारा अर्पित सत्यानुभूति को अपना बना सके या उसका होकर उतने क्षणों तक रह सके। जब तक काव्य में उन माध्यमों की उपस्थिति है। विचार करने पर लगता है कि इस रूप में शब्द और अर्थ में निहित चमत्कृति ही भावों, विचारों और कल्पनाओं का वहन करती है और अनुकूल तन्मयीभवन योग्यता का सम्पादन कर मूलसत्य के अधिगत करने में अपेक्षित सहायता करती है। इस रूप में ऐन्द्रिय स्तर हो या अन्तस्तलीय, संवेदनात्मक अनुभूतियों के प्रकाशन और अधिगमन दोनों स्तरों पर मूलसत्य की महत्ता ही काम करेगी। भौतिक माध्यमों की शक्ति और सीमा में भी नये प्राण फूंकने के कार्य से लेकर अभौतिक और अलौकिक अनुभूतियों तक ले जाने में उसकी शक्ति समान रूप से अनुस्यूत होगी। अपने इस रूप में चमत्कृति का महत्व अनाविल है, अप्रतिम है।

ललितकला के सबसे महत्त्वपूर्ण अंश काव्य का माध्यम शब्द है यह सर्वविदित है और यह भी कि कलाओं के सब माध्यमों में से यह सबसे अधिक सूक्ष्म अधिक क्षणस्थायी, दूरगामी प्रभावसृष्टि में सक्षम, नित्यनूतन और देश और काल की सीमा लाँघकर भी अपेक्षित प्रभावान्विति में अधिक समर्थ माध्यम है, फिर भी जैसा ऊपर कहा गया है कि भौतिक साधनों की शक्ति और सीमा परिमित है, सत्य के स्थूल रूप के लिए भी यह बात वैसे ही स्वीकार की जानी चाहिए, तो भी शब्द और माध्यमों से अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म और स्थायीतत्त्व तो है ही साथ ही, शास्त्रकारों और अनुभविता विद्वानों की दृष्टि में शब्द के चार स्तर होते हैं– परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा बैखरी। बैखरी स्तर वही स्तर है, जिस रूप में हमारे श्रवण उसे अधिगत करते हैं, किन्तु उससे पहले मध्यमा वाणी शब्दों की सूक्ष्म रचना का, पश्यन्ती उसकी सार्थकता का और परावाणी मूल अनुभूतियों का स्तर है। इस प्रकार परा आत्मा के स्तर पर, चाहे वह रचनाकार की हो या सहृदय की, पश्यन्ती बौद्धिक या प्रज्ञात्मक स्तर पर चाहे वह रचनाकार की हो या सहृदय की, मध्यमा स्तर पर मानसिक कल्पना से सहकृत और बैखरी स्तर पर सुनाई देने वाली वाणी के रूप में होती है। वास्तव में परा की अनुभूति ही पश्यन्ती से मध्यमा के द्वारा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

बैखरी के स्तर पर अभिव्यक्त होती है, इसलिए यह मानने में कोई कठिनाई नहीं लगती कि अनुभूति का अभिव्यक्ति से अविनाभाव सम्बन्ध है। अभिव्यक्ति बैखरी के स्तर उन सूक्ष्म अनुभूतियों, विज्ञानों और विशेष भावों की ही होती है, जो आत्मा से वहाँ तक प्रेषित होती है। ऐसी अवस्था में शब्द की और अर्थ की शक्ति और सीमा अत्यन्त परिमित होने पर भी परावाणी के संस्पर्श से इतनी शक्तिशालिनी हो सकती है कि बैखरी के स्थूल पर प्रकाशित होने पर भी रचना में नित्य नूतनता, अपेक्षित प्रभाव सृष्टि की क्षमता और आस्वाद और आह्लाद तक पहुँचाने की पूरी-पूरी सामर्थ्य रहे।

काव्य के रूप में जो अभिव्यक्ति सामने आती है, वह वास्तव में शब्द सम्पदा का अत्युत्तम प्रयोग कहा जा सकता है। आचार्यों और रचनाकारों का विचार है कि सामान्य शब्द परम्परा के बीच से ऐसी शब्द सम्पदा को चुनने में रचनाकार की प्रज्ञा को अपने उत्तमांश की विशिष्ट क्षमता का उपयोग करना होता है ताकि अपेक्षित अनुभूतियों को उनके माध्यम से अवतरित किया जा सके। यह शब्द प्रयोग इतना संतुलित, सुविचारित और सुललित ढंग का होता है कि रचना के द्वारा सहृदय पर अपेक्षित प्रभावसृष्टि सम्भव हो पाती है। यह क्यों, रचनाकार की वह रचना अपने निर्वर्तन के क्षणों में और उसके तत्काल बाद उसे इतना आह्लादित करती है, कि रचना उनकी है। अर्थात् अपेक्षित अनुभूति का वह इतना सुविचारित रमणीय प्रयोग होता है कि रचनाकर और सहृदय अभिव्यक्ति से जुड़ते ही ऐसे आस्वाद और आह्लाद से तन्मयीभाव की स्थिति में पहुँच सकते हैं।

इस प्रकार यह शब्द-सम्पदा का सबसे विशिष्ट और सुविचारित प्रयोग ही रचना को अपने समकाल के लिए ही नहीं, अनागत के सहृदय के लिए भी अप्रतिमता देने में सक्षम हो पाता है। अतीत के महाकवियों की रचनाओं का आज भी प्रभावशाली बने रहना, इस बात का प्रमाण है कि रचना में निहित सुविचारित रमणीय शब्द-सम्पदा प्रयोग ने रचना में इतनी चामत्कारिकता स्थापित कर दी है, जो न पुरानी पड़ सकती है और न बेगाना हो सकती है। इन अर्थों में यह मान लेने में कोई कठिनाई नहीं कि रचनाकार के लिए अनुभूति से अभिव्यक्ति की ओर प्रस्थान करते समय और सहृदय के लिए अभिव्यक्ति से अनुभूति की चमत्कारिक स्थिति तक पद संचार के लिए काव्य के भावात्मक, वैचारिक, कल्पना-प्रवण और ऐन्द्रिय बिम्बों और प्रतीकों के सभी स्तरों पर चमत्कृति अनुपद अनुस्यूत मिलेगी और यह विभिन्न रूपों के मूलसत्य का प्रतिनिधित्व भी करती दिखलाई देगी।

यह स्पष्ट हो जाने पर कि मूलकाव्य सत्य अपने में एक ऐसा अनुसन्धेय बिन्दु है, जिसके स्थूल से सूक्ष्म तक के स्तर हों, उसका अनुसन्धान स्थूलता के क्रम में शब्द और अर्थ के बीच आने वाले अलंकारों, पद, संघटनाओं, बिम्बों और प्रतीकों से शुरू होकर कल्पनाओं, विचारों और भावों तक और फिर संवेदनात्मक अनुभूति के स्तर तक जायेगा। इतना अवश्य है कि अनुसन्धान का क्रम चाहे अनुलोम विधि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

से शुरू हो या विलोम यह ध्यान रखना होगा कि अनुसन्धान प्रकृष्ट ही कर सकता है अर्थात् अनुसन्धानक्रम में सबसे पहले आत्मा चाहे वह सहृदयगत हो या रचनाकारगत, क्रमशः अनुभूति के सघन स्थिति-परा से लेकर पश्यन्ती, मध्यमा और बैखरी स्तर पर उतरेगी। जैसे इन्द्रियाँ अपने विषयों में पदसंचार करती हैं। मन उनके द्वारा अनुभूत सत्य का साक्षात्कार कर सकता है और वे मन का अनुसन्धान करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं क्योंकि वे उनसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म तथा व्यापक होता है। ऐसे ही बुद्धि, मन और ऐन्द्रिय व्यापारों का आनुभूतिक प्रत्यक्ष उपलब्ध कर सकती है पर इन्द्रियाँ और मन बुद्धि का प्रत्यक्ष नहीं कर सकती। ऐसे ही चित्त और विशुद्ध चित्त की भी सूक्ष्म, व्यापक और अनुभूति सघन सत्ता है। अनुसन्धानक्रम में इसलिए अनुभूति की सही सबसे अधिक अपेक्षित है। बुद्धि उस अनुभूति के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण तो कर सकती है, पर स्वयं अनुभूति की गाढ़ता उससे अधिक सूक्ष्म होती है। मन, हृदय की सघन अनुभूति और बुद्धि के द्वारा प्रतिस्थापित वैचारिक मूल्यों को कल्पना के सहारे ऐन्द्रिय स्तर पर उपलब्ध कराता है, किन्तु उसका यथातथ्य या सुविचारित या फिर सुविचारित रमणीय रूप प्रस्तुत करने में उसे अपने से पूर्ववर्ती पक्षों के ही सहारे चलना होता है। यह ठीक है कि लोक या काव्य की व्यापारोन्मुख अनुभूति में अन्यथा विनिवेश और भावानुप्रवेश की विभिन्न स्थितियों के लिए मन की कल्पना का विशेष महत्त्व तो है, फिर भी उसे अपने से पूर्ववर्ती हृदय और बुद्धि के व्यापारों से प्राप्त संकेतों को मूलाधार तो बनाना ही पड़ता है। इस प्रकार चित्त का विकासात्मक और विचारात्मक आनुभूतिक व्यापार अधिक प्रकाशमय और विश्वसनीय बुद्धि के द्वारा समर्थित होकर सुविचारित मन के द्वारा प्रस्तुत काल्पनिक बिम्बों और प्रतीकों के माध्यम से प्रतीति योग्य बनता है और प्रत्येक स्तर पर काव्यसत्य अधिक विचित्र, अधिक तर्कसंगत और अधिक आवर्जक रूप लेकर मनुष्य चित्त को आह्लादित करता है। इस रूप में काव्यसत्य का अपना विशेष महत्त्व है। यह भी मान लेने योग्य है कि प्रत्येक स्तर पर काव्यसत्य की स्थिति अधिक जीवन्तता को उजागर करेगी। इस रूप में अनुसन्धान करने वाले को काव्यसत्य की स्थूल स्थिति से सूक्ष्मस्तरीय स्थिति के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्वरूप का अनुसन्धान सुलभ होगा।

यह ठीक है कि मूल काव्यानुभूति अधिक सूक्ष्म व्यापक और सहृदय सम्बन्ध होती है, किन्तु अपनी अभिव्यक्ति के लिए आधार तो उसे स्थूल शब्द और अर्थ का ही लेना होता है। इतना अवश्य है कि वे शब्द और अर्थ रचनाकार की विशिष्ट प्रतिभा के कायल होते हैं। रचनाकार की प्रतिभा उनमें ऐसी चमत्कारिक शक्ति का आधान करती है कि शब्द सामान्य और अर्थ सामान्य में भी विशिष्ट भंगिमा का वैचित्र्य रचना की असामान्यता की ओर संकेत करने लगता है। इस रूप में काव्य के अभिव्यक्त प्रथम स्तर से लेकर उत्तरोत्तर वैचित्र्य की गहनता सहृदय चित्त को उस विशिष्ट संवेदनात्मक अनुभूति तक ले जाती है, जो कवि के हृदय के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

समानान्तर ही सहृदय चित्त के भी आस्वाद और आह्लाद का विषय बनती है। इस अर्थ में काव्य का शब्द और अर्थदृष्ट रूप में अनित्य होता हुआ भी कविगत शक्ति संस्पर्श से उस नित्यनूतन सामर्थ्य का आधार रूप ले लेता है, जिसके बारे में वैयाकरणों ने स्फोट के रूप में संकेत दिया है। यह स्फोट साहित्यशास्त्रीय पंडितों के मत में केवल वर्णों पदों और वाक्यों तक ही न होकर कमल की पंखुड़ियों की भांति उत्तरोत्तर गाढ़ सम्वेदनात्मक अनुभूतियों के रहस्य को भी उद्घाटित करने वाला होता है। इसीलिए मूल काव्यसत्य का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना होगा कि उसके शब्द और अर्थ के स्तर से ही मूलकाव्य सत्य का शक्तिवैचित्र्य अपना प्रभाव दिखलाना शुरू करता है। अतएव ऐन्द्रिय बिम्बों, प्रतीकों से आगे बढ़ने पर रचनाकार के द्वारा प्रतिस्थापित कल्पनाओं, विचारों और वस्तुसत्यों अनुभूतियों और विशुद्ध सम्वेदनात्मक अनुभूतियों के प्रत्येक स्तर पर उसी विभिन्न स्तरीय और उत्तरोत्तर गहन होती अनुभूतियों की तहों को विश्लेषित करते हुए मूलकाव्यसत्य के तत्त्व स्तर के स्वरूपों की ओर स्पष्ट संकेतों को उद्घाटित करते जाना पड़ेगा। जब तक उन स्तरों की अलग-अलग विशेषताओं का उद्घाटन न होगा मूल काव्यसत्य की सतहों का उचित विचार होना सम्भव नहीं। क्योंकि उसका प्रतिपद अन्वय तभी प्रमाणित हो सकता है, जब अनुसन्धानात्मक विश्लेषण का यही रास्ता अपनाया जाय।

भारतीय आलंकारिकों ने मूलकाव्यसत्य के उद्घाटन के क्रम में जिन सिद्धान्तों की स्थापना की थी, उनके विश्लेषण से साफ प्रकट है कि उन्होंने जिन जिन बिन्दुओं पर बहुत अधिक जोर दिया था, वे काव्य के लिए महत्त्वपूर्ण तो थे लेकिन उनमें से कोई एक सम्पूर्ण काव्य-परिधि के मूल रहस्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। वे काव्य के तत्त्व तो अवश्य थे किन्तु वे ही मात्र नहीं थे और उनमें से सर्वसम्मत रूप में किसी एक ऐसे सत्य का संकेत वे नहीं दे पाते थे, जो उन सब में अनुस्यूत हो और उन सबसे विलक्षण हो। उसका प्रतिनिधित्व न अलंकार सिद्धान्त करता था, न रीति, न ध्वनि, न ही औचित्य और न रस ही, क्यों कि ये अपनी-अपनी परिधियों में और आग्रहों से आबद्ध थे, जबकि मूलकाव्यसत्य को इन सब में होते हुए भी अलग से भी अपना अस्तित्व बनाये रखना था। इस रूप में जैसे वैयाकरण की दृष्टि में स्फोट समस्त शब्द समान्नाय का मूल तत्त्व है, वैसे ही चमत्कृति वह मूलतत्त्व हो सकता है, जो अलंकार में, रीति में, गुणों में, ध्वनियों में, वक्रोक्तियों में, औचित्य प्रकारों में और रस के विभिन्न प्रस्तारों में तो होगा ही साथ ही इनके बीच अनुस्यूत और इन्हें आन्तर और बाह्यरूप में अलंकृत करने वाले तत्त्वों में भी होगा। इस रूप में चमत्कृति का अपना एक विशिष्ट स्थान बनता है, जो वैचारिक समर्थन के सद्भाव से मूल काव्यसत्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

चमत्कृति का मूल काव्यसत्य के रूप में प्रतिस्थापन कोई अप्रत्याशित बात नहीं है। भारतीय काव्यशास्त्र की पूरी परम्परा में बहुत सारे ऐसे स्थल उपलब्ध हैं,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

जहाँ इसकी सामर्थ्य को जाने-अनजाने रेखांकित किया गया है। जब तक इससे अधिक व्यापक सूक्ष्म और समस्त काव्य प्रकार व्यापी किसी अधिक रहस्यात्मक तत्त्व का पता नहीं लगता। इसे मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। वास्तव में चित्त की विभिन्न वृत्तियों में संचरण करने के कारण चमत्कृति उसकी ऐसी अवस्था लगती है, जो दूसरी और वृत्तियों में होने के साथ-साथ चित्तविस्तार को भी उजागर करती है।

आचार्यों ने जिन तीन मुख्य चित्त वृत्तियों का उल्लेख किया है– द्रुति, दीप्ति और विस्तार, वास्तव में वे चित्त विस्तार की ही द्रवणशील, उद्दीप्त और अधिक आयाम में फैलने वाली स्थितियाँ हैं। अतएवं चमत्कृति विस्तार रूप में आचार्यों के द्वारा सांकेतिक होने पर भी द्रुति और दीप्ति को घेरने में समर्थ है। यह ठीक है कि चमत्कार की शाब्दिक व्युत्पत्ति की अपनी सीमा है जो कोशों, आप्त वाक्यों, व्यावहारिक स्थितियों, व्याकरणिक व्युत्पत्तियों आदि से उपलब्ध होकर उसे एक निश्चित अर्थ के घेरे में रखती है, लेकिन इसमें भी सन्देह नहीं है कि भाषाविज्ञान के अनुसार शब्दों का अर्थसंकोच और अर्थ विस्तार अपेक्षानुसार सम्भव है। अतएव मूल काव्यसत्य के सम्पूर्ण संकेतक शब्द के रूप में चमत्कृति को स्वीकार किये जाने के साथ-साथ उससे अदूती कतिपय उन परिधियों को भी उसके अर्थ विस्तार के द्वारा जहाँ तक सम्भव हो सके लेना होगा। ऐसा भारतीय साहित्यशास्त्र के पंडितों ने विभिन्न शास्त्रीय शब्दावलियों के लिए बराबर किया है अतएव यह कोई परम्परा विरुद्ध बात न होगी। अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति के मूल अर्थ कुछ सीमित ही थे, किन्तु उन्हें उन आचार्यों ने अर्थ विस्तार के द्वारा व्यापक सन्दर्भों में लेकर ही तो उन्हें सैद्धान्तिकता दी थी, फिर भी दूसरे और शब्दों की भांति चमत्कृति के सम्बन्ध में शायद उतनी खींचातानी नहीं करनी पड़ेगी। क्योंकि शास्त्रकारों ने उसे इस स्थापना से पहले ही सारे सिद्धान्तों के मूल रूप में किसी न किसी तरह चमत्कृति की सत्ता को स्वीकार तो किया ही है।

चमत्कृति शब्द से ही लगता है कि वह ऐसे दायरे की ओर संकेत करने वाला वर्ण समान्नाय है, जो अनुभूति का विषय तो बनता है, किन्तु शब्दों के माध्यम से उसके विस्तार को पकड़ पाना सरल नहीं। ऊपर जिन सूक्ष्म से स्थूल तक की बात की गई है, चमत्कृति उनमें भी प्रतिपद अनुस्यूत है, यह कहा जा चुका है किन्तु इतना और कह देना आवश्यक है कि चमत्कृति केवल भारत के अतीत के सिद्धान्तों का ही शाब्दिक मूल काव्यसत्य नहीं वर्तमान को एक देशीय और विदेशीय सिद्धान्त परम्पराओं का भी प्राण है। क्योंकि काव्य के जिन चार मूल तत्त्वों को विश्व स्तर पर स्वीकृति है। चमत्कृति उन भाव तत्त्व, विचारतत्त्व, कल्पना तत्व और शैलीतत्त्व इन सबके पीछे ऐसी क्षमता भरने वाला भाव अपने बीच रखती है कि उसके आलोक में न केवल भारतीय अपितु भारतीयेतर काव्य सिद्धान्तों का विश्लेषण सम्भव है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

१६
नायिका भेद
(प्रथम रीति कवि कृपाराम के विशेष संदर्भ में)

डॉ. राजकुमार सिंह

कृपाराम हिन्दी रीति साहित्य के आदि आचार्य हैं जिन्होंने सं० १५९८ वि० में एकमात्र ग्रंथ 'हिततरंगिणी' की रचना की। खोज– रिपोर्टों, इतिहास– ग्रंथों, शोध प्रबन्धों, आलोचनात्मक ग्रंथों और विभिन्न संप्रादनों– संग्रह ग्रंथों में उनके एक ही ग्रंथ 'हिततरंगिणी' का पता चलता है और अब अन्तः साक्ष्य तथा बहिर्साक्ष्य से यह भी सिद्ध ही गया है कि 'हिततरंगिणी' का रचनाकाल सं० १५९८ वि० ही है। अतः भाषा काव्य में कृपाराम का नायिका-भेद-विवेचन अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है।

नायिका-भेद-निरूपण की परम्परा में कृपाराम उन कवियों की श्रेणी में आते हैं, जिन्होंने श्रृंगार निरूपण के अन्तर्गत मात्र नायिका-भेद का ही विवेचन किया है। नायिका-भेद-परम्परा के समस्त भाषा कवि अपने पूर्ववर्ती संस्कृत आचार्यों के ऋणी हैं। कृपाराम भी इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने मुख्य रूप से 'नाट्यशास्त्र' (भरतमुनि) और 'रसमंजरी' (भानुदत्त मिश्र) का आधार ग्रहण किया है।

आधार

'हिततरंगिणीकार' कृपाराम भरतमुनि और भानुदत्त से विशेष रूप से प्रभावित हुए हैं। प्रश्न उठता है कि हिततरंगिणीकार ने 'नाट्यशास्त्र' और 'रसमंजरी' का ही आधार क्यों ग्रहण किया? उत्तर स्पष्ट है कि 'नाट्यशास्त्र' का आधार कृपाराम ने इसलिए ग्रहण किया कि वह इस विषय का सबसे पूर्ण एवं प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ है, भले ही नायिका-भेद की सामग्री उसमें इधर-उधर बिखरी हुई है। 'रसमंजरी' का आधार कृपाराम ने इसलिए लिया, क्योंकि संस्कृत नायिका-भेद साहित्य में 'रसमंजरी' ही एक ऐसा ग्रंथ है, जो विवेचन की पूर्णता की दृष्टि से भी स्वतः पूर्ण है।

नाट्यशास्त्र और हिततरंगिणी

कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' में स्पष्ट संकेत किया है कि अपनी रचना में उन्होंने 'नाट्यशास्त्र' का अवलम्बन लिया है–

१. 'कृपाराम यों कहत हैं, भरत ग्रंथ अनुमानि।'

२. 'ताहि प्रलाप कहै सुकवि भरत ग्रंथ अनुमानि।

अब देखना यह है कि हिततरंगिणीकार ने किस रूप में और कहाँ तक 'नाट्यशास्त्र' का अनुगमन किया है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आचार्य भरतमुनि ने नायिकाओं का भेद निरूपण आठ प्रकार से किया है। इन आठ भेदों में से हिततरंगिणीकर जातिगत शील के आधार पर और राज प्रासादों में निवास करने वाली रमणियों के आधार पर किये गये नायिका-भेद को अपने नायिका-भेद विवेचन में सम्मिलित नहीं किया है। इनके अतिरिक्त कृपाराम ने लगभग अन्य सभी भेदों को निम्नलिखित तीन भेदों में समाहित कर दिया है।

१. लोक लीक के अनुसार।

२. उत्तमादि भेद।

३. अवस्थानुसार।

भरतमुनि ने सामाजिक आचार व्यवहार के आधार पर नायिकाओं के तीन भेद– 'बाह्या', 'अभ्यंतरा' और 'बाह्याभ्यंतरा' किये हैं। 'बाह्या' को 'वेश्या', 'अभ्यन्तरा' को 'कुलीना' तथा 'बाह्याभ्यंतरा' को 'कृतशौचा' की संज्ञा देते हुए इसके (बाह्याभ्यन्तरा के) 'कुलजा' और 'कन्यका' दो भेद किये हैं।[1] सम्भवतः कृपाराम ने 'बाह्या' 'अभ्यन्तरा' और 'बाह्याभ्यन्तरा' को क्रमशः 'वेश्या' (सामान्या), स्वकीया' और 'परकीया' नामों से अभिहित किया है।

प्रकृति के अनुसार भरतमुनि नायिकाओं के 'उत्तम', 'मध्यम' और 'अधम' तीन भेद किये हैं।[2] यही भेद कृपाराम ने तथा अन्य नायिका-भेद विवेचक आचार्यों ने भी किये हैं।[3]

अवस्थानुसार भरतमुनि ने नायिकाओं के आठ भेद किये हैं।[4] परन्तु हिततरंगिणीकार ने इन आठ भेदों के अतिरिक्त दो अन्य भेद 'प्रवत्स्यत्पतिका' और 'स्वागत पतिका' भी किये हैं। इस प्रकार उन्होंने अवस्थानुसार नायिकाओं के दस भेद माने हैं।[5]

गुण धर्म के आधार पर 'नाट्यशास्त्र' में 'दिव्या', 'नृपपत्नी', 'कुलस्त्री' और 'गणिका' नायिकाओं का उल्लेख हुआ है।[6]

इसी प्रसंग में 'धीरा', 'ललिता', 'उदात्ता' और 'विभृता' का उल्लेख मिलता है। साथ ही 'कुलजा', 'गणिका' और 'प्रेष्या' का भी कथन हुआ है।[7] ये तीन भेद 'स्वीया', 'सामान्या' और 'परकीया' किसी न किसी रूप में मान्य हैं। हिततरंगिणी' में उक्त सभी भेदों का उल्लेख नहीं मिलता।

रति प्रसंग में भेदक गुण धर्मों के आधार पर भरतमुनि ने नायिकाओं के तीन भेद किये हैं– 'मदनातुरा', 'अनुरक्ता' और विरक्ता।[8] इसी क्रम में उन्होंने नायिकाओं के 'लुब्धा', 'पंडिता', 'चतुरा', 'पुरुष द्वेषिणी', 'बाला', 'गर्विता' और 'उदात्ता' का भी उल्लेख किया है।[9] कृपाराम ने उक्त सभी भेदों में से 'गर्विता' का उल्लेख तो स्पष्ट रूप से किया है, साथ ही कुछ अन्य नायिकाओं का विवेचन भी परिवर्तित रूप में 'हिततरंगिणी' में मिलता है।

इस प्रकार कृपाराम ने अपने नायिका-भेद-विवेचन में 'नाट्यशास्त्र' का आधार अवश्य लिया है– परन्तु उनका नायिका-भेद-विवेचन 'नाट्यशास्त्र' से पर्याप्त भिन्न

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है।

(ख) रसमंजरी और हिततरंगिणी

'हिततरंगिणी' पर 'रसमंजरी' का प्रभावसर्वत्र छाया हुआ दिखाई पड़ता है, फिर भी वह 'रसमंजरी' की अनुकृति मात्र नहीं कही जा सकती। कृपाराम ने उसमें अपना स्वतंत्र और मौलिक चिंतन भी प्रस्तुत किया है। कृपाराम की मौलिकता के विवेचन के निमित्त 'रसमंजरी' और 'हिततरंगिणी' में वर्णित नायिका-भेद पर एक तुलनात्मक दृष्टि डाल लेना प्रासंगिक होगा।

'रसमंजरी' में सामाजिक आचार-व्यवहार के आधार पर नायिकाओं के 'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' भेद किये हैं। कृपाराम ने भी इन्हीं भेदों को स्वीकार किया है।[१०] कृपाराम द्वारा किये गये उपभेदों में भी 'रसमंजरी' से काफी समानता है; परन्तु उन्होंने 'नवोढ़ा' के 'ललिता' और 'उदितयौवना' नये अवान्तर भेद निर्धारित किये हैं।[११]

'रसमंजरी' में 'मध्या' का दूसरा नाम 'अतिविश्रब्ध नवोढ़ा' दिया गया है। 'मुग्धा' नायिका के भेद 'विश्रब्धनवोढ़ा' में जब प्रिय या पति के प्रश्रय या विश्वास का अधिरूप हो जाता है, तब उसे 'अतिविश्रब्धनवोढ़ा' कहते हैं।[१२] कृपाराम ने मध्या के दो भेद किये हैं– 'साधारण मध्या' और 'अतिविश्रब्धनवोढ़ामध्या'।[१३]

रसमंजरीकार ने चेष्टा के अनुसार 'प्रौढ़ा' नायिकाओं के दो भेद– 'रतिप्रीतिमती' और 'आनन्दमत्ता' किये हैं। कृपाराम ने इन्हीं भेदों को स्वीकार कर लिया है।[१४]

प्रिय प्रेम की न्यूनता एवं आधिक्य के आधार पर जहाँ रसमंजरीकार ने 'ज्येष्ठा' और 'कनिष्ठा' दो भेद किये हैं। वहाँ कृपाराम ने इन दो भेदों के अतिरिक्त एक तीसरा भेद 'समस्नेहिका' (समहिता) भी किया है।[१५]

'रसमंजरी' और 'हिततरंगिणी' के धीरादिक भेदों में पर्याप्त अन्तर है। रसमंजरीकार ने केवल 'स्वकीया' नायिका के 'मध्या' और 'प्रगल्भा' भेदों में ही धीरादि भेदों का विवेचन किया है। परन्तु कृपाराम ने 'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' सभी में धीरादिक भेद किये हैं। 'हिततरंगिणी' में धारादिक नायिकाओं का विवेचन 'रसमंजरी' की अपेक्षा अधिक विस्तृत और मौलिकता लिए हुए है।

भानुदत्त और कृपाराम दोनों ने ही 'परकीया' के दो भेद– 'कन्यका' और 'परोढ़ा' किये हैं।[१६] परन्तु कृपाराम ने परोढ़ा (ऊढ़ा) के दो उपभेद– 'परब्याही' और 'परप्यारी' भी किये हैं।[१७] रसमंजरी में ये उपभेद नहीं मिलते। रसमंजरीकार ने 'परोढ़ा' नायिका के छः भेद 'गुप्ता', 'विदग्धा', 'लक्षिता', 'कुलटा', 'अनुशयना' और 'मुंदिता' किये हैं। पुनः गुप्ता के तीन– 'वृत्तसुरतगोपना', 'वर्तिष्यमाणसुरतगोपना' और 'वृत्तवतिष्यमाण सुरतगोपना' तथा 'विदग्धा' के दो– 'वाग्विदग्धा' और 'क्रिया विदग्धा' तथा 'अनुशायना' के तीन– 'प्रथम', 'द्वितीय' एवं 'तृतीय', भेद किये हैं।[१८] 'हिततरंगिणी' में ये भेद 'परकीया' के स्वतंत्र भेदों के रूप में वर्णित हैं। कृपाराम ने 'रसमंजरी' के उक्त भेदों के अतिरिकत 'स्वयंदूती' नामक सातवाँ भेद भी किया

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है।[१९] पुनः लक्षिता के तीन भेद– 'क्रियालक्षिता' 'वचनलक्षिता', और 'प्रत्यक्ष लक्षिता' किये हैं।[२०] 'रसमंजरी' में ये उपभेद नहीं मिलते हैं। इसी प्रकार कृपाराम ने गुप्ता के 'भूतसुरतगोपना', 'भविष्यसुरतगोपना', 'वर्तमान सुरतगोपना', 'भूत भविष्य सुरत गोपना' और 'ध्वनि गोपना' नामक पाँच उपभेद किये हैं।[२१] जबकि 'रसमंजरी' में तीन ही भेद मिलते हैं। 'हिततरंगिणी' में 'परकीया' के अन्तर्गत भी 'रतिप्रिया' और 'आनन्दमत्ता' नामक दो भेदों का निरूपण किया गया है।[२२] 'रसमंजरी' में इन भेदों की भी परिकल्पना नहीं है।

'रसमंजरी' में 'सामान्या' नायिका के कोई उपभेद नहीं किये गये हैं; लेकिन 'हिततरंगिणी' में 'सामान्या' के भी 'मुग्धा' 'मध्या' और प्रौढ़ा भेद उपलब्ध होते हैं।[२३]

दशा के अनुसार 'रसमंजरी' में 'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' नायिकाओं के तीन भेद– 'अन्यसंभोगदुखिता' 'वक्रोक्ति गर्विता' और 'मानवती' किये गये हैं।[२४] 'हिततरंगिणी' में इन सभी का– विवेचन पर्याप्त मौलिकता के साथ हुआ है। कृपाराम ने 'वक्रोक्तिगर्विता' भेद न कर 'गर्विता' नामक भेद किया है और इस गर्विता के 'वक्रोक्तिगर्विता' एवं 'सरलोक्तिगर्विता' नामक दो भेदों का उल्लेख किया है। पुनः इन भेदों के तीन-तीन अवान्तर भेद– 'गुणगर्विता' 'रूपगर्विता' और 'प्रेमगर्विता' का निरूपण किया है।[२५] गर्विता विवेचन 'रसमंजरी' में बहुत संक्षिप्त है, जबकि 'हिततरंगिणी' में यह अत्यधिक विस्तृत तथा 'रसमंजरी' से बिलकुल भिन्न है।

'रसमंजरी' में अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ भेद– 'प्रोषितपतिका', 'खण्डिता', 'कलहान्तरिता,' 'विप्रलब्धा', 'उत्का', 'वासरसज्जा', 'स्वाधीनपतिका' और 'अभिसारिका' किये गये हैं।"[२६] इन भेदों के विवेचन के उपरान्त 'रसमंजरी' में नवें भेद 'प्रवत्स्यत्पतिका' का भी उल्लेख मिलता है।[२७] 'हिततरंगिणी' में उपरोक्त नौ भेदों के अतिरिक्त दसवें भेद 'स्वागत पतिका' की भी परिकल्पना की गयी है।[२८] 'रसमंजरी' का पद विवेचन कुछ विस्तृत है। भानुदत्त ने प्रत्येक के लक्षण देने के उपरान्त 'मुग्धा' 'मध्या', 'प्रौढ़ा', 'परकीया' और 'सामान्या' के उदाहरण भी दिये हैं; जबकि कृपाराम ने प्रत्येक के लक्षण और चेष्टा का उल्लेख करने के बाद 'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' के ही उदाहरण दिये हैं। उन्होंने 'स्वकीया' के उपभेदों 'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रौढ़ा' के अलग-अलग उदाहरण नहीं दिये हैं।

नायिका-भेद विवेचन के बाद रसमंजरीकार ने 'सखी' एवं 'दूती' के लक्षण एवं कार्यों आदि का वर्णन किया है लेकिन हिततरंगिणीकार ने अपने नायिका-भेद विवेचन के पूर्व ही 'सखी' एवं 'दूती' का वर्णन किया है।

'रसमंजरी' और 'हिततरंगिणी' के उपर्युक्त तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कृपाराम का नायिका भेद उनकी मौलिक उद्‌भावनाओं से अलंकृत है और विद्वानों की यह धारणा कि 'हिततरंगिणी' 'रसमंजरी' की अनुकृति है, सत्य नहीं कही जा सकती। 'हिततरंगिणी' का मूलाधार मात्र रसमंजरी ही नहीं है।, उसमें नायिका-भेद सम्बन्धी पूर्ववर्ती साहित्य और कृपाराम के अपने चिंतन-मनन का भी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

योग रहा है।

कृपाराम का नायिका-भेद

सभी रसों में श्रृंगार रसराज है और इस रसराज के सार दंपति हैं। दंपत्ति में भी रस की दृष्टि से नायिका का प्रमुख स्थान है। इसी तथ्य को कृपाराम ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।–

नूतन रुचिकर 'जुगल छबि, प्रथम बरनिए काहि।
प्रभुतना की अति भावती, बरन राधिके वाहि। ।१/१३//

नायिका से अभिप्राय उस युवती से है, जो गुण, स्वरूप की धाम हो, अत्यन्त विचित्र गुणों से युक्त हो तथा जिसके अतिहित को देखकर घनश्याम (नायक) सहज रूप से आकर्षित हो जाये–

अति विचित्र मति आगरी, गुण सरूप की धाम।
नूतन बय हित प्रौढ़तर, लखि मोहे घनस्याम। ।१/१४//

ऐसे गुणों से युक्त नायिकाओं का भेद निरूपण कृपाराम ने इस प्रकार किया है।

कृपाराम ने लोक-लीक या सामाजिक आचार-व्यवहार के आधार पर नायिकाओं के 'स्वीयार', 'परकीया' तथा 'बारबूधू' (सामान्या) भेद किये हैं।

तीन भेद नारीन के लोक लीक ते जानि।
स्वीया परकीया सुपुनि बारबधू पहिचानि। ।१/१६//

पुनः कृपाराम ने वय के अनुसार 'स्वकीया' के तीन भेद– 'मुग्धा' 'मध्या' और 'प्रौढ़ा' (प्रगल्भा) किये हैं।

कृपाराम ने इन भेदों में 'मुग्धा' के चार 'अज्ञातयौवना' 'ज्ञातयौवना' 'नवोढ़ा' और 'विश्रब्धनवोढ़ा' पुनः 'नवोढ़ा' के तीन– 'ललिता', 'वयःसन्धि' और 'उदितयौवना' अवान्तर भेद किये हैं।[२६]

अपने यौवनागमन का बोध न होने पर, 'मुग्धा' नायिका 'अज्ञात यौवना' होने पर 'ज्ञात यौवना' प्रणयानन्द को सुनकर डरने वाली और यौवन को देखकर उल्लसित होने वाली 'नवोढ़ा' और पति के प्रति किंचित विश्वास प्राप्त करने वाली 'विश्रब्ध नवोढ़ा' कहलाती है।

यौवन के प्रथमागमन से प्रफुल्लित, उल्लसित और सुन्दर वर्ण वाली चांचल्य युक्त नायिक 'ललिता', यौवन और शिशुता दोनों के बीच झूलने वाली 'वयःसन्धि' तथा जिसमें रंचक शिशुता की झलक है, यौवन पूर्ण रूप से उभर आया हो वह 'उदितयौवना' कहलाती है।

कृपाराम ने 'मध्या' नायिका के दो भेद 'साधारण मध्या' और 'अति विश्रब्ध नवोढ़ा मध्या' किये हैं। 'साधारण मध्या' में लज्जा और काम का समान अधिकार होता है; परन्तु 'अति विश्रब्धनवोढ़ा मध्या' नायिका में पति के प्रति पूर्ण विश्रब्ध हो जाने के कारण लज्जा का क्षीण रूप ही दिखलाई देता है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'स्वीया' के तीसरे भेद 'प्रौढ़ा' के भी कृपाराम ने दो भेद 'रति प्रिया' और 'आनन्दमत्ता' किये हैं।[३०] 'रति प्रिया' नायिका रति प्रिय होती है, वह प्रणय के समय अनेक प्रकार की चांचल्यपूर्ण क्रियाएँ तथा विविध प्रकार के सुरत भेदों की रचना करती है। लेकिन 'आनन्दमत्ता' नायिका काम से अत्यधिक तापित होने के कारण सुरतारम्भ में ही अपनी सुधि-बुधि खो बैठती है।

कृपाराम ने 'स्वकीया' नायिका के पति प्रेम के आधार पर तीन भेद 'ज्येष्ठा', 'कनिष्ठा' और 'समहिता' (समस्नेहिका) किये हैं—

अतिहित समहित न्यूनहित होत सुकीया नारि।
परकीयादिक में नहीं होत स्वे भेद बिचारि।।
अति हित पति जासौ करै, बधू ज्येष्ठिका होइ।
ऊन कनिष्ठा समहिते, समस्नेहिका होई।।[३१]

कृपाराम ने परकीया नायिका के दो भेद 'ऊढ़ा' और 'अनूढ़ा' किये हैं। पुनः उन्होंने 'ऊढ़ा' के दो प्रभेद 'पर ब्याही' और 'पर प्यारी' का उल्लेख किया है।[३२] पर पुरुष से प्रेम करने वाली अविवाहित नायिका 'अनूढ़ा' कहलाती है तथा परपुरुष से प्रेम करने वाली विवाहित नायिका 'परोढ़ा' कहलाती है। उपपति के प्रेम के कारण पति से कपट करने वाली नायिका 'पर प्रिया परोढ़ा' तथा आसवादि अस्त्रों का प्रयोगकर किसी प्रकार से 'परप्यारी' उपपति के निकट पहुँचकर 'पर विवाहिता' की संज्ञा पाती है।

उपर्युक्त भेदों के विवेचन के बाद कृपाराम ने 'हिततरंगिणी' में परकीया के सात भेद किये हैं, जो इस प्रकार हैं— 'लक्षिता', 'मुदिता', 'विदग्धा', 'स्वयंदूती', 'अनुशयना' तथा 'सुरतगोपना'। पुनः 'लक्षिता' के तीन— क्रियालक्षिता', 'वचन लक्षिता' और 'प्रत्यक्ष लक्षिता', 'विदग्धा' के दो— 'क्रिया विदग्धा' और 'वाक् विदग्धा', 'स्वयंदूती अनुशयना' के तीन— 'प्रथम भेद चेष्टा', 'द्वितीय भेद चेष्टा' और 'तृतीया भेद चेष्टा' तथा गुप्ता के पाँच— 'भूतसुरत गोपना', 'भविष्यसुरतगोपना', 'भूतभविष्य सुरतगोपना', 'वर्तमान सुरत गोपना' और 'ध्वनिगोपना' भेद किये हैं। 'स्वयंदूती' नायिका की 'मर्मग्रहण', 'विरहनिवेदन' और 'संघटन' आदि चेष्टाओं का भी उल्लेख हुआ है।

अपनी प्रीति को दूसरों के द्वारा कहते हुए सुनने वाली नायिका 'लक्षिता' कहलाती है। जिस 'लक्षिता' नायिका के प्रेम को उसकी क्रियाओं के माध्यम से लक्षित किया जाय वह 'क्रिया लक्षिता' और जिसके वचनों के द्वारा उस पर पुरुष लक्षित किया जाय वह 'वचन लक्षिता' तथा नायक के साथ प्रेम-क्रीड़ा करते हुए प्रत्यक्ष देख ली जाने वाली नायिका 'प्रत्यक्ष-लक्षिता' कहलाती है। इसी प्रकार से जब ये परकीया नायिकाएँ अपने प्रेम-व्यापार का गोपन करती हैं। तो 'क्रिया लक्षण गोपना', 'वचन लक्षणगोपना' और 'प्रत्यक्ष लक्षण गोपना' की संज्ञा पाती हैं।

प्रिय प्रेम के लिए क्रियाओं और वचनों की चतुरता रचने वाली नायिका

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'विदग्धा' या 'चतुरा' कहलाती है। इसी आधार पर इसके दो उपभेद– 'वाद विदग्धा' और 'क्रिया विदग्धा' किये हैं।

'कुलटा' की गणना अनेक आचार्यों ने 'परकीया' के अन्तर्गत की है। वास्तव में 'कुलटा' 'परकीया' नहीं है। इसकी गणना अन्यत्र 'सामान्या' आदि के अन्तर्गत करनी चाहिए 'कुलटा' और 'सामान्या' में मुख्य भेद यह है कि 'सामान्या' में अर्थ प्रधान होता है; परन्तु 'कुलटा' में अर्थ प्रधान नहीं होता, वह स्वेच्छानुसार जन-जन के साथ रति क्रीड़ा करती फिरती है। 'कुलटा' निरन्तर रति क्रीड़ानन्द में मग्न रहती है।

बिना किसी प्रयास के संकेत स्थल पर प्रेमी को पाकर प्रसन्न होने वाली 'मुदिता' कहलाती है। दूती के न होने पर स्वयं दूती का कार्य करने वाली नायिका 'स्वयं दूती' कहलाती है। संकेत स्थल पर प्रिय को न पाकर (प्रथम भेद चेष्टा) अथवा संकेत को नष्ट होते जानकर (द्वितीय भेद चेष्टा) अथवा संकेत स्थल के निश्चित न होने के कारण (तृतीय भेद चेष्टा) दुःखित होने वाली नायिका 'स्वयंदूती अनुशयना' कहलाती है।

नायक के साथ हुए सुरत (भूत सुरतगोपना), होने वाले सुरत (भविष्य सुरतगोपना) तथा भूत और भविष्य दोनों के सुरत चिह्नों (भूतभविष्य सुरत गोपना) वर्तमान के सुरत (वर्तमान सुरत गोपना) और रति समय में होने वाली ध्वनि (ध्वनि सुरत गोपना) का गोपन करने वाली नायिका 'सुरत गोपना' कहलाती है।

आचार्य कृपाराम ने 'परकीया' के भी दो भेद 'रतिप्रिया' और 'आनन्दमन्ता' अनिर्देशित भेद किये हैं। ये भेद समस्त परकीया विवेचन के अन्त में किये गये हैं।

कृपाराम ने सामान्या नायिका के भी 'मुग्धा', 'मध्या' और 'प्रौढ़ा' भेदों का विवेचन किया है। पुनः 'मुग्धा' के 'अज्ञात यौवना', 'ज्ञात यौवना', 'नवोढ़ा' और 'विश्रब्धनवोढ़ा' भेद भी 'हिततरंगिणी' में वर्णित हैं।

प्रकृति के अनुसार कृपाराम ने नायिकाओं के 'उत्तमा', 'मध्यमा' और 'अधमा' तीन भेद किये हैं। ज्ञातव्य है कि कृपाराम ने केवल 'स्वकीया' नायिकाओं में इन तीनों भेदों का विवेचन किया है। 'परकीया' में केवल उत्तमा का ही वर्णन है। 'सामान्या' में ये भेद नहीं किये गये हैं।

उत्तमादि भेदों के अनन्तर कृपाराम ने मान के तीन रूपों– 'लघु', 'मध्य' और 'गुरु' का विवेचन करते हुए मान-मोचन की विधियों का उल्लेख किया है। पुनः उन्होंने 'मुग्धा' मान के लक्षण, 'मध्या' तथा 'प्रौढ़ा' और 'परकीया' एवं 'सामान्या' के तीनों मान रूपों के उदाहरणं प्रस्तुत किये हैं।

'हिततरंगिणी' में मान-विवेचन के बाद धीरादिक तीन भेदों– 'धीरा', 'अधीरा' और 'धीराधीरा' का विवेचन किया है। ये धीरादिक भेद 'मध्या', 'प्रौढ़ा' 'परकीया' एवं 'सामान्या' में भी किये गये हैं। नायक द्वारा अपराध किये जाने पर अपने क्रोध को सीधे प्रकट न कर व्यंग्य वचनों का प्रहार करने वाली नायिका 'धीरा' नायक पर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सीधे कुठाराघात करने वाली नायिका 'अधीरा' तथा दोनों विधियों का प्रयोग करने वाली नायिका 'धीराधीरा' कहलाती है।

कृपाराम ने 'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' के दो अन्य भेद– 'अन्यसंभोगदुखिता' और 'गर्विता' किये हैं। इसके बाद उन्होंने गर्विता के दो उपभेदों 'सरलोक्तिगर्विता' और 'वक्रोक्ति गर्विता' तथा इनके भी तीन-तीन अवान्तर भेदों– 'रूप गर्विता', 'गुणगर्विता' और 'प्रेम गर्विता' का विवेचन किया है। वह नायिका जो अपने पति के रति चिह्नों को अन्य रमणी के शरीर पर देखकर दुःखित होती है, 'अन्यसंभोग दुःखिता' कहलाती है। जिस नायिका को अपने पति के अतिशय प्रेम का गर्व हो वह 'प्रेमगर्विता', जिसे अपने रूप का गर्व हो वह 'रूपगर्विता' तथा जिसे अपने गुणों का गर्व हो वह 'गुण गर्विता' कहलाती है।

'हिततरंगिणी' के अन्त में अवस्थानुसार नायिका भेद किया गया है। कृपाराम ने अवस्थानुसार नायिकाओं के दस भेद 'स्वाधीन पतिका', 'वासकसज्जा', 'उत्का', 'अभिसारिका', 'विप्रलब्धा', 'खंडिता', 'कलहांतरिता', 'प्रवत्स्यत्पतिका', 'प्रोषितभर्तृका' और 'स्वागतपतिका' किये हैं। जिस नायिका का पति 'मनसावाचाकर्मणा' उसके आधीन हो, वह पूर्ण रसमयी नायिका 'स्वाधीनपतिका' कहलाती है। प्रिय का निश्चित आगमन जानकर साज-श्रृंगार करने वाली नायिका 'वासकसज्जा' होती है। संकेत स्थल पर प्रिय के न आने के कारण अज्ञात कारण के प्रति चिंतित होने वाली नायिका 'उत्का' कहलाती है। केलि के लिए प्रिय के पास जाने वाली अथवा प्रिय को अपने पास बुलाने वाली नायिका 'अभिसारिका' की संज्ञा पाती है। कृपाराम ने प्रत्यक्ष रूप से 'अभिसारिका' के उपभेद नहीं किये हैं; लेकिन उनके उदाहरणों के आधार पर उसके दो भेद 'ज्योत्स्नाभिसारिका और 'तमाभिसारिका' स्वीकार किये जा सकते हैं। संकेत स्थल पर प्रिय को न देखकर क्रोधित होने वाली नायिका 'विप्रलब्धा' होती है। नायक के शरीर पर स्त्री संभोग के चिह्नों को देखकर दुखित होने वाली नायिका 'खंडिता' कहलाती है। नायक का अनादर करने के बाद स्वयं ही अपने किये पर पश्चाताप करने वाली नायिका 'कलहांतरिता' होती है। जिसका पति अग्रिम क्षणों में देशान्तर जायेगा, वह नायिका 'प्रवत्स्यत्पतिका' की संज्ञा से अभिहित की जाती है और जिसका प्रिय नायिका को छोड़कर विदेश चला गया हो, ऐसी अवस्था वाली नायिका 'प्रोषितभर्तृका' कहलाती है। प्रिय आगमन से प्रसन्न होने वाली 'स्वागतपतिका' होती है।

दस नायिका भेद की क्रमबद्धता

संस्कृताचार्यों में भरत, धनंजय, विश्वनाथ आदि ने अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ भेद किये हैं। आचार्य कृपाराम ने इनकी संख्या दस तक बढ़ा दी है, जो उनके परवर्ती आचार्यों द्वारा भी स्वीकार की गयी है।

अवस्थानुसार नायिका-भेद-वर्णन में एक निश्चित क्रम का अभाव दिखाई पड़ता है। नायिका भेद के आदि आचार्य भरत मुनि का क्रम है– 'वासकसज्जा',

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'विरहोत्कंठिता', 'स्वाधीनपतिका', 'कलहांतरिता', 'खंडिता', 'विप्रलब्धा', 'प्रोषितभर्तृका' और 'अभिसारिका'। इस प्रकार भानुदत्त का क्रम है– प्रोषितपतिका', 'खण्डिता', 'कलहान्तरिता', विप्रलब्धा, 'उत्का' 'वासकसज्जा', 'स्वाधीनपतिका' और 'अभिसारिका'। इस क्रम में नवाँ भेद 'प्रवत्स्यत्पतिका' भी माना गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस क्रम से विवेचन में एक वैज्ञानिक क्रमिकता का अभाव है। यह विवेचन नायिकाओं की क्रमशः विकसित मनोदशा के अनुकूल नहीं है। आचार्य कृपाराम ने यह विवेचन इस क्रम से प्रस्तुत किया है– 'स्वाधीनपतिका', 'वासक सज्जा', 'उत्का', 'अभिसारिका', 'विप्रलब्धा', 'खण्डिता', 'कलहांतरिता', 'प्रवत्स्यत्पतिका', 'प्रोषितभर्तृका' और 'स्वागतपतिका'। मनोविज्ञान के अनुसार इसी क्रम से ही एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी आदि अवस्थाएँ आयेंगी। 'हिततरंगिणी' के साक्ष्य में निम्न विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

सर्वप्रथम नायक-नायिका के रूप, गुण, यौवन और प्रेम आदि के कारण नायिका के वश में हो जाता है, ऐसी स्थिति में नायिका 'स्वाधीनपतिका' कहलाती है। वशीभूत नायक से मिलने के लिए नायिका विभिन्न साजों की रचना करती है, ऐसी दशा में 'वासकसज्जा' कहलाती है। साज-श्रृंगार कर नायिका द्वार से झांक-झांककर नायक की प्रतीक्षा करती है। परन्तु नायक के न आने पर दुखी होती है, ऐसी अवस्था वाली नायिका उत्का कहलाती है। नायक के न आने पर नायिका स्वयं अकेले या दूती, सखी के साथ नायक से मिलने के लिए जाती है। इस प्रकार अभिसार करने वाली नायिका 'अभिसारिका' कहलाती है। नायिका गुरुजनों की लज्जा को त्यागकर तथा समयानुसार भेष धारण कर नायक से मिलने जाती है, पर नायक संकेत स्थल पर नहीं मिलता, तब नायिका अत्यधिक दुखित और कुपित होती है। ऐसी अवस्था वाली नायिका 'विप्रलब्धा' कहलाती है। नायक नायिका से मिलने के लिए व्याकुल रहती है, उधर नायक अन्य स्त्री संभोग में रत रहता है और प्रातः परदारा संसर्ग चिह्नों से युक्त नायिका के पास आता है। नायक के ऐसे चलन को देखकर नायिका ईर्ष्या से भर उठती है और अपने मान का खण्डन समझती है। ऐसी दशा वाली तरुणी 'खण्डिता' कहलाती है। नायक के पर दारा संसर्ग के कारण नायिका उसका अपमान करती है, नायक अपमानित होकर सरोष रुष्ट होकर चला जाता है। पुनः नायिका अपने किये पर पश्चाताप कर प्रिय मिलन के लिए व्याकुल होती है, ऐसी अवस्था वाली नायिका 'कलहांतरिता' कहलाती है। अपमान को प्राप्त कर अथवा अन्य किसी कार्य वश नायक विदेश जाना चाहता है। नायिका होने वाले प्रिय वियोग के धारण अत्यधिक दुखी होती है और उसके विदेश गमन में बाधा उत्पन्न करती है, ऐसी अवस्था वाली नायिका 'प्रवत्स्यत्पतिका' की संज्ञा से अभिहित की जाती है। अन्त में नायक विदेश चला ही जाता है, जिससे नायिका विरहाग्नि में जलती रहती है। ऐसी अवस्था वाली विरहिणी नायिका 'प्रोषितपतिका' कही जाती है। नायक एक दिन बसन्त ऋतु जानकर आ जाता है, ऐसी दशा में 'नायिका'

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

के हर्षोल्लास की सीमा नहीं रहती है, इस अवस्था वाली नायिका को 'स्वागतपतिका' कहते हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नायिका में ऐसी सभी अवस्थाएँ घटित ही होती हैं, परन्तु विवेचन की दृष्टि से उपर्युक्त क्रम सटीक एवं तर्क संगत प्रतीत होता हो। यदि 'प्रवत्स्यत्पतिका' के बाद 'स्वागतपतिका' का विवेचन किया जाय तो निश्चय ही वर्णन की अक्रमिकता कही जायेगी। 'प्रवत्स्यत्पतिका', 'प्रोषितपतिका' के अनन्तर 'स्वागतपतिका' का क्रम की उचित है। इस प्रकार कृपाराम का दस नायिका भेद विवेचन क्रमिक एवं वैज्ञानिक है।

इस सम्बन्ध में श्री प्रभुदयाल मीतल का मत है– "जब हमने अपने क्रम का मिलान रसलीन के क्रम से किया तो उससे मिल गया। संस्कृत और ब्रजभाषा के समस्त क्रमों में यही एक ऐसा क्रम है– जो हमारे विचारानुसार विकसित मनोदशा को पूर्णरूप से व्यक्त कर सकता है।"[३२] वे आगे लिखिते हैं– "अतः यह मानना चाहिए कि सर्वप्रथम रसलीन ने ही नायिकाओं का क्रमबद्ध कथन किया था।"[३३] वस्तुतः मीतल जी का यह कथन कि रसलीन ने ही सर्वप्रथम क्रमबद्ध विवेचन किया था, कृपाराम के दस नायिका-भेद विवेचन को देखते हुए गलत कहा जायेगा। रसलीन ने अपनी नायिका-भेद सम्बन्धी ग्रंथ की रचना सं० १६६६ में की थी।[३४] कृपाराम ने उससे पूर्व सं० १५६८ में। इस प्रकार कृपाराम लगभग २०० वर्ष पूर्व ही नायिकाओं का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत कर चुके थे। रसलीन वस्तुतः कृपाराम के ऋणी हैं। दोनों के नायिका-भेद-विवेचन के क्रम के तुलनात्मक अध्ययन से यह भली-भांति सिद्ध हो जायेगा–

रसलीन		कृपाराम
१. स्वाधीनपतिक	–	स्वाधीनपतिका
२. वासकसज्जा	–	वासक सज्जा
३. उत्कंठिता	–	उत्का
४. अभिसारिका	–	अभिसारिका
५. विप्रलब्धा	–	विप्रलब्धा
६. खंडिता	–	खंडिता
७. कलहान्तरिता	–	कलहान्तरिता
८. प्रवत्स्यत्पतिका[३५]	–	प्रवत्स्यत्यपतिका
६. प्रोषितपतिका	–	प्रोषितभर्तृका
१०. आगतपतिका	–	स्वागत पतिका

उपर्युक्त तुलनात्मक सारिणी से दोनों का क्रम एक ही है। अतः कृपाराम ही वे पहले आचार्य हैं, जिन्होंने अवस्थानुसार नायिका-भेद का क्रमबद्ध विवेचन प्रस्तुत किया।

'कलहान्तरिता' के विवेचन के बाद रसलीन ने 'प्रोषितपतिका' का विवेचन

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

किया है। तत्पश्चात् 'गमिष्यत्पतिका', 'गच्छतपतिका', 'आगमिष्यत्पतिका' 'आगच्छतपतिका' और 'आगतपतिका' नायिकाओं का यह विवेचन भी क्रमिक है। लेकिन इसमें एक बात खटकती है कि रसलीन ने 'कलहान्तरिता' के बाद 'प्रोषितपतिका' का विवेचन और विवेचन के पहले कथन भी किया है।[३६] क्रम के अनुसार 'प्रोषितपतिका' का विवेचन 'गमिष्यत्पतिका' और 'गच्छतपतिका' के बाद होना चाहिए। इस प्रकार यह क्रम इस प्रकार होना चाहिए— 'गमिष्यत्पतिका', 'गच्छतपतिका', 'प्रोषितपतिका', 'आगमिष्यत्पतिका', 'आगच्छत्प्रतिका' और 'आगतपतिका'।

कृपाराम के नायिका-भेद विवेचन का महत्त्व

कृपाराम के नायिका भेद सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कृपाराम का नायिका भेद जिन मूलाधारों पर खड़ा है, उनमें प्रमुख हैं— सामाजिक आचार-व्यवहार, नायिका की प्रकृति का स्वभाव, मनोदशा और उसकी काम प्रवृत्ति, नायिका के प्रति नायक के प्रेम की न्यूनता या अधिकता, संयोग-वियोग की अवस्थाएँ आदि। इन सभी आधारों में नायक-नायिका की पारस्परिक प्रेम-भावना मूल रूप में अनिवार्यतः अनुस्यूत है और यही नायिका-भेद का मूलाधार है।

कृपाराम की 'हिततरंगिणी' भाषा रीति-काव्य का प्रथम शास्त्रीय ग्रंथ है। यह सत्य है कि नायिका-भेद की एक प्रशस्त परम्परा संस्कृत में चल रही थी; लेकिन भाषा काव्य में उसका सूत्रपात्र कृपाराम के द्वारा ही होता है। हिततरंगिणी' का ही आधार पर चिंतामणि ने 'कविकुलकल्पतरु', मतिराम ने 'रसराज', देव ने 'भाव विलास', रसलीन ने 'रसप्रबोध', बेनी प्रवीन ने 'नवरसतरंग' और पद्माकर ने 'जगद्विनोद' आदि ग्रंथों की रचना की। भाषा काव्य में नायिका-भेद की परम्परा का प्रारम्भ तो कृपाराम ने किया ही, संस्कृत के परवर्ती नायिका-भेदक आचार्यों ने भी 'हिततरंगिणी का आश्रय लिया। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बड़े साहब अकबर विरचित 'श्रृंगार मंजरी' है। इस दृष्टि से कृपाराम का भाषा काव्य नायिका-भेद में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

संस्कृत नायिका-भेद परम्परा में नायिका-भेदों की एक स्थूल रूप रेखा बनी हुई थी। कृपाराम ने उसमें मौलिक संशोधन कर अनेक भेदों- उपभेदों एवं अवान्तर भेदों की कल्पना कर वैज्ञानिक दृष्टि से अपना नायिका भेद प्रस्तुत किया। उदाहरण के लिए 'परकीया' नायिका के छः प्रमुख भेदों— 'लक्षिता', 'मुदिता', 'विदग्धा', 'कुलटा', 'अनुशयना', 'गुप्ता' के अतिरिक्त सातवें भेद 'स्वयंदूती' की कल्पना की। इसी प्रकार पति प्रेम के आधार पर किये गये दो भेदों— 'ज्येष्ठा', 'कनिष्ठा' के अतिरिक्त कृपाराम ने तीसरे भेद 'समहिता' या 'समस्नेहिका' का समावेश किया। इसी प्रकार अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ-नौ भेदों के स्थान पर दस भेदों की कल्पना कर सर्वप्रथम उसे एक वैज्ञानिक क्रम दिया। इस तरह 'हिततरंगिणी उस मान्यता को चुनौती देती हुई दिखाई पड़ती है, जो यह स्वीकार

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

करती है कि भाषा काव्य के रीति कवियों में स्वतंत्र चिंतन का नितान्त अभाव है।

संदर्भ

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, २२/१४१ से १४५ तक, पृ. ३६८

२. 'सर्वासमेव नारीणां त्रिविधा प्रकृति : स्मृता।
उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता।।'
उपरिवत्, २३/३३, पृ. ३८८

३. 'उत्तम मध्यम अधम तिय प्रकृति भेद ते जानि।।'
कृपाराम ग्रंथावली १/१७।।

४. भरत मुनि, नाट्यशास्त्र, २२/२०३, २०४, पृ. ३७३-७४।

५. कृपाराम ग्रंथावली १/३८, पृ. १११

६. 'दिव्याच नृप पत्नी कुलस्त्री गणिका तथा।'
भरतमुनि, नाट्यशास्त्र २४/७, पृ. ३६३

७. नाट्यशास्त्र, २४/८, ६, १०, पृ. ३६३

८. उपरिवत् २३/१८ से २२ तक, पृ. ३८६-८७

६. उपरिवत् २३/३०, ३१, ३२, पृ. ३८७-८८

१०. 'साच जिविधा-स्वकीया परकीया, सामान्या चेति।' भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. ४
'तीन भेद नारीन के लोक लीक ते जानि।
स्वीया परकीया सुपुनि बार बधू पहिचानि।।'
कृपाराम ग्रंथावली २/८१८६ तक, पृ. २१-२३

११. 'एषैव चाति प्रश्रयादति विश्रब्ध नवोढ़ा।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. १४

१२. 'मुग्धाचार प्रकार की, मध्या की बिधि दोइ।'
कृपाराम ग्रंथावली २/६०-६८ तक, पृ. २३-२५

१३. 'अस्याश्चेष्टा रति प्रीतिरानन्दात्सम्मोह :।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. १६
'प्रौढ़ा में पुनि आनन्दमत्ता, रति प्रियनारी रखिकै।' १/२५।।

१४. 'परिणीतत्वेसति भर्तुरधिकस्नेहा, परिणीतत्वेसति भर्तुर्न्यूनस्नेहा कनिष्ठा।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. २५
अतिहित समहित, न्यूनहित होत सुकीया नारि।।१/२६

१५. 'सा द्विविधा परोढ़ा कन्यका च।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. २८।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'परकीया के भेद द्वै, ऊढ़ा और अनूढ़ा।'१/ २८।।

१६. 'ऊढ़ा के पुनि भेद द्वै, होत हिये परकास।
परब्याही उपपति निकट, परप्यारी पतिपास'।। १/२६।।

१७. 'गुप्ता- विदग्धा- लक्षिता- कुलटा अनुशय- मुदिता प्रस्भृतीनां परकीयायामे वान्तर्भावः।' भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. ३०
'गुप्ता त्रिधा– वृन्त्तासुरतगोपना वर्तिष्यमाणसुरतगोपना, वृन्तवर्तिष्य माणसुरतगोपना।'
'विदग्धा च द्विविधा वाग्विदग्धा क्रिया विदग्धा च।'
'अनुशायना यथा– वर्तमान स्थानविघटनेन भाविस्थानाभावशंक या स्वानधिष्ठित संकेत स्थलं प्रति भर्तुर्मनानुयानेन चानुशयना जिधा।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. ३०, ३१, ३३।

१८. लछिता चतुरा जानिए, कुलटा मुदिता नारि।
स्वयंदूति अनुसयनिका, गुह्यादिके बिचारि।। १/३०।।

१६. कृपाराम ग्रंथावली ३/१२७-१३५, पृ. ३२-३४

२०. वही, ३/१६५-१७१, पृ. ४०-४१

२१. उपरिवत् ३/१७२-१७४, पृ. ४१

२२. वही, ४/१७६१६४, पृ. ४३-४६

२३. 'एता अन्यसंभोगदुःखिताः वक्रोक्तिगर्विताः मानवत्यश्चेति तिस्रोभवन्ति।'
भानुदत्त, रसमंजरी, पृ. ३६

२३. कृपाराम ग्रंथावली, ५/२७२-२६८, पृ. ६०-६६

२४. 'एताः षोडशाप्यष्टाभिरवस्थाभिः प्रत्येक मष्टविधाः– प्रोषित भर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्का, वासकसज्जा स्वाधीनपतिका, अभिसारिका चेति।'
भानुदत्त रसमंजरी, पृ. ४५-४६

२५. वही, पृ. ८५ ८६

२६. 'होति सुघर अतिवासिक सज्जा उतकंठादिक गनिए।
अभिसारिक सुसकल विधि की लखि, विप्रलब्धिका भनिए।।
खंडित कलहांतारिता गुनि के प्रवासित पतिका धरिए।
प्रोषितपतिका स्वागत पतिका पुनि हिय बिच निज करिए।।' १/३८

२७. कृपाराम, ग्रंथावली, १/२३, १/२४

२८. वही, १/२५

२६. वही, २/२६, २/१०८

३०. वही, १/२८, १/२६

३२. श्री प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद, पृ. १६१

३३. वही, पृ. १६२

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३४. वही, पृ. १२१

३५. वही, पृ. १६४

३६. 'कलहान्तरिता' के बाद रसलीन में क्रम कुछ भिन्न प्रकार है, जिसका विवेचन नीचे के दूसरे पैराग्राफ में है।

३७. कलहन्तरिता विवेचन, पृ. ८२-८३, प्रोषितपतिका– विवेचन, पृ. ८३-८४ तथा 'गमिष्यत्पतिका' का विवेचन, पृ. ८५ से ६१ तक

रसलीन ग्रंथावली

कथन– पर रति चिह्नित पिय चितै बलि खंडिता रिसाई। कलहन्तरिता कलह करि फिरि पीछे पछिताई।।३५६।।

प्रोषितपतिका जाहि पिय गयो होइ परदेस।

गमषित जोहि दिन कयतिक मैं चलन चहै प्रानेस ।। ३.६०।। इत्यादि

रसलीन ग्रंथावली, पृ. ७२-७३

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२०
हिंदी काव्यशास्त्र

डॉ. पुष्पा बंसल

शास्त्र काव्य का पुरचरण नहीं करता, अनुवरण करता है। किसी भी भाषा में जब परिनिष्ठित काव्य का एक पहचान में आने वाला, पठित चर्चित होने वाला, स्वीकृत हो जाने वाला रूप बन जाता है, तो शास्त्र का जन्म हो जाता है।

'शास्त्र' का जन्म 'शालाओं' में न हो कर चर्चाओं में होता है। आचार्यों द्वारा सिद्धान्त निरूपण, सूत्र-प्रणयन, व्याख्याकारों द्वारा टीकाएँ व भाष्य तथा उन सब का संग्रहीत (कोडीफ़ाईड) रूप– यह तो शास्त्र के विकसित व परिनिष्ठित हो जाने के बिन्दु हैं, जन्म लेने के नहीं। शास्त्र का 'सूत्र' सम्बन्धित विचारणा चिन्तना का निष्कर्षित रूप होता है। प्रस्थान बिन्दु नहीं। 'सूत्र' को समझने के लिए उसके प्रस्थान बिन्दु (टेक-ऑफ पॉइन्ट) को लोकेट करना या पहचानना होगा। इसी क्रम को अपनाने से हम 'सूत्र' की निर्माण प्रक्रिया को देख सकते हैं– और सूत्र को पहचान सकते हैं। इसके बाद आरम्भ होती है सूत्र पर टिप्पणी– व्याख्या– भाष्य। जो सब मिल कर सूत्र की अन्तर्निहित दृष्टि को विश्लेषित करते हैं। अतः सूत्र अर्थात् सिद्धान्त ही शास्त्र की सामग्री होते हैं।

सूत्र का अर्थ संस्कृत काव्यशास्त्रीय सूत्रों के समान एक वाक्यीय कथन या घोषणा ही नहीं होता अपितु कोई भी निष्कर्षात्मक– स्वीकृतिमूलक कथन– जो कि विषय के सम्बन्ध में स्पष्टता, निर्भ्रान्तता व एकाग्रता के साथ कुछ ऐसा कहे जो कि केवल उसी वस्तु के विषय में हो और उस वस्तु से पहचान कराता हो। शास्त्र के सूत्रों के दो कार्य होते हैं। (Tsolate and to define) अलगाना और परिभाषित करना, और देखा जाए तो परिभाषित करने का अर्थ भी 'अलगाना' ही होता है।

'ऐसी वाक् योजना जो विषय की पहचान कराती हो, ऐसी पहचान जिसमें अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दाष न हो। परिभाषा कहलाती है।

अतः काव्यशास्त्र का अर्थ हुआ वह शास्त्र (या वे कथन स्थापनाएँ आदि) जो काव्य की पहचान कराती हों। काव्य के सम्बन्ध में ज्ञान देती हों। काव्य का रसास्वादन कराना अथवा आलोचन करना काव्यशास्त्र का कार्य नहीं है। काव्यशास्त्र का क्षेत्र तो स्पष्ट है:– काव्य की पहचान करना, इसका स्वरूप विवेचन करना तथा इसके अंग-प्रत्यंग को विश्लेषण पूर्व प्रस्तुत करना। 'निदेश आज्ञा शासन शास्यते इनेन शास्त्रम्' (नामालिंगानुशास्त्र) अथवा निदेश ग्रन्थसो : शास्त्रं' (अमरकोश) आदि सूत्र कथनों में जो 'शास्त्र' का सम्बन्ध आज्ञा, शासन, आदेश आदि तत्त्वों से जोड़ा गया है, उसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि 'शास्त्र आदेश देता है,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अपितु यह कि शास्त्र में स्थापित किए गए काव्य से सम्बन्धित स्वरूप-अर्थ-वैशिष्ट्य–प्रक्रिया- परिणति आदि तत्त्व विवेच्य विषय के लिए एक सुविचारित परीक्षित सिद्धापित प्रतिमान प्रस्तुत कर देते हैं, जिनके प्रकाश में जिज्ञासु/विद्यार्थी अवगति प्राप्त करता है तथा सिसृक्ष/कलाकार मार्ग निर्देश। स्रष्टा कलाकार के द्वारा शास्त्रोक्त प्रतिमानों का उल्लंघन अथवा अतिक्रमण नहीं किया जाता, ऐसा समझना भूल है। ये तथाकथित 'अतिक्रमण' ही शास्त्र की विकास यात्रा के विभिन्न चरण बनते हैं, क्योंकि वे रचना के संसार में उद्‌भूत मौलिकताओं व नवीनताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं। जब विवेच्य वस्तु में 'अतिक्रमण' की मात्रा बढ़ जाती है, अधिकाधिक व्यक्ति 'अतिक्रमण' का प्रयोग करने लगते हैं, तो वह अतिक्रमण शास्त्र में प्रतिच्छायित हो उठता है, क्योंकि तब वह चर्चाओं का विषय बन जाता है और शीघ्र ही शास्त्र आगे बढ़कर उस अतिक्रमण को सहजभाव से स्वीकार लेता है। इस प्रकार स्वीकृत या अपवाद अतिक्रमण– नवीन्य आदि शास्त्र द्वारा विश्लेषण परीक्षण पूर्वक स्वीकार हो जाता है तथा शास्त्र के विकास को गति देता है। किसी भी काव्य शास्त्र के इतिहास में यह विकास क्रम बड़ी स्पष्टता से देखने को मिल जाता है।

प्रत्येक शास्त्र का अपना एक क्षेत्र होता है। वह अपने उसी क्षेत्र, उसी विषय के सन्दर्भ में विश्लेषण का कार्य करता है। शास्त्र समन्वय नहीं करता, सब कुछ को घालमेलपूर्वक स्वीकार नहीं करता, अपितु छलनी ले कर छानता है और अलगाता है। शास्त्र का विकास सर्वदा शाखाओं-प्रशाखाओं के विकास में होता है, क्योंकि विचार-विश्लेषण के निष्कर्षस्वरूप विषय के विभिन्न तत्त्व, विभिन्न अन्याय, विभिन्न पक्ष प्रगट हो जाते हैं और गम्भीरतर विवेचन उस एक-एक आयाम तत्त्व पक्ष को अपनी विवेच्य सामग्री बना कर उसके सम्बन्ध में 'शास्त्र' विकसित कर लेता है। यथा काव्य-शास्त्र की शाखाएँ– भाव-शास्त्र, अलंकार-शास्त्र, छन्द-शास्त्र, शैली शास्त्र आदि। और यदि विधा की दृष्टि से देखें तो काव्य-शास्त्र, नाट्‌य-शास्त्र, कथा-शास्त्र आदि। यह कहा जा सकता है कि शास्त्र का अर्थ है 'पहचान' उसकी प्रक्रिया अथवा अस्त्र है 'छलनी' तथा उस का नियामक सूत्र है शुद्धता (एक्स्कलूसिवनेस)।

शास्त्र की उत्पत्ति के साथ दैवीयता का तत्त्व जुड़ा हुआ है। हम तो यह कहेंगे कि शास्त्र की उत्पत्ति, दैवीय नहीं है, मानवीय है। मानव के मानस में उस की जिज्ञासा– तर्क विश्लेषण एवं निष्कर्षण के द्वारा ही इसका जन्म होता है। प्रतिभाशील धीर मानस में कभी-कभी एक अन्तःप्रेरणा के रूप में एक सत्य कण की प्राप्ति हो जाती है, पर वह प्रेरणा-प्राप्त सत्य-कण पूर्णतया विवेचित विश्लेषित होने के बाद ही स्थापना या सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत होकर शास्त्र का भाग बनता है।

काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में प्रायः एक प्रश्न पूछा जाता है कि वह कला है अथवा विज्ञान। यह प्रश्न मूलतः अवैज्ञानिक है तथा अशास्त्रीय है। कला एवं विज्ञान दो ऐसे ज्ञानाशासन हैं, जो दो सर्वथा विपरीत ध्रुवों पर स्थित हैं। कला का क्षेत्र

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

संवेदना है, अस्त्र कल्पना है, माध्यम भावाविष्ट कल्पना (प्रोसेस्ड) संरचित भाषा है तथा इसकी परिणति सौन्दर्य, राग अथवा आनन्द है। इसका सरोकार तथ्य से नहीं सत्य से है। तथ्यों को यह शीघ्रातिशीघ्र सत्यों में बदल देती है– कला के तथ्यों का सांसारिक ठोस तथ्यों से सम्बन्ध बहुत धीमा होता है। विज्ञान की स्थिति इसके ठीक विपरीत है। विज्ञान का क्षेत्र विश्लेषण है– परीक्षण है, अस्त्र विवेक है– बुद्धि है और माध्यम है प्रयोग– एक्सपैरिमेन्ट– पड़ताल। आवेश, व्यक्तिनिष्ठता, संवेदनशीलता, रागात्मकता आदि तत्त्वों से धीरे-धीरे विश्लिष्ट होकर बौद्धिकता के सहारे वस्तुनिष्ठता की ओर बढ़ना ही विज्ञान की गति है एवं वस्तुनिष्ठ मुद्रा में विषय को– शुद्ध विषय को– उसकी शुद्धता में देख लेना– जान लेना तथा उस पहचान को निर्भ्रान्त- स्पष्ट- अभिधात्मक शब्दावली में प्रस्तुत कर देना विज्ञान का संसार है। विज्ञान भावना को नहीं बुद्धि को आधार बनाता है; वस्तु क़ो कल्पित नहीं परिभाषित करता है और सत्य को पुनर्सर्जित नहीं अपितु सिद्ध करता है। सूत्रस्थ में कहें तो काव्य है....बिम्बात्मिका शैली व अलंकार रचित भाषा में अभिव्यक्त भावना + कल्पना + अप्रस्तुत तथा विज्ञान है– तर्काश्रित शैली व अभिधात्मक भाषा में प्रस्तुत जिज्ञासा + विश्लेषण + निष्कर्ष+ तथ्य। काव्य भावना है– राग है और रचना है, विज्ञान बुद्धि है– तर्क है और स्थापना है। काव्य भावान्दोलन प्रस्तुत करता है और विज्ञान अज्ञान, अन्धकार का नाश।

काव्य का कारोबार 'सौन्दर्य' का है और विज्ञान का कारोबार 'सत्य' का। सौन्दर्य यदि भावनाश्रित है तो सत्य तथ्याश्रित। 'सौन्दर्य' का मुख्य उपकरण कल्पना है तो 'सत्य' का तर्कणा। 'सौन्दर्य' समन्वित व संश्लिष्ट दृष्टि पर आधारित होता है तो 'सत्य' विश्लेषण सापेक्ष। 'सौन्दर्य' मर्म हिन्दोलित करता है तो 'सत्य' अवगति को उत्पन्न और 'सौन्दर्य' राग का क्षेत्र है, व्यक्तिगत है, सृजनधर्मी है तो 'सत्य' बुद्धि का क्षेत्र है, वस्तुगत है और स्थापनाधर्मी है। 'सौन्दर्य' विषयीगत है– अहमिकाधारित है और सत्य वस्तुगत है– अहमिका-विसर्जनकारी है। 'सौन्दर्य' कहता है– मुझे ऐसा लगता है– मैं यह भोग रहा हूँ– अनुभव कर रहा हूँ (बात चाहे कुछ भी हो।) और सत्य कहता है– 'अतः सिद्ध हुआ', 'निष्कर्षतः' बात ऐसी है, (बात तुम्हारे या उसके या किसी के मानने की न मानने की नहीं है।) 'सौन्दर्य' 'भी सत्य को स्वीकार करता है और 'सत्य' 'ही' को! काव्यशास्त्र के सम्बन्ध में यह प्रश्न प्रस्तुत अनुशासन की 'शास्त्रता' में अविश्वास का ही परिचायक है। इसे कला किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता। काव्य-शास्त्र को हम एक विशेष प्रकार का विज्ञान कह सकते हैं– ऐसा विज्ञान जो कला का विश्लेषण करता है– या कहें काव्य-शास्त्र एक ऐसा शास्त्र है, जो काव्य का विश्लेषण करता है। विशेषता यदि है तो विश्लेष्य सामग्री में है, परीक्ष्य वस्तु में है, परीक्षण या विश्लेषण के मूल स्वरूप में नहीं है। काव्य एक ऐसा उपादान है जो भावना, कल्पना, बुद्धि एवं अभिव्यक्ति के तत्त्वों से निर्मित होता है। ये सभी तत्त्व (एक बुद्धि को छोड़ कर) घोर व्यक्तिनिष्ठ होते हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भावना स्वयं तो व्यक्तिनिष्ठ होती ही है– कल्पना के स्वरूप को भी नियंत्रित करती है और भावना व कल्पना से निर्मित 'सामग्री' अभिव्यक्ति के लिए कौन-सा आकार ग्रहण करेगी, कौन से शिल्प का गठन कर लेगी, भाषा को किस रूप में 'रचित' कर लेगी, यह स्वयं कलाकार को भी पूर्वज्ञात नहीं होता। इन सब तत्त्वों के रूप-स्वरूप का दर्शन तो काव्यकृति के सृजन के पश्चात् ही होता है। काव्य की दूसरी विशेषता यह है कि इसकी प्रत्येक कृति, छोटी अथवा बड़ी, अपने आप में सम्पूर्ण होती है, अद्वितीय होती है, मौलिक होती है तथा अपुनर्भव होती है। अर्थात् एक कृति अपने आप में अपना पूरा संसार होता है जिससे यह भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि प्रत्येक कृति का शास्त्र पृथक् है। परन्तु यह सच्चाई नहीं है। काव्य की एक विशेषता यह भी है कि प्रकाशतया न इसके रूप-स्वरूप का सीमांकन किया जा सकता है, न ही इसकी रचना-प्रक्रिया के सम्बन्ध में स्पष्ट रूपरेखाएँ निर्मित की जा सकती हैं, क्योंकि प्रत्येक रचनाकार का भाव-जगत, कल्पना और भाषा बोध भिन्न होता है। भावोन्मेष भिन्न होता है। प्रत्येक काव्य रचयिता की प्रत्येक कृति की रचना के कारण, रचना की प्रेरणा, रचना की प्रक्रिया और सम्भवतः रचना के उद्‌देश्य– लक्ष्य भिन्न होते हैं। और ऐसी स्थिति में एक अराजकता की कल्पना कर ही ली जाती है। ऐसा भी होता है, यों भी, यह भी सत्य है और यह भी– प्रायः विश्लेषण के सन्दर्भ में ऐसा कह दिया जाता है और इसका कारण यह मान लिया जाता है कि काव्य-शास्त्र– विज्ञान भी है और कला भी।

परन्तु यह स्थिति सर्वाधिक आपत्तिजनक है। शास्त्र, शास्त्र ही होता है। कथा नहीं, और कला, कला होती है शास्त्र अथवा विज्ञान नहीं। सौन्दर्य की सृष्टि करना कला /काव्य का काम है और सत्य का प्रतिपादन सिद्धापन करना शास्त्र का। सत्य एवं तथ्य को संवेदना के धरातल पर जी कर, कल्पनाशक्ति द्वारा उस जिए हुए– भोगे हुए सत्य को एक नितान्त मौलिक अछूते रूप में पुनर्सर्जित करके कल्पना द्वारा रचित (अलंकृत– सौन्दर्यमयी बिम्बात्मिका) भाषा में आकारित कर के अपने अन्तश्चेतन द्वारा अनुभूत सौन्दर्य अनुभूति को अभिव्यक्त कर देना कला/काव्य है तो उस कृति के रूप, निर्माता तत्त्व, प्रेरणा स्रोत, विभिन्न अंगांग, रूपककार, अभिव्यक्ति सौष्ठव, भाषा की संरचना, उस द्वारा निर्मित प्रभाव आदि तत्त्वों का विश्लेषण- परीक्षण द्वारा तत्त्वानुसन्धान काव्यशास्त्र है। दोनों के क्षेत्र, परिधि व प्रयोजन नितान्त भिन्न हैं। काव्य सौन्दर्य को सर्जित करता है, सौन्दर्यनुभूति प्रदान करता है, आनन्द की सृष्टि करता है तथा काव्यशास्त्र सौन्दर्य का विश्लेषण करता है, तत्त्व का अनुसन्धान करता है तथा सत्य को स्थापित करता है। दोनों के क्षेत्रों में कहीं भी एक-दूसरे की राहकटी नहीं है। शास्त्र समन्वय नहीं विश्लेषण करता है, सामंजस्य नहीं वर्गीकरण करता है। समन्वयवादिता का, सामंजस्य का, यह भी वह नहीं भी' का श्रेय इसे नहीं दिया जा सकता। अतः काव्य-शास्त्र को शास्त्र ही कहा जाना चाहिए, इसे कला कहना न तो उचित है न ही संगत।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

हिन्दी काव्यशास्त्र पर विचार आरम्भ करने से पहले एक और बिन्दु का स्पष्टीकरण हो जाना अत्यावश्यक है। वह यह कि किसी भी काव्यशास्त्र का अपने काव्य से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। काव्य से असम्बद्ध काव्यशास्त्र की या यों कहें कि एक ऐसे काव्यशास्त्र की जो कि उस काव्य पर आधारित ही न हो, जिसका वह शास्त्र कहलता है— कल्पना ही असंगत है। जैसे काव्य किसी भी भाषाभाषियों के मनस्तत्व-सांस्कृतिक चेतना, जीवन पद्धति एवं ऐतिहासिक— पौराणिक परम्पराओं का साकार कलात्मक रूप होता है, वैसे ही काव्य-शास्त्र उस काव्य की पहचान, परिभाषा व परिवृत्त होता है। काव्य-शास्त्र न ही काव्य सर्जना से पहले उपस्थित हो सकता है और न ही उससे कटा हुआ, असम्पृक्त हो सकता है। जैसे एक व्यक्ति किसी दूसरे की पहचान को अपनी पहचान नहीं बना सकता, भले ही किसी की वेषभूषा का अनुकरण करने का प्रयत्न कर ले, उसी प्रकार किसी अन्य भाषा के साहित्य के काव्य-शास्त्र को कोई अन्य साहित्य अपना काव्य-शास्त्र नहीं बन सकता। यों भी काव्य के क्षेत्र में उधारी का, नकल का, अनुकरण का कारोबार, नहीं चलता। काव्य तो मानस की गहराइयों से उद्‌भूत होता है— जहाँ कोई 'पर' तत्त्व प्रवेश कर ही नहीं सकता। काव्य किसी भी जाति की संवेदनाओं-आकाँक्षाओं-मान्यताओं— वह घोर निजी होता है। तो उस का शास्त्र अनुकरण का या उधार का कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे प्रत्येक भाषा अपना साहित्य स्वयं रचती है, वैसे ही प्रत्येक साहित्य अपना शास्त्र स्वयं विकसित करता है। इस व्यवस्था में अन्यथा हो ही नहीं सकता।

हिन्दी की स्थिति इस सन्दर्भ में विचारणीय है। हिन्दी के पास काव्यशास्त्र है— काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त हैं— चिन्तन-मनन है— पर या तो वह संस्कृत का चिन्तनमात्र है या फिर पश्चिम का जो कि यूनान— रोम में जन्मा था और फिर फ्रांस जर्मनी आदि की यात्रा करते हुए अंग्रेजी भाषा की राह से हिन्दी के संसार में प्रविष्ट हो गया। परिणामतः हिन्दी एक ओर अत्यन्त समृद्ध काव्यशास्त्र कोष की स्वामिनी भी कही जाती है और दूसरी ओर अभी हिन्दी काव्यशास्त्र की अस्मिता का प्रश्न ही सिर उठाए खड़ा है। यदि अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी का पूर्व रूप मान लिया जाए तो हिन्दी काव्य के सर्वप्रथम दर्शन हमें ब्रजभाषा काव्य एवं अवधी भाषा के काव्य में होते हैं। और यह बात कुल जमा चार साढ़े चार सौ साल पुरानी ही है। हिन्दी साहित्य का भक्ति काल और रीतिकाल मुख्यतया इन दो भाषाओं में काव्य सृजन किया करता था। अठारहवीं शती ने मुगल साम्राज्य का पतन, यूरोपियन व्यापारियों-शासकों का भारत में आगमन यूरोप के वैज्ञानिक विकास एवं परिणामी औद्योगिकता की भारत में सूचनाओं की साक्षी दी। उन्नीसवीं शताब्दी ने अपनी नयी समसामयिक एवं परिस्थितिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक बोलचाल के गद्य का विकास किया जो अपने आप में खड़ी बोली गद्य का भी विकास सिद्ध हुआ। अंग्रेजों की व्यापारिक-प्रशासनिक अपेक्षाओं की पूर्ति के निमित्त इस गद्य का प्रयत्नपूर्वक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

निर्माण किया गया और उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में आने वाले भारत की राजनीति ने अंग्रेज व्यापारियों के समक्ष पूर्ण आत्मसमर्पण कर के जब समुद्र पार बैठी इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया को अपनी साम्राज्ञी स्वीकार कर लिया, तो भारतीयों के अनजाने- अनचाहे ही तात्कालिक योरोपीय जीवन-पद्धति विचार, मान्यताएँ, दर्शन आदि की झाँकी भारतीयों के लिए उपलब्ध हो गई। उस कालबिन्दु पर खड़े भारत ने सहसा ही स्वयं को मध्ययुगीन बोध को ह्रासात्मक बोध समझ कर त्यागते और आधुनिक युग-बोध को साग्रह स्वीकार करते पाया, जो कि आधुनिक इसलिए था कि वह तात्कालिक ब्रिटेन के लिए आधुनिक था। उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भारतीयों द्वारा उस ब्रिटिश आधुनिकता को भारतीय आधुनिकता बना देने या मान लेने के कठिन मानसिक श्रम का काव्य है। इसी काल बिन्दु पर हिन्दी खड़ी बोली का साहित्य जन्मा था। पद्य की तो पूर्व परम्परा विद्यमान थी, पर गद्य का उस समय जन्म हुआ था। भारत ने जब बीसवीं शती में प्रवेश किया तो स्वयं को राजनीतिक रूप से परतन्त्र, बौद्धिक रूप से रंक तथा भावनात्मक रूप से उत्सुक- परमुत्सुक पाया। उत्सुकता थी अहमिका बोध की, अहमिका प्राप्ति की एवं अस्मिता निर्धारण की। सात समुद्र पार बसे विजेताओं की आर्थिक समृद्धि उन्हें अभिभूत करती थी, वैचारिक वैज्ञानिक विकास उन्हें चमत्कृत करते थे तथा उनके सर्वांग जीवन में व्याप्त आधुनिकता उन्हें ललचाती थी। दोनों जीवन पद्धतियों के बीच की खाई अत्यन्त चौड़ी तथा गहरी थी। उसको पाटना भी असम्भव था और लाँघना भी। अतः तत्कालीन उत्सुक भारतीय मानस ने उसका स्वीकरण अनुकरण तथा आदर्शीकरण आरम्भ किया। विचार के क्षेत्र में यह प्रक्रिया त्वरित भी थी, सचेतन भी व सघोष भी। काव्य-शास्त्रीय चिन्तन भी उन स्वीकृत– अनुकृत चिन्तनों में से एक है। आचार्य श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' जो सम्भवतः हिन्दी में (खड़ी बोली हिन्दी में) प्रथम सम्पूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रंथ है– सुधी पाठक जानते हैं कि वह हिन्दी का काव्य-शास्त्र अर्थात् हिन्दी काव्य का शास्त्र नहीं है– वह है अग्रेजी साहित्य के शास्त्र का हिंदी में प्रवेश। उसमें चिन्तन-मनन-विश्लेषण का आधार हिन्दी में रचित साहित्य नहीं है। इसी से उस में एक भी हिन्दी कृति चर्चित अथवा सन्दर्भित नहीं है। न ही उस में हिन्दी अथवा कहें संस्कृत काव्य की आत्मा अभिगुंजित है। उसी के आसपास एक और महत्त्वपूर्ण काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दी में प्रणीत हुआ– 'काव्य के रूप'। बाबू गुलाबराय की 'काव्य के रूप' एक महार्घ कृति है, किन्तु इस में काव्य/साहित्य के सम्बन्ध में संस्कृत शास्त्र में विकसित हुए चिन्तन को हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है। स्थिति इसकी भी वही है कि उस ग्रन्थ में हिन्दी रचनाओं को लेकर चिन्तन-मनन विश्लेषण कर के निष्कर्ष नहीं निकाले गए हैं– हिन्दी में उपलब्ध साहित्य का स्वरूप- विवेचन एवं वर्गीकरण, तत्त्व चिन्तन आदि नहीं किया गया है, अपितु यह सब चिन्तन जो संस्कृत काव्य के आधार पर संस्कृत भाषा में विकसित हुआ था– उसी को हिन्दी में प्रस्तुत कर दिया

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

गया है। छः सम्प्रदाय, काव्यांग, गुण-दोष आदि।

उस समय तक हिन्दी में पर्याप्त साहित्य रचना हो चुकी थी। आधुनिक काल के दो युग भारतेन्दु व द्विवेदी युग बीत चुके थे— और प्रसाद, पन्त- निराला का प्रवर्तित छायावादी युग हिन्दी में प्रविष्ट हो चुका था। हिन्दी में गीत, ग्राम-गीत, राष्ट्रीय गीत, प्रकृति-प्रेम के गीत लिखे जा रहे थे, उपन्यास, कहानियों में भारतीय सामाजिक जीवन की नीति-मर्यादा- आदर्श प्रधान झाँकी उपस्थित की जा रही थी। तथा कहीं-कहीं विदेशी जीवन-पद्धति व उसके अन्धानुकरण की भर्त्सना की जा रही थी। निबन्धों, लेखों में सुबद्धतापूर्वक सुगठित शैली में महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार प्रस्तुत किए जा रहे थे; नाटक ऐतिहासिक कथानकों के माध्यम से देश की आत्मा में राष्ट्रीय जागरण उत्पन्न कर रहे थे तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाएँ अनेक अनाम साहित्य-विधाओं के रूप में (जिन सब को लेख का नाम ही दे दिया जाता था) भारतीय आत्मा को अवगाहित कर के उस में जागरण— क्रान्ति-सुधार, स्वदेश-गौरव, स्वाभिमान एवं एक नये सबेरे के आह्वान का मन्त्र फूँक रहे थे। समूचा हिन्दी साहित्य राष्ट्रीय चेतना से सुगबुगा रहा था— एक जीवित राष्ट्र की पहचान प्रस्तुत कर रहा था। साहित्य इधर जा रहा था और काव्यशास्त्र या अरस्तू- रिचर्ड्स, मार्क्स, फ्रायड को प्रस्तुत कर रहा था, रूपवाद, यथार्थवाद- अभिव्यंजनावाद के विवाद में उलझा था और या फिर रस ध्वनि में कौन श्रेष्ठ, रस अलंकाराश्रित है अथवा अलंकार रस के मुक्त, विभाव-अनुभाव गणन, शब्दशक्ति परिगणन में लगा हुआ था। न हिन्दी काव्यशास्त्र में हिन्दी काव्य को अपना चेहरा झाँकता दीखता था, न ही हिन्दी काव्य में तत्कालीन काव्यशास्त्र को अपनी उपस्थिति व स्वीकृति अनुभूत होती थी। क्योंकि काव्य शास्त्र बात कर रहा था छन्दों की, अलंकारों की और कविता जा रही थी मुक्त छन्द अथवा छन्दमुक्तता की ओर, काव्यशास्त्र बात करता था चार प्रकार के 'धीर' नायकों व स्वकीया- परकीया नायिकाओं की और हिन्दी के उपन्यास और नाटक प्रस्तुत कर रहे थे, होरी— श्रीकान्त जैसे 'अ-धीर' नायकों को तथा घन्टी, ध्रुवस्वाभिनी, सुनीता जैसी नायिकाओं को जिन्हें पहचानने के लिए स्वकीया- परकीया के चौखटे बहुत छोटे पड़ जाते हैं। काव्यशास्त्र का कथन था कि महाकाव्य में जीवन अपनी पृथुल विशालता में अभिव्यक्त होता है और युग ने अपने सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य (कामायनी) में जीवन की विराटता- पृथुलता के अन्तर्द्वन्द्व तथा अन्तःवृत्तियों को मानवीकरण में बदल कर रख दिया था। उस कृति ने मात्र साढ़े तीन पात्रों को ले कर महाकाव्य का सृजन कर डाला था— और अपनी इयत्ता से काव्यशास्त्र को विवश कर दिया था, उस स्थिति को स्वीकार कर लेने पर। पर यह केवल अपवाद स्वरूप ही था। उस समय की हिन्दी कविता बात कर रही थी "जूही की कली" की "सन्ध्या सुन्दरी" की और "सैकतशय्या पर श्रान्त क्लान्त निश्चल लेटी दुग्धधवल ग्रीष्मविरल गंगा" की— पर काव्यशास्त्र में स्वीकृति थी प्रकृति के उद्दीपनत्व मात्र की। सोचने की बात है कि 'पुष्प की अभिलाषा', 'गा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कोकिल बरसा पावक कण', 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'– क्या मात्र प्रकृति वर्णन हैं? क्या इन का मूल्य केवल उद्दीपन विभाव होने में ही है? सुदूर बंगभूमि से एक भावुक उद्घोष हुआ था– 'आमार सोमार बांग्ला देश– और हिन्दी कविता ने सम्पूर्ण भारत के सन्दर्भ में कहा था– 'अरुण यह मधुमय देश हमारा'/ जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा/ अरुण तामरस गर्भ विभा पर /नाच रही तरुशिखा मनोहर।' .....उस समय का भारतीय जन-मानस अपने अन्तर में एक सबल पुकार– एक आह्वान सुन रहा था– आगे बढ़ने के लिए ललकार– प्रयाण करने की प्रेरणा– कूच करने का आदेश, और कविता में उस की अनुगूँज उठी थी– हिमाद्रि तुंग श्रृंग से/ प्रबुद्ध शुद्ध भारती/ स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती। .... प्रशस्त पुण्य पन्थ है/ बढ़े चलो, बढ़े चलो।'' पर इन कविताओं की स्वीकृति काव्यशास्त्र में कहाँ हो पाई। यदि हिन्दी की उस कविता को हिन्दी काव्यशास्त्र ने संभाल लिया होता, तो सम्भवतः वह शीघ्र ही पराए बेगाने प्रभावों की ओर न मुड़ गई होती। यह ज़रा भी आवश्यक नहीं था कि हम रस– अलंकार और अनुकरण, अभिव्यंजना के चौखटे से बाहर निकलें ही न। पर हुआ यह कि वस्तुतः हिन्दी काव्य और काव्यशास्त्र का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं पाया। काव्यशास्त्र के नाम पर या तो पोयटिक्स से जुड़कर अरस्तू- कोलरिज- रिचर्ड्स को पढ़ा जाता रहा और या अलंकारशास्त्र के नाम पर रस गणना, नायिका भेद, अलंकार निर्धारण और छन्दों की मात्रा गणना होता रहा। हिन्दी का साहित्य अपनी राह चलता रहा और चिन्तन इन दो शास्त्रों के बोझ तले दबता चला गया– इतना कि इसे यह समझने में ही बहुत विलम्ब हुआ कि उसकी अस्मिता इन दोनों से पृथक्– अपनी अलग है। ये दोनों ही चिन्तन महार्घ हैं– परम समुद्र हैं, फिर भी हिन्दी का काव्य चिन्तन इन्हें न माना जा सकता है, न ही कहा।

यूँ तो प्रत्येक साहित्य में एकाधिक साहित्य रूपों की रचना होती है– कविता, महाकाव्य, कथा- आख्याथिका- नाटक- त्रासदी- मसनवी- गज़ल- निबन्ध आदि, पर एक साहित्य की समय विशेष में केन्द्रीय विधा कोई एक हुआ करती है जिसमें उसकी आत्मा बोलती है। वह एक प्रकार से प्रतिनिधि विधा मानी जाती है तथा काव्य-चिन्तन का मुख्य आधार वही विधा होती है। जैसे संस्कृत साहित्य की केन्द्रीय विधा थी नाटक। खड़ी बोली के विकास से पहले हिन्दी में यह स्थान महाकाव्य विधा को प्राप्त था, प्राचीन ग्रीक साहित्य में त्रासदी केन्द्रीय विधा थी। आधुनिक हिन्दी ने आरंभ में नाटक एवं कविता पर स्वयं को केन्द्रित किया, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर 'प्रसाद' तक यही स्थिति बनी रही। वह नाटक और वह कविता हिन्दी की अपनी उपज थीं, भारत के जीवन से उपजी, उसी को प्रतिबिम्बित करती। छायावाद ने हिन्दी कविता में अंग्रेजी कविता के अनुकरण के द्वार खोल दिए। हिन्दी छायावादी कविता की सशक्तता व सजीवता का कारण यह है कि वह कविता शीघ्र ही रहस्यवाद से जुड़ गई जो कि भारतीय मानस की निजी थी और छायावाद एक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

शैली में– एक नई लाक्षणिक अभिव्यंजनावादी शैली में सीमित हो गया– अतः उस कविता के प्रेरणा-स्रोत व निदेशक सूत्र अद्वैत व रहस्य– अज्ञात चर्चा के माध्यम से भारत के अन्दर ही बने रहे। पर उसके पश्चात् हिन्दी कविता प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता की राह से अुनकरण की वीथियों में प्रवेश कर गई। उसके निदेशक सूत्र रूस– मास्को, मार्क्स, लेनिन, काम, सार्त्र, यीट्स आदि के हाथों में चले गए। परिणामतः हिन्दी कविता हिन्दी भाषा में लिखी जाने वाली विदेशी कविता बन गई और वह केन्द्रीय या प्रतिनिधि साहित्य विधा के आसन से अपना अधिकार खो बैठी। प्राचीन संस्कृत साहित्य में केन्द्रीय साहित्य विधा थी नाटक। उसका नाटक साहित्य प्रचुर भी था और मोहक भी। 'काव्येषु नाटकं रम्यम्।' यही कारण है कि संस्कृत में नाट्यशास्त्र का प्रणयन हुआ, जो आज भी न केवल रंगशास्त्र का अपितु समग्र सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि कोश माना जाता है। संस्कृत काव्य शास्त्र का उसी की स्थापनाओं में से विकास हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल में भारतेन्दु ने अनेक नाटक लिखे। उस काल में नाटकों का प्रणयन बड़ी मात्रा में हुआ– परन्तु उन में मौलिक नाटकों की अपेक्षा– अनूदित नाटकों का परिमाण कहीं अधिक था। भारतेन्दु से लेकर प्रसाद तक हिन्दी नाटक अपनी अस्मिता खोजता रहा। निश्चय ही संस्कृत नाट्य-शास्त्र ही उस नाटक का भी वैचारिक आधार था तथा लध्वाधिक संस्कृत नाट्य-शिल्प का ही पालन किया जाता था। प्रसाद ने अपनी नाट्यकृतियों में संस्कृत नाट्यशास्त्र से पृथक् एक शैल्पिक ढाँचा बनाया था। परन्तु उनके नाटक की मूल शक्ति 'नाटक' में इतनी निहित नहीं थी, जितनी कि इतिहास, काव्य एवं राष्ट्रीय चेतना में। प्रसाद के पश्चात् हिन्दी नाटक ने मानों निराश होकर स्वयं को विदेशी नाटक पद्धति के हाथों में सौंप दिया और कथा एवं शिल्प दोनों पक्षों में अनुकरण व अनुसरणधर्मी बन गया। परिणामतः क्षीण हो गया– दुर्बल हो गया तथा प्रतिनिधि विधा नहीं बन पाया। हिन्दी नाटक ने अपनी इयत्ता को अस्मिता में बदला मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' के द्वारा। खड़ी बोली हिन्दी का प्रथम सफल मौलिक नाटक, जो भारतीय मानस के संस्कारों में जन्म लेकर आधुनिक भारतीय चेतना में सांस ले रहा है, जिस का भाव, भाषा और वस्तु सब कुछ भारतीय है तथा जो सफल अभिनेय मंच नाटक है। कहना न होगा, उस एक अकेले नाटक ने हिन्दी नाट्यशास्त्र को परिकल्पित कर दिया। यह दूसरी बात है कि मोहन राकेश के बाद आने वाले अन्य नाटककार बहुत कुछ राकेश के नाटक से सीख कर भी 'हिन्दी नाटक' लिखने में सफल नहीं हो पाए। अतियथार्थवादी– महानगरीय सन्त्रास, अभिव्यक्त करते– अश्लील-असंस्कारी भाषा के प्रयोक्त– ये नाटक हिन्दी नाटक नहीं हैं और भले ही कुछ हों। मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' ने हिन्दी नाटक का मुहावरा खोज लिया है– पर अभी उसका प्रचार-प्रसार होने में सम्भवतः कुछ देर है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

हिन्दी साहित्य की वास्तविक पहचान उस का गद्य साहित्य है। उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रिका, रिपोर्ताज, डायरी, पत्र, आत्मकथा, जीवनी, सम्पादकीय, ललित निबन्ध, व्यंग्य लेख, लम्बी कहानी, लघु-कथा आदि विधाएँ इस साहित्य को गद्य साहित्य नाम दिलाने में समर्थ हैं। 'तमस' (भीष्म साहनी), 'बाणभट्ट की आत्मकथा' (हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'तत्सम' (राजी सेठ), पंच परमेश्वर (प्रेमचन्द) चीफ़ की दावत (भीष्म साहनी), यही सच है (मन्नू भण्डारी), एक और ज़िन्दगी (मोहन राकेश), एक गौ (जैनेन्द्र), साहित्य की महत्ता (महावीरप्रसाद द्विवेदी), साहित्यकार की आस्था (महादेवी वर्मा), अशोक के फूल और कुटज (हजारीप्रसाद द्विवेदी), अतीत के चलचित्र (महादेवी वर्मा), क्या भूलूं क्या याद करूँ– नीड़ का निर्माण फिर– बसेरे से दूर (हरिवंश राय बच्चन), आवारा मसीहा (विष्णु प्रभाकर), युगदृष्टि (अज्ञेय), शब्दिता (धर्मवीर भारती), गुलकी बन्नो (धर्मवीर भारती), मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी (भगवतीचरण वर्मा) आदि सभी रचनाएँ हिन्दी गद्य की हैं और महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह है कि ये सभी विधाएँ हिन्दी के मानस से इस की अपनी आवश्यकता की आवाज़ पर उभरी हैं, इन में अनुकरण का भाव बहुत कम है। पर तथ्य यह है कि हिन्दी में काव्य-शास्त्र है, नाट्यशास्त्र भी है, परन्तु गद्य-शास्त्र नहीं है। आज हिन्दी में इसे अर्थात् कथा-शास्त्र और निबन्ध-शास्त्र और अर्धसाहित्य शास्त्र विकसित किए जाने अत्यन्त आवश्यक हैं। रचनाएँ तो हैं और बड़े परिमाण में रची जा रही हैं, परन्तु उनका स्वरूप विवेचन कहाँ है? क्या कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध इन सब को चार निर्माता तत्त्वों अनुभूति, बुद्धि, कल्पना, शैली तथा छः विधायक तत्त्वों कथानक, पात्र, चरित्र-चित्रण, सम्वाद, वातावरण, शैली, उद्देश्य के ढाँचे में ही फ़िट नहीं कर दिया जा रहा है? क्या इस में ज़रा भी औचित्य है? क्या कहानी का स्वरूप निबन्ध से, निबन्ध का संस्मरण से, संस्मरण का यात्रिका से पृथक् नहीं होना चाहिए। क्या कहानी की पहचान उपन्यास की पहचान से पृथक् नहीं उभरनी चाहिए? क्या इन दोनों में मात्र आकार– परिमाप अथवा घटनाओं की संरचना का ही अन्तर है? क्या ऐसा नहीं लगता कि कहानी कुछ भी हो पर अन्ततः लेखक का स्वयं अपने साथ सम्वाद है तथा उपन्यास लेखक का समग्र समाज के साथ सम्वाद तथा उस के प्रति आत्मनिवेदन है? ये और ऐसे ही अन्तर विधाओं के निजी वैशिष्ट्य, उन की अपनी पहचानें हमें ढूँढनी होंगी– वे ही हमारी खोजें और उपलब्धियाँ बन जाएँगी हिन्दी काव्य-शास्त्र।

काव्यशास्त्र का स्वरूप क्या होता है? मूलतः काव्यशास्त्र काव्य को परिभाषित करता है एवं उसका स्वरूप-विवेचन करता है। काव्य के निर्माता तत्त्व, सृजन-प्रेरणा, सृजन-प्रक्रिया, सृजनकारी परिस्थितियाँ और सृजन माध्यम की पहचान प्रस्तुत करता है; काव्य का वैशिष्ट्य, महत्त्व, मूल्य, भेदक लक्षण एवं प्रयोजन, प्रभाव आदि का विवेचन करता है। उसी सन्दर्भ में वह काव्य की वस्तु (भाव, विचार आदि), काव्य की सृजनकारी शक्तियाँ (कल्पना विवेक, औचित्य बोध, आदि), काव्य की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभिव्यक्ति का माध्यम (भाषा एवं भाषा के विभिन्न पक्ष) व काव्य के ग्रहण–आस्वादन (पाठक, आनन्द, प्रभाव, उपदेश, शिक्षण) तथा आस्वादन की प्रक्रिया का विश्लेषण-विवेचन प्रस्तुत करता है। काव्य का मूल्य बताना भी काव्यशास्त्र का ही कार्य है। इसी सन्दर्भ में काव्य में दायित्वों का निर्धारण भी कर लिया जाता है। मूल काव्य शास्त्र के पश्चात् काव्य शाखाओं के स्वरूप की पहचान की बारी आती है। विधाओं के वैविध्य को देखकर उन की अन्तर्निहित समता, विषमताओं को रेखांकित कर के वैज्ञानिक ढंग से उन्हें वर्गों में बाँट लिया जाता है। तत्पश्चात् एक-एक वर्ग का अथवा एक-एक विधा का स्वतन्त्र रूप से स्वरूप विवेचन उसी प्रकार और उसी पद्धति पर किया जाता है, जिस पद्धति पर काव्य का स्वरूप विवेचन किया गया था। यही सब होता है– काव्यशास्त्र का इतिवृत्त। हिन्दी का साहित्य आज सर्वप्रकारेण समृद्ध हो चुका है। केवल विधा विस्तारण ही नहीं, भाषा की प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति का सौष्ठव, शैल्पिक युक्तियों की बहुलता और इन सब के ऊपर हिन्दी साहित्यकार का आत्मविश्वास, आत्म मूल्यांकन व विश्व के अन्य साहित्यों के सन्दर्भ में प्रतियोगिता का भाव, ये सभी तत्त्व हिन्दी साहित्य की प्रौढ़ता के संकेतक हैं। काव्य चिन्तन भी कम नहीं हुआ है, परन्तु वह छितरा-छितरा है। व्यवस्थित नहीं है तथा आग्रहपूर्वक अपनी अस्मिता, अपना पृथक् स्वतन्त्र रूप सिद्ध नहीं कर रहा है। पर ऐसा होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

काव्य की परिभाषा

किसी जाति के भाषाबद्ध भावकोश का नाम काव्य है। काव्य न केवल जाति के मनस्तत्त्व का शब्द रूप होता है, अपितु जाति की दरिद्रता, परमुखापेक्षिता व आत्म-दैन्य के भाव से रक्षा भी करता है। काव्य किसी भी जाति का आत्म गौरव होता है।

काव्य का वर्गीकरण- क्योंकि काव्य के अनेक आयाम होते हैं यथा–विषय-वस्तु, अभिव्यक्ति पद्धति, सर्जक का मनस्तत्त्व, लक्ष्यीभूत श्रोता आदि। अतः इका वर्गीकरण एकाधिक आधारों पर हो सकता है।

(अ) भाषा की छन्दोबद्धता के आधार पर

काव्य दो प्रकार का होता है, पद्य तथा गद्य।

(१) पद्य काव्य को सामान्य भाषा में कविता कहा जाता है तथा भाषा की छन्दोबद्धता इसकी अनिवार्य शर्त होती है। छन्द का अनिवार्य परिणाम है लय। लय का तत्त्व सम्पूर्ण वस्तु को एक शृंखला बद्धता, कोमलता, लालित्य एवं भावोद्रेक से मण्डित कर देता है। बन्द तुकान्त भी हो सकता है अतुकान्त भी, निश्चित मात्रा-क्रम वाला भी हो सकता है तथा अनिश्चित वाला भी, पर उस में सर्वत्र ध्वनि का गति ध्वनि का एक नियमबद्ध प्रवाह बना रहता है। हिन्दी काव्य दोनों प्रकार के छन्दों को स्वीकार करता है मात्राबद्ध को भी एवं लयबद्ध छन्द को भी। गद्य एवं पद्य का विभेदक लक्षण छन्द ही होता है। छन्द लय, संगीतात्मकता एवं सहज स्मरणीयता

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

का जनक होता है। पद्य सर्वदा-सर्वत्र छन्दोबद्ध ही होता है। छन्दों का विकास– नवीनीकरण होता रहता है, परन्तु पद्य की अनिवार्य पहचान छन्द ही होता है। पद्य स्थूल तथ्यों के स्थान पर भावना को व्यक्त करने में अधिक सक्षम होता है।

(२) गद्य छन्दरहित, स्वर के उतार चढ़ाव से रहित, ताल से विहीन ऐसी भाषा, जिस के उच्चारण करने में कहीं कोई अतिरिक्त बल नहीं देना पड़ता है, गद्य की भाषा होती है। यह प्रायः प्रयोजन की भाषा होती है। यह वाक्यों में लिखी जाती है तथा वाक्यों से अनुच्छेद बनाती है। गद्य की लघुतम सार्थक इकाई है वाक्य। एक अनुच्छेद एकाधिक वाक्यों से मिल कर बनता है तथा वक्तव्य के एक अंश व एक बिन्दु को उसके पूरे सन्दर्भों में व्यक्त करता है। अनुच्छेद का आकार न सुनिश्चित होता है, न ही किसी स्वर या मात्रा की योजना से नियन्त्रित और न ही अन्य अनुच्छेदों द्वारा सन्तुलित। यह प्रायः वर्णन वैशद्य, विचार, विश्लेषण एवं चिन्तन-मनन के उपयुक्त होता है। हिन्दी साहित्य का अधिकांश साहित्य गद्य साहित्य ही है, क्योंकि आज की मानसिकता को गद्य ही वहन करने में समर्थ हो सकता है।

(आ) वर्ण्य विषय के स्रोत के आधार पर काव्य दो प्रकार का होता है- कल्पित एवं तथ्याधारित-

(१) कल्पित - काव्य अपनी वर्ण्य सामग्री जीवन से लेता हुआ भी उसको साक्षाततः नहीं लेता। घटनाओं, पात्रों, परिस्थितियों को वह अपनी सृजनात्मिका कल्पना शक्ति से जीवन की वास्तविकता के आधार पर अपने लिए मौलिक रूप से गढ़ता है। वह तथ्यों पर आधारित होता हुआ भी तथ्यों से बँधता नहीं, अपितु अपनी भावना व दृष्टि के आधार पर उनका अतिक्रमण करता है, संभावना के आधार पर उनका पुनसृर्जन ही वस्तुतः काव्य की पहचान है, क्योंकि पुनसृर्जन ही सृष्टि है, मौलिकता है, निजता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकांकी आदि सभी सरस विधाएँ कल्पित साहित्य हैं। 'कामायनी', 'साकेत', 'गोदान', 'कोणार्क', 'आषाढ़ का एक दिन', 'रूप की बीमारी', 'शारदीया', 'मधुशाला', 'तमस', 'मानस का हंस', 'तत्सम', 'जिन्दगीनामा', 'यही सच है' ये सब कल्पित काव्य के उदाहरण हैं। अर्थात् से सभी वे कृतियाँ हैं, जिन में कृतिकार ने अपने तथ्य, अपनी वस्तु की रचना स्वयं की है, वह कहीं भी इतिहास अथवा भूगोल से बँधा नहीं है, परिसीमित नहीं हुआ है। इस वर्ग की रचनाएँ ही साहित्य का शुद्धतम रूप होती हैं। ये रचनाएँ साक्षी देती हैं कि काव्य साहित्य आधारभूत वस्तु को साक्षात् रूप में नहीं, अपितु उस के कल्पना द्वारा रचित (पुनसर्जित रूप) रूप को अभिव्यक्त करता है। इसकी सृजन प्रेरणा होती है भावावेशजनित सौन्दर्यानुभूति तथा इसका परिणाम होता है पाठक का आनन्द (रस अथवा सौन्दर्य)। साहित्य तथ्यों से आबद्ध नहीं होता, यह अपने लिए तथ्य स्वयं गढ़ता है। यह गद्य-पद्य किसी भी रूप में हो सकता है। कविता, कथा साहित्य, नाटक तथा इन विधाओं की शाखाएँ-प्रशाखाएँ इस वर्ग में आती हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(इ) तथ्याधारित काव्य :- काव्य का वह रूप जो तथ्यों से बँधा है, जो कल्पना से तथ्य गढ़ता नहीं, अपितु तथ्यों को भावात्मक रूप से बिम्बात्मक शैली में इस प्रकार व्यक्त करता है कि पाठक को उस वर्णन में रस की अनुभूति होती है। पर इस में पाठक का मुख्य प्राय आनन्द नहीं अपितु सूचना– ज्ञान, अवगति होती है। इस में वर्णन-कौशल लेखक के भाषा अधिकार व आख्यान पटुता पर निर्भर करता है। इस में लेखक उन सभी शैलियों का प्रयोग कर सकता है, जिनका साहित्य रचना में किया जाता है; यथा वर्णनात्मक, पत्रात्मक, प्रश्नोत्तरात्मक, सम्वादात्मक आदि। तथ्याधारित साहित्य इतिहास– भूगोल से बँधा होता है, इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रिका, साक्षात्कार, रिपोर्ताज, आँखों देखा हाल आदि लेखन विधाएँ इसके उदाहरण हैं। अनेकधा साहित्य प्रणेता कई छल करता है यथा उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा में तथा संस्मरण, कहानी, निबन्ध में भ्रम उपस्थित कर देता है। परन्तु साहित्य में कल्पना एवं तथ्य आधारितता के भेद को जान लेने पर उपन्यास तथा जीवनी का भ्रम नष्ट हो जाता है, जब यह स्पष्ट हो जाता है कि 'शेखर एक जीवनी' उपन्यास है तथा 'आवारा मसीहा' एक जीवनी। पद्मा सचदेव के साक्षात्कार, पुष्पाभारती के रिपोर्ताज, शिवानी की यात्रिका, महादेवी वर्मा के संस्मरण इतिहास और भूगोल के तथ्यों का अतिक्रमण कहीं नहीं करते– वे उनकी रमणीय कलात्मक प्रस्तुति करते हैं।

(ई) आकार के आधार पर

आकार की दृष्टि से साहित्य के दो वर्ग हैं, लघु-आकारीय साहित्य व दीर्घ-आकारीय साहित्य। लघुता-दीर्घता का निर्णायक तत्त्व पृष्ठ संख्या अथवा कृति का परिमाण नहीं हैं, अपितु उसमें वर्णित जीवन का विस्तार। जो साहित्य विधाएँ जीवन के एक पक्ष, एक घटना, एक समस्या, एक विचार, एक बिन्दु को प्रस्तुत करती हैं, वे एकान्विति से बँधी होती हैं तथा लघुआकारीय वर्ग के अन्तर्गत आती हैं यथा– कहानी, निबन्ध, एकांकी, संस्मरण, रेखाचित्र। इसके विपरीत जिस साहित्य विधाओं में एकान्विति को लाँघ कर जीवन की सम्पूर्णता में– विविधता में प्रस्तुत किया जाता है वे दीर्घ आकारीय वर्ग में आती हैं– यथा– उपन्यास, जीवनी, आत्मकथा, नाटक, प्रबन्ध आदि। लघु आकरीय वर्ग की शर्त है एकान्विति तथा दीर्घआकारीय वर्ग की शर्त है विविधता। इसे जीवन की सम्पूर्णता न कह कर विविधता ही कहा जा सकता है, क्योंकि जीवन को सम्पूर्णता में लेना किसी भी विधा के लिए सम्भव नहीं हैं। प्रस्तुत वर्गीकरण को हिन्दी साहित्य की निजी विशिष्टता ही माना जा सकता है कि इसके साहित्य में आकार का भेद इतना स्पष्ट है तथा प्रत्येक विधा के दो रूप– लघु एवं दीर्घ उपस्थित हैं– यथा– जीवन की सर्वांगीणता को लेकर उपन्यास, नाटक, आत्मकथा, जीवनी आदि विधाएँ तथा उन्हीं सन्दर्भों में जीवन के एकांश को लेकर कहानी, एकांकी, संस्मरण, रेखाचित्र आदि विधाएँ।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(उ) आधार की दृष्टि से साहित्य का वर्गीकरण

हिन्दी साहित्य अपनी विराटता में विस्मयकारक हो उठा है। यद्यपि उसके आधारभूत चार तत्त्वों की स्वीकृति में बाँधा नहीं है, अनुभूति, विचार, कल्पना एवं शैली, परन्तु भिन्न विधाएँ अपनी आन्तरिक आवश्यकताओं व स्वरूपगत दबावों के कारण मुख्य रूप से भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर आधारित होती हैं। ये आधार प्रमुख रूप से तीन हैं, कल्पना, तथ्य एवं विचार।

जिन विधाओं में वर्ण्य वस्तु का सृजन उनकी सृजनात्मिका कल्पना के द्वारा होता है, वे विधाएँ भौतिक तथ्यों से आबद्ध नहीं होतीं– वे कल्पनाधारित विधाएँ होती हैं; यथा– कविता, कथा एवं नाटक। जो विधाएँ तथ्यों से बँधी होती हैं, तथ्यों की ही अभिव्यक्ति करती हैं, कल्पना का प्रयोग वस्तु की रचना में न करके अभिव्यक्ति की रचना में– भाषा की बनावट में करती हैं– वे तथ्याधारित विधाएँ होती हैं– यथा– आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रिका, साक्षात्कार आदि। आधुनिक हिन्दी साहित्य का एक बड़ा भाग इसी वर्ग की सम्पत्ति है।

विचाराधारित- हिन्दी में कुछ विधाए ऐसी भी हैं जो न कल्पना से बँधी हैं, न ही तथ्य से, उनका आधार है विचार। उन विधाओं में विचार की प्रधानता होती है तथा पाठक के ज्ञान में वे स्पष्टरूपेण महत्त्वपूर्ण वृद्धि करती हैं। उन के भ्रमों का नाश करती हैं, भ्रान्तियों को मिटाती हैं तथा अज्ञान के अन्धकार को ज्ञान के आलोक में बदल देती हैं। ऐसी विधाएँ दो हैं– निबन्ध एवं आलोचना। जहाँ निबन्ध अपनी सुबद्ध शैली में वर्ण्य-विषय का सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण करके उस के सम्बन्ध में स्पष्ट मत प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार आलोचना भी व्याख्या– विश्लेषण– अनुशीलनपूर्वक आलोच्य कृति के साहित्यिक सौन्दर्य को स्पष्टतया प्रस्तुत कर देती है। ये दोनों विधाएँ पाठक की मानसिकता पर गम्भीर प्रभाव डालती हैं तथा उसके विचार जगत को, मूल्य चेतना को प्रभावित-व्यवस्थित निर्मित करती हैं।

(ऊ) ग्रहण की दृष्टि से वर्गीकरण

साहित्य का एक प्रकार आख्यानमूलक है तथा एक प्रस्तुतिमूलक। जब साहित्यकार अपने शब्दों में अपने कथ्य को पाठक के समक्ष– उसे श्रोता मान कर उड़ेलता है, तो वह आख्यानमूलक साहित्य होता है। कविता, कथा, निबन्ध, ऐसी विधाएँ हैं, किन्तु जब साहित्यकार अपनी वस्तु को घटी हुई मान कर सुनाता नहीं, अपितु उस को दृश्य रूप में ग्रहीता– दर्शक के सामने ही आकारित करता है तो वह होता है प्रस्तुतिमूलक साहित्य। हिन्दी में आज इस दूसरे वर्ग के साहित्य में बहुत वृद्धि हो रही है, जिसका कारण है दूरदर्शन। मंच नाटक, सिने लेखन के अतिरिक्त वे नाटक अथवा धारावाहिक जो दूरदर्शन पर प्रस्तुत करने के लिए लिखे जाते हैं, इस वर्ग में आते हैं। हिन्दी के या अन्य भाषाओं के कहानी-उपन्यासों का

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

नाट्यीकरण भी इस में सम्मिलित है तथा मौलिक लेखन भी। दूरदर्शनीय लेखन की अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं यथा शुद्ध नाटक और सौद्देश्य विषय नाटक। विषय नाटकों में विभिन्न समस्याएँ, विभिन्न आग्रह भी हैं तथा बालक, नारी, वृद्ध जैसे विषय विभाजन भी। विषय नाटकों का परिमाण बहुत अधिक है– देश-विदेश के, कल के आज के, कलाकार, वीर पुरुष, शहीद इन सब के जीवन-वृतान्त, महिला शोषण के विभिन्न आयाम, आज की विभिन्न सामाजिक समस्याएँ जैसे ग्राम सुधार आदि इस वर्ग में शामिल हैं। इस लेखन का परिमाण आज सर्वाधिक है, जो लोकप्रिय भी है, सोद्देश्य भी एवं विपणन सापेक्ष भी।

अर्धसाहित्य

आज की हिन्दी की एक बहुत बड़ी विशेषता है इसका अर्धसाहित्य। आज हिन्दी में बहुत-सा लेखन ऐसा है, जो बहुत उपयोगी है, महत्त्वपूर्ण है एवं आयोजित व सोद्देश्य है। प्रायः साहित्य में गिन भी लिया जाता है पर वास्तव में वह साहित्य नहीं है– साहित्य की अवधारणा की संगति में नहीं है। यह ठीक है कि वह साहित्य के लिए उपयोगी है, उसका अस्तित्व साहित्य के लिए ही है तथा उसके द्वारा साहित्य-रचना व साहित्य-अध्ययन की अनेक प्रकार से सहायता होती है। उदाहरणार्थ साहित्येतिहास, साहित्य शोध, अनुवाद, पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रिपोर्ट, स्टोरीज़ फ़ीचर तथा स्तम्भ लेखन। साहित्येतिहास एवं साहित्य शोध साहित्य के अध्ययन के विभिन्न सहायक उपादान हैं, स्वयं साहित्य नहीं हैं। अनुवाद तो एक शिल्प है या कहें एक उद्योग, जो स्रोत भाषा की सामग्री को यथा साध्य अक्षत रूप में लक्ष्य भाषा में उंड़ेल देता है– अतः अनुवाद को साहित्य नहीं का जा सकता। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रिपोर्ट आदि सामग्री अपने भाषा कौशल के कारण प्रभावित करती हैं, परन्तु उसकी गिनती साहित्य में नहीं हो सकती, क्योंकि वे सामयिक हैं, सूचनापरक हैं, तथ्य से बँधी हैं तथा व्यक्तिनिष्ठता के स्थान पर वस्तुनिष्ठ हैं। इस सम्पूर्ण लेखन में उपयोगिता भी है एवं पाठक को आकर्षित करने की क्षमता भी। अतः इन लेखन प्रकारों को अर्ध साहित्य कहा जा सकता है। ये सभी लेखन प्रकार ऐसे हैं कि भावुक संवेदनशील कल्पनाप्रवर लेखक के हाथों में पड़कर ये साहित्य के वर्ग में प्रवेश कर सकते हैं। पत्रों के ही 'सम्पादकीय' कभी-कभी श्रेष्ठ ललित निबन्ध की कोटि में रखे जाने योग्य होते हैं। ये लेखक पर निर्भर करता है। उस वर्ग को अर्ध साहित्य या सहायक साहित्य कहा जा सकता है और हिन्दी की समृद्धि परिपक्वता व विस्तार का आधार कहा जा सकता है। हिन्दी के अनेक स्वनामधन्य महत्त्वाकांक्षी लेखक साहित्य के क्षेत्र में असफल या नाति सफल हो कर अर्धसाहित्य लेखन में ही प्रवृत्त हो गए हैं। यह दूसरी बात है कि वे इसे साहित्य कहना चाहते हैं।

साहित्य के निर्माता तत्त्व-आचार, विचार व भाषा

साहित्य के निर्माता तत्त्व इन तीनों को ही माना जा सकता है। भावना वह मुख्य वस्तु है, जो साहित्य में विषय बन कर अभिव्यक्त होती है– परन्तु भावना

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अकेली नहीं होती, उसके साथ विचार तत्त्व सर्वदा लगा रहता है। कभी-कभी भावना को विचार नियन्त्रित करता रहता है और कहीं-कहीं विचारों को भावना अनुभूति का रूपाकार दे देती है। इन में से एक समय में एक तत्त्व प्रधान रहता है तथा दूसरा गौण। कल्पना को पृथक् तत्त्व नहीं माना जा सकता। कल्पना के विषय के क्षेत्र में दो कार्य होते हैं, एक तो कलाकार की संवेदनाओं के रूप में रचित करना और दूसरा अप्रस्तुतों को (उपमान प्रतीक) को उपस्थित करना, सुझाना। तीसरा तत्त्व है भाषा। साहित्य की भाषा प्रयोजन व व्यवहार की भाषा से भिन्न होती है। यह भाषा आत्मा के आवेग से, भाव के आदेश से स्पन्दित रहती है तथा प्रत्यक्ष के स्थान पर अप्रत्यक्ष का, प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत का कथन करती है। इस की अर्थ व्यंजना अत्यन्त गम्भीर व अनेक पर्तों वाली होती है। साहित्य भाषा अपनी बिम्बात्मकता से पाठक की कल्पना शक्ति को जगा देती है तथा उसे कलाकार की संवेदना के सौन्दर्य को ग्रहण कर सकने की मुद्रा में ले आती है। अलंकार तथा छन्द उस के सहायक तत्त्व होते हैं। कुछ कार्य यह विराम चिन्हों के विशिष्ट प्रयोग में भी लेती है। गद्य साहित्य में छन्द का प्रयोग नहीं होता, परन्तु उस में एक ध्वनि शृंखला व आन्तरिक लय का नित्य वास रहता है। महादेवी के संस्मरण, हजारीप्रसाद द्विवेदी के ललित निबन्ध, मोहन राकेश के नाटक, हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा, जैनेन्द्र के उपन्यास गद्य भाषा में निहित इस अटूट ध्वनि शृंखला व आन्तरिक लय के सशक्त उदाहरण हैं।

हिन्दी काव्य का वर्ग विभाजन संलग्न चार्ट में देखा जा सकता है। हिन्दी काव्यशास्त्र के सम्यक् प्रणयन के लिए इसे चार सुनिर्दिष्ट खण्डों में विभाजित करना होगा– कविता-शास्त्र, कथा-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र एवं गद्य-शास्त्र (निबन्ध शास्त्र)

(अ) कविता-शास्त्र में हिन्दी कविता की परिभाषा, तत्त्व, प्रभाव एवं कविता के रूप भेदों का स्वरूप विवेचन अपेक्षित होगा। कविता के रूपभेदों में– महाकव्य, खण्डकाव्य, नाट्यकाव्य, लम्बी कविता, कविता, गीत, ग़ज़ल, रूबाई, क्षणिकाएँ आदि का विवेचन होगा। इसमें भजन, मन्दिर संगीत व उद्बोधन भी शामिल किए जा सकते हैं।

(आ) कथा-शास्त्र में हिन्दी कथा साहित्य की परिभाषा, परिचय, तत्त्व-विवेचन, सृजन प्रक्रिया, पाठकों पर उसका प्रभाव तथा कथा साहित्य के सभी भेदों– उपन्यास, लघु उपन्यास, लम्बी कहानी, कहानी, लघु कथा का विवेचन होगा।

(इ) नाट्य शास्त्र में हिन्दी नाटक की परिभाषा, पहचान, स्वरूप-विवेचन, तत्त्व परिचय, मंच-विवेचन, अभिनय-विमर्श, नाट्य-भाषा, नाट्य-शब्द का विश्लेषण, नाट्य-व्यक्तित्वों का विश्लेषण, मंच और नाटक का सम्बन्ध विश्लेषण करना होगा तथा विभिन्न नाट्य-रूपों यथा नाटक, एकांकी, रेडियो नाटक, सिने-लेखन, दूरदर्शन धारावाहिक लेखन, नुक्कड़ नाटक, पारम्परिक नाटक यथा– नौटंकी, स्वांग, यक्षगान

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आदि का स्वरूप विवेचन अपेक्षित होगा।

(ई) गद्य-शास्त्र – हिन्दी गद्य शास्त्र में हिन्दी गद्य की परिभाषा, स्वरूप, तत्त्व, शैलियों, प्रसार एवं प्रभाव का विवेचन अपेक्षित होगा। आधुनिक जीवन व्यवस्था के सन्दर्भ में गद्य का स्थान विवेचनीय होगा तथा विचार प्रधान गद्य साहित्य यथा निबन्ध और आलोचना का सम्पूर्ण एवं विस्तृत स्वरूप विवेचन होगा। निबन्ध, लेख और प्रबन्ध की विभाजक रेखा, आलोचना, शोध इतिहास की भेदक रेखा भी सुनिर्धारित करनी होगी।

इतना सब कार्य हो जाने पर एक अत्यन्त समृद्ध पृथक महामहिम हिन्दी काव्यशास्त्र प्रस्तुत हो जाएगा, इस में मुझे तनिक भी न शंका है, न संदेह। यह हिन्दी का ही वैशिष्ट्य है कि इसने इतने समृद्ध एवं विपुल साहित्य की रचना कर ली है, और अपना निजी काव्यशास्त्र विकसित नहीं कर पाई है। वास्तव में इसने संस्कृत काव्य-शास्त्र को अपना 'पूज्य शास्त्र' मानकर स्वीकार किया है और पाश्चात्य काव्यशास्त्र को 'प्रिय'। उसे अपना 'श्रेय' संस्कृत काव्यशास्त्र में दिखाई दिया और 'प्रेय' पाश्चात्य काव्यशास्त्र में। उस ने दोनों का ही आधार ग्रहण किया है– परिणामस्वरूप अपना निजी साहित्य नहीं विकसित किया है। हिन्दी इन दोनों महार्घ काव्यशास्त्रों की आभारी है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

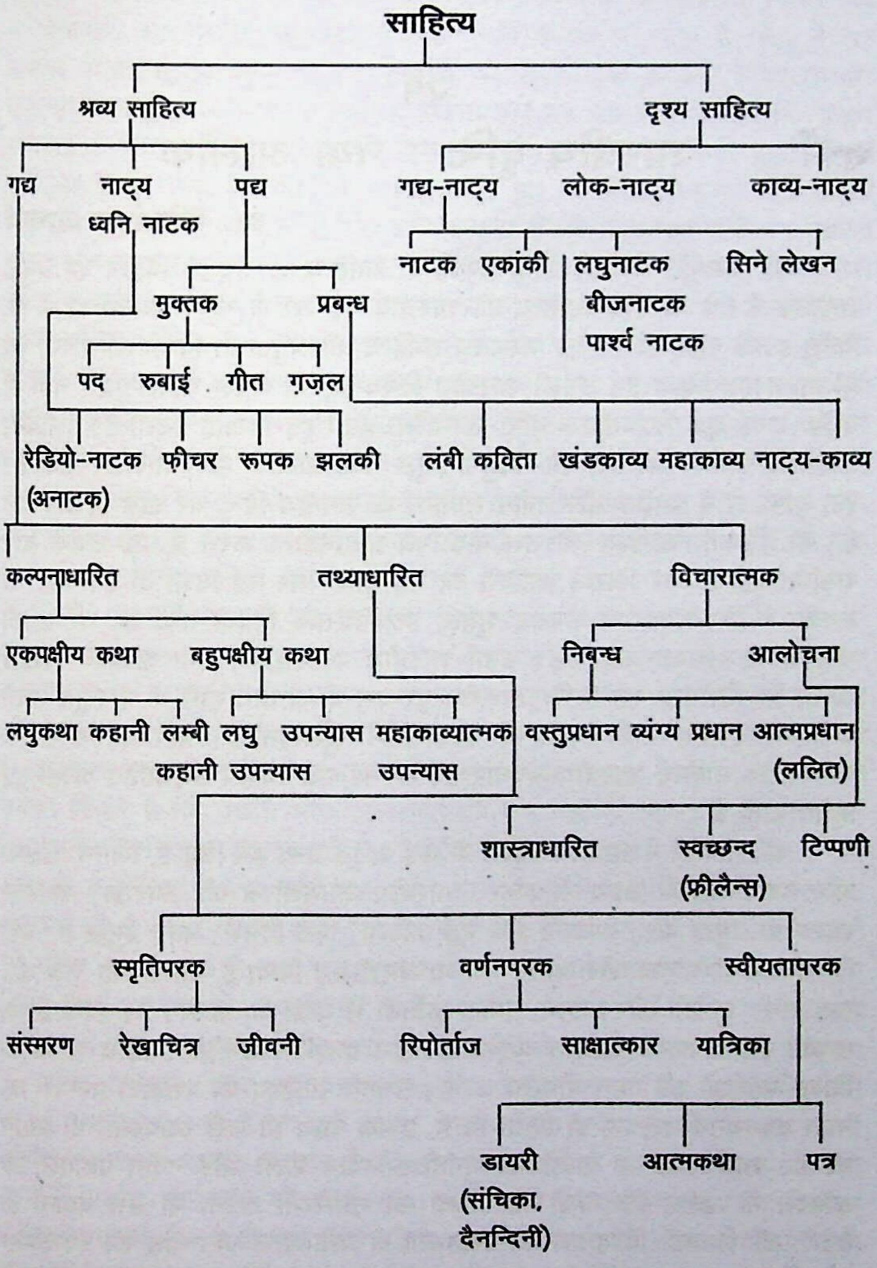

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२१
शास्त्रीय दृष्टि : नया आलोक

डॉ. मणिशंकर आचार्य

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी आधुनिक हिन्दी साहित्य के उद्भट विद्वान एवं प्रबुद्ध समीक्षक हैं। वे भारतीय साहित्य की शास्त्रीय परम्परा के गहन अध्येता तो हैं ही, किन्तु इसके साथ ही उन्होंने पाश्चात्य साहित्य की अधुनातन विचार सारणियों को भी आत्मसात किया है। उनकी शास्त्रीय विवेचनाएँ भी केवल चर्वित-चर्वण नहीं हैं, बल्कि उनमें एक दिशाबोधक दृष्टि उन्मीलित होती हुई दिखाई पड़ती है। इसीलिए वे हमारी साहित्य परम्परा को नवयुगानुकूल नया आलोक भी प्रदान कर सके हैं। इस दृष्टि से वे प्राचीन और नवीन साहित्य के समन्वय बिन्दु पर खड़े दिखाई देते हैं। डॉ. त्रिपाठी साहित्य की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो उसके प्रति समर्पित रही है और जिसने साहित्य को नई दृष्टि और नई दिशा दी है। कहा जा सकता है कि वे आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र की परम्परा के सशक्त वाहक हैं। उनमें शास्त्रीय परम्परा का नया परिप्रेक्ष्य दिखाई पड़ता है। विशेषता यह है कि शास्त्रीय परम्परा के आचार्य होने के बावजूद उनमें कहीं भी दुराग्रह नहीं हैं। उनके विचारों में खुलापन है। यही कारण है कि परम्परागत साहित्य शास्त्रीय अवधारणाएँ अपना नया स्वरूप उद्घाटित करती हुई प्रतीत होती हैं।

डॉ. त्रिपाठी ने साहित्य शास्त्र के कई अनूठे ग्रन्थ हमें दिए हैं, जिनमें 'लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार', 'भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा', 'साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष', 'व्यंजना और नई कविता', 'रस विमर्श' आदि प्रमुख हैं। यहाँ तक कि उन्होंने 'तंत्र और आगम' का भी अनुशीलन किया है, जो उनकी 'तंत्र और संत' तथा 'तुलसी और आगम' नामक कृतियों में देखा जा सकता है। स्पष्ट है कि उनका रचना फलक अत्यन्त व्यापक है। इन ग्रन्थों में उन्होंने साहित्य शास्त्र के विविध पहलुओं की गहन मीमांसा की है। उन्होंने साहित्य की रसवादी परम्परा का गहन अध्ययन-विश्लेषण तो किया ही है, इसके साथ ही उसे व्यापकता भी प्रदान की है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "युगोचित नवीन शैली और नवीन पदावली के आवरण में प्राचीन चिंतनाओं और तत्वों को उपस्थित करना भी उसे बढ़ाना ही है।"[१] डॉ. त्रिपाठी विश्वनाथ की रसमयता से पंडितराज जगन्नाथ की रमणीयता को अधिक व्यापक मानते हैं। आधुनिक रुचि के अनुकूल वे मानते हैं कि काव्य की उत्कृष्टता केवल रस पर ही निर्भर नहीं है। "रमणीयता केवल अलंकार प्रधान

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

काव्यों में भी मिल सकती है, पर रसमयता नहीं। 'रसमयता' के लिए तो पुष्कल रूप में विभावादि का संयोग पक्ष अपेक्षित है।"[२] उन्होंने यह भी कहा है कि "मैं यह अवश्य मानता हूँ कि काव्य वही उत्कृष्ट है जो भावोत्तेजक हो और विचारोत्तेजक वाङ्मय से इसी कारण अपना पार्थक्य रखता हो। पर यह नहीं मानता कि काव्य व्यवहार के लिए अपेक्षित चारुता का व्यवहार सर्वत्र रस पर ही निर्भर रहता है।"[३] यहीं पर वे भारतीय चिंतकों का बचाव करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। उनके मतानुसार "भारतीय आचार्यों ने यह अवश्य कहा है कि रसात्मक प्रतिमान सर्वथा उत्तम और प्रशस्त प्रतिमान है, पर यह नहीं कहा है कि सब जगह अंधा होकर उसे ही लागू करना चाहिए।"[४] रस सिद्धांत पर लगाए गए आरोपों का भी उन्होंने तर्क संगत परिहार किया है। "मेरा कहना यही है कि भारतीय प्रकृति और यहाँ के ग्राहकों के गुण धर्म को समझ कर उसके अनुरूप दृष्टि को व्यापकता प्रदान की जाए।"[५] स्पष्ट है कि उनका सोच दुराग्रही नहीं है और काव्य की आत्मा को लेकर चले इस वाद-विवाद में उनका झुकाव ध्वनि मत की ओर दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपना संतुलित निष्कर्ष देते हुए कहा है कि "उक्त सभी मतों को सिद्धांत के रूप में केवल ध्वनि मत को लिया जा सकता है, जहाँ सभी उत्तर मतगत तत्त्वों की एक अवयवी के अंतर्गत संगति व्यवस्थित हो गई है।"[६]

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी की शास्त्रीय विवेचनाओं में प्रगतिशील दृष्टि की नई झलक उनके अलंकार विवेचन में भी परिलक्षित होती है। उद्‌भट के 'काव्यालंकार सार संग्रह एवं लघुवृत्ति की व्याख्या' प्रस्तुत करते हुए उन्होंने अलंकारों का गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमें वे उद्‌भट के साथ विभिन्न आचार्यों के अलंकार सम्बन्धी मतों को प्रस्तुत करते हुए अपना सम्यक् निष्कर्ष देते गए हैं। उनका विचार है कि यद्यपि आज अलंकारों का युग नहीं है, किन्तु उनसे नाक-भौं सिकोड़ने की भी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वस्तुतः वे वचन भंगिमा हैं, अतः नाम कुछ भी दे लें उससे क्या फर्क पड़ता है? इस संदर्भ में उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण स्थापना की है कि "पुरातन अप्रस्तुतों का बहिष्कार हो सकता है, घिसे-पिटे रास्तों को छोड़ा जा सकता है, पर मूल फलात्मक या प्रभावोत्पादक काव्योचित सरणि किसे अस्वीकरणीय हो सकती है? उसे अलंकार कहना नई रुचि को न रुचे नामांतर दे लें, पर मूल अर्थ का क्या बिगड़ता है? विवाद अर्थ के सम्बन्ध में होता है– शब्द के नहीं। क्या अधुनातन बिम्ब और प्रतीक काव्योचित अभिव्यक्ति की सारणी (अलंकार) नहीं हैं?"[७] इसी प्रकार अलंकारों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण सवाल उठाया है कि "जब आचार्यों ने वाग्विकल्प का आनंत्य माना है अर्थात् अलंकारों की कोई सीमा नहीं मानी और इस तरह जब जिनका वर्गीकरण करना है– वे ही पूरी तरह मस्तिष्क में नहीं आते, तो उनके वर्गीकरण की एक सुनिश्चित रूपरेखा किस प्रकार तैयार की जा सकती है?"[८] स्पष्ट है कि डॉ. त्रिपाठी अतीत के होकर भी उससे बंधे हुए नहीं हैं। उन्होंने शास्त्रीय मान्यताओं की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

युगीन परिप्रेक्ष्य में संगत विवेचना की है। गुणों की अंतरंगता स्वीकारते हुए भी उन्होंने अलंकारों को उपेक्षणीय नहीं माना है। नाम कुछ भी दिया जा सकता है।

साहित्य-मनीषी डॉ. त्रिपाठी ने शास्त्रीय दृष्टि से लक्षणा शक्ति का गम्भीर और मौलिक विवेचन किया है। इस दृष्टि से उनकी 'लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में 'प्रसार' नामक कृति उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ में लक्षणा और उसके भेद प्रभेदों का जैसा ऐतिहासिक विवेचन हुआ है, वैसा किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं। विद्वानों का मत है कि हिन्दी तो ठीक किन्तु संस्कृत साहित्य में भी लक्षणा का ऐसा सांगोपांग विवेचन करने वाला ग्रंथ शायद ही हो। लक्षणा शक्ति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए डॉ. त्रिपाठी कहते हैं कि "लक्षणा शक्ति के बल से भाषा में ऐसी चित्रमयता आती है, जिसके कारण रस की भी इच्छा हो जाती है कि वह उन लाक्षणिक प्रयोगों के इर्द-गिर्द मंडराता रहे।"[९] डॉ. त्रिपाठी ने आधुनिक हिन्दी कविता में लक्षणा के प्रयोगगत प्रसार पर भी दृष्टिपत किया है। नई कविता के बिंब और प्रतीक विधान में लक्षणा का प्रसार देखा जा सकता है।

आधुनिक कविता में लक्षणा अपने परम्परागत स्वरूप को छोड़कर इतनी आगे बढ़ गयी है कि वह भावों के प्रवाह को सम्हाल नहीं पा रही है। डॉ. त्रिपाठी के मतानुसार "आधुनिक कविता में लक्षणा का शास्त्रीय बंधन टूटा, अनियंत्रित एवं निःसीम प्रयोग हुआ और अन्त में तो ऐसा जान पड़ता है कि जैसे अब भावों की दौड़ में लक्षणा अशक्त पड़ती जा रही है।"[१०] फिर भी लक्षणा का महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। बहुत से ऐसे प्रयोग भी हैं जहाँ व्यंजना का विधान नहीं माना जा सकता। वहाँ वे सवाल उठाते हैं कि "टेढ़ी-सीधी लकीरों एवं अशब्दात्मक साधनों से कुछ दूर व्यंजना की जा सकती है, पर जहाँ मुक्त आसंग के सहारे अर्थ खींचना पड़ता है, वहाँ शब्द की कौन-सी शक्ति कही जाए?[११] स्पष्टतः उनका इशारा लक्षणा की ओर है।

'साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष' में डॉ. त्रिपाठी ने साहित्य के विविध पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डाला है। उनके पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन की झलक भी इस कृति में यत्र-तत्र दिखाई पड़ती है। वे भारतीय परम्पराओं को पाश्चात्य साहित्य की मान्यताओं के साथ देखते हैं और उसे नए परिप्रेक्ष्य में गति प्रदान करने की कोशिश करते हैं। पश्चिमी चिन्तकों के विचारों को प्रस्तुत करते हुए भी वे भारतीय दृष्टि का समर्थन करते हुए दिखाई पड़ते हैं क्योंकि "भारतीय दृष्टि कलावादी नहीं, जीवनवादी है।"[१२]

डॉ. त्रिपाठी की शास्त्रानुमोदित दृष्टि नए युग के नए विचारों से परहेज़ नहीं करती। यही कारण है कि नए साहित्य और नई कविता को भी उनकी सहानुभूति मिली है। किन्तु उनकी सजग दृष्टि पश्चिमी साहित्य के अवांछित प्रभावों को देखना भी नहीं भूलती। साहित्य की पुरानी मान्यताओं और परम्पराओं के विरोध में आधुनिक युग में अनेक आंदोलन चले हैं। विद्रोह की धाराएँ फूटी हैं। पुरानी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परम्पराओं पर प्रहार किया गया है। डॉ. त्रिपाठी इन आंदोलनों पर अपना सुचिंतित निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि "यदि इस ध्वंसात्मक वृत्ति का लक्ष्य रचना हो, तो रचना की दृष्टि से किया गया संहार भी बड़ा ही मूल्यवान है। नई चेतना के काव्य का मूल्यांकन संप्रति इस दृष्टि से हो सकता है कि रचना की सच्ची आग उससे लिखवा रही है या सस्ते यश की दलवादी भूख।"[१३] यदि ये तथाकथित आंदोलन हमारे विकास के उपादान बन कर आते हैं तो वे उनका स्वागत करने के लिए तैयार हैं। अन्यथा उनका विचार है कि "यदि जीवन के ज्वालामुखी से सहज उच्छलित यथार्थ अनुभूतियाँ सर्जनात्मकता के संदर्भ में सांस्कृतिक विकास की कड़ी बन कर अभिव्यक्त होती हैं तो वे मूल्यवान् हैं। अन्यथा सभी नपुंसक फलतः निरर्थक और मूल्यहीन हैं।"[१४]

कहने की आवश्यकता नहीं कि डॉ. त्रिपाठी ने एक सजग समीक्षक की भूमिका का समुचित निर्वाह किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "नई प्रतिभाओं का सारा श्रम आंदोलनों और धाराओं को नए शीर्षक प्रदान कर विकृत अहमन्यता की पुष्टि करने में नियोजित हो रहा है।"[१५] आधुनिक साहित्य के अधिकांश आंदोलनों पर विचार करने से डॉ. त्रिपाठी के मत की पुष्टि ही होती है। आज साहित्य में व्यक्तिवादी स्वर अधिक सुनाई पड़ता है, किन्तु डॉ. त्रिपाठी भारतीय परम्परा के समष्टिवादी चिन्तक हैं। अतएव उनका विचार है कि "साहित्य में व्यष्टि को प्रधानता देना भारतीय दृष्टि से उसे नीचे गिराना है। यहाँ तो साहित्य द्वारा व्यष्टि का समष्टि में लय अपेक्षित है।"[१६] हमारी परम्परा में तो उसी साहित्य को श्रेष्ठ माना गया है, जो स्वांतःसुखाय होकर भी परलोकाहिताय हो। आज साहित्य के आकाश में उन्हीं महान् रचनाकारों के स्वर गूंज रहे हैं, जिन्होंने 'स्व' की सीमा को तोड़ अपने को 'पर' में विलीन कर दिया है। इसीलिए डॉ. त्रिपाठी की दृष्टि में वही छायावादी कवि श्रेष्ठ हैं, जहाँ कवि की चेतनां 'स्व' को पार करके लोकजीवन से सम्पृक्त हो गई है।

वस्तुतः अगाध पांडित्य, स्नेहिल स्वभाव और स्पष्ट विचार डॉ. त्रिपाठी के व्यक्तिव को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। उनके व्यक्तित्व में विद्वत्ता और सहृदयता का मणिकांचन संयोग हुआ है। मानव जीवन के विकास में सहायक नए चिंतकों के काव्य सम्बन्धी विचारों का भी उन्होंने अध्ययन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने महायोगी श्री अरविंद की काव्य चेतना का सूक्ष्म विश्लेषण किया है और उसके हिन्दी साहित्य पर उसके प्रभाव का आकलन भी किया है। श्री अरविंद मानते हैं कि काव्यात्मक वाणी का स्रोत अतिमानस है। काव्य अपनी चरम उत्कृष्टता में मंत्र बन जाता है। उन्होंने कहा है कि "काव्य का सत्य केवल दर्शन का सत्य या विज्ञान का सत्य या धर्म का सत्य नहीं है, क्योंकि यह असीम सत्य की अभिव्यंजना का दूसरा तरीका है। आध्यात्मिक प्रेरणा की छाया में काव्य मंत्र तब बनता है, जब वह अंतरतम् सत्य की आवाज होता है और उसे सत्य के निजी लय और वाणी की उच्चतम शक्ति में साधा जाता है।"[१७]

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अन्त में कहा जा सकता है कि डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी ने हमारे शास्त्रीय चिंतन को नया आयाम दिया है। उन्होंने दर्जनों पुस्तकें लिखी हैं, बीसियों शोधार्थियों का मार्गदर्शन किया है, अनेक साहित्य संगोष्ठियों में भाग लिया है और इन सारी व्यस्तताओं के बावजूद आज भी उनकी लेखनी अविराम चल रही है। यह बात अवश्य है कि कहीं-कहीं उनके अतिशय पांडित्य के बोझ से शैली बोझिल हो गई है किन्तु ऐसा विषयवस्तु के गम्भीर विवेचन के कारण ही हुआ है। वस्तुतः उनका साहित्यिक अवदान अमूल्य और अविस्मरणीय है। जो लोग बड़े चलताऊ ढंग से शोध करना चाहते हैं कि हींग लगे ना फिटकरी और रंग चोखा आ जाए' उनसे वे थोड़े खिन्न रहते हैं। एक बार उन्होंने अपनी यह वेदना मेरे सामने इन शब्दों में व्यक्त की थी कि "बेचारी स्याही और कलम ने क्या बिगाड़ा है?" और जो शोधार्थी परिश्रमपूर्वक अपना कार्य करते हैं उनकी वे प्रशंसा भी करते हैं। डॉ. रामप्रकाश अग्रवाल के शोधप्रबंध 'वाल्मीकि और तुलसी : साहित्यिक मूल्यांकन' को उन्होंने 'शोध-प्रबंधों की भीड़ से अलग'[१८] बताकर उसकी सराहना की थी।

संदर्भ

१. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, पृ. १६३
२. वही, पृ. १७०
३. भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. ३१
४. वही, पृ. ५८-५६
५. वही, पृ. १५१
६. वही, पृ. ४१
७. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, पृ. १७०
८. काव्यालंकार सार संग्रह और लघुवृत्ति की व्याख्या, पृ. ६४
६. लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. ४३५
१०. वही, पृ. ५५५
११. वही, पृ. ५५५
१२. साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष, पृ. ४०
१३. भारतीय काव्यशास्त्र की रूपरेखा, पृ. २२
१४. वही, पृ. ६२
१५. साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष, पृ. २२
१६. वही, पृ. २२
१७. विक्रम जर्नल, मई-नव, १६६८, पृ. ४३
१८. 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', १३ अगस्त १६६७

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२२

मिथकीय समीक्षा : स्वरूप और संभावनाएँ

डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

मिथकीय गवेषणा साहित्य के अध्ययन-विश्लेषण की नयी दिशा है। आधुनिक युग की जनवादी, मानववादी और समाजशास्त्रीय चेतना ने जहाँ मिथकों के संकलन और विवेचन की प्रवृत्ति को जन्म दिया, वहीं उसने साहित्य में उनके प्रयोग की परख और पहचान की भी प्रेरणा दी। लोक साहित्य और भाषाशास्त्र की नवीन प्रविधियों ने भी इसके रूप निर्माण में यथेष्ट योगदान दिया है। भाषिक जिज्ञासाओं के तहत उभरने वाला सर्जनात्मक समीक्षा तन्त्र, जिसे 'शैली विज्ञान' के अन्तर्गत रखा जाता है, भाषा के उद्‌भव और विकास की आरम्भिक स्थितियों की खोज के लिए मिथकों का आश्रय लेता है। मैक्समूलर ने प्रायः एक शताब्दी पूर्व इस दिशा में पहल की थी। मैक्समूलर का भाषातात्विक अध्ययन मिथकाश्रयी है और उससे भाषाशास्त्र और मिथकशास्त्र– दोनों को ही विकास के सूत्र और उपादान मिले हैं।

मिथक-विधा का जो रूप हमारे सामने है, वह बीसवीं सदी की ही देन है, जिसमें मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, और नृतत्वशास्त्र ने प्रमुख भूमिका अदा की है। भाषाविज्ञान और संरचनात्मक सर्जनात्मक समीक्षा ने इसे साहित्य क्षेत्र में बढ़ावा दिया। मिथक वस्तु के प्रतीकात्मक व्याख्यान की प्रवृत्ति ने इसे साहित्य विमर्श में महत्त्वपूर्ण बना दिया। आज जब साहित्य में मनुष्य को उसकी समग्रता में पहचानने की तीव्र ललक जाग्रत हो गयी है, तब मिथकों का अवलम्ब लेना एक अपरिहार्यता ही कही जायेगी। इसमें औद्योगिक- वैज्ञानिक सभ्यता के अतिभोग से उपजी ऊब और अपने मूल तक पहुँचने की उत्कट आकांक्षा भी शामिल है। हमें अपनी बहुत-सी समस्याओं के निराकरण के लिए मिथकों का आश्रय लेना पड़ता है। कैसिरर ने मिथक को पारिभाषित करते हुए कहा था कि वह बन्धन और मुक्ति के उस द्वन्द्व की दिशा में पहला कदम है, जिसका अनुभव मानवात्मा स्वनिर्मित बिम्ब सृष्टियों के सन्दर्भ में करती है। यह द्वन्द्व तब भी सत्य था, आज भी सत्य है। 'आधुनिक' और 'आदिम' जैसे विभेद इस मुद्‌दे पर चुक जाते हैं। फ्रेजर ने इसीलिए मिथक को 'सत्य का प्रज्ज्वलित रूप' कहा था। सुसाने लैंगर ने इसी बोध-भूमि में मिथक को 'तत्त्वमूलक चिन्तन की आदिम स्थिति' तथा 'सामान्य धारणाओं का प्रथम मूर्त रूप' बताया था। मेलिनोवस्की ने भी उसे 'आदिम वास्तविकता का कथात्मक पुनर्जन्म' बताते हुए घोषणा की थी कि विज्ञान की प्रगति मिथक को निःशेष नहीं कर सकेगी, क्योंकि वह सामाजिक व्यवस्था से सम्बद्ध रहने के नाते सदैव पुनर्जीवत होता रहता

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है और प्रत्येक ऐतिहासिक परिवर्तन अपने-अपने मिथक रचते रहते हैं। साहित्य में कलाओं का संश्लेषण तो होता ही है, मिथकीय अन्वेषणों ने उसे ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं की पारस्परिकता का भी दावेदार बना दिया है। अस्तु, इस वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता कि साहित्य-समीक्षा का एक नया आयाम युग की माँग के अनुरूप ही मिथकीय अन्वेषणों के आधार पर प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया में है। इस दिशा में डा. रमेश कुन्तल मेघ का कृतित्व उल्लेखनीय है, जो घनीभूत संश्लेषण-वृत्ति और वैचारिक संक्रमण व उनके उलझाव के कारण स्वयं में एक मिथक होने के बावजूद महत्त्वपूर्ण विचार सामग्री देता है। कुमार विमल की कलाशास्त्रीय गवेषणा मिथकीय काव्यबिम्बों के क्षेत्र में उपयोगी ठहरती है। डा० सत्येन्द्र का लोकतात्त्विक अन्वेषण भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। मिथक के स्वरूप-परिचय और उसकी साहित्यिक प्रयोजनीयता को लेकर हिन्दी में कई पुस्तकें सामने आ चुकी हैं। जिनकी अधिकांश सामग्री आयातित- प्रायः ही अनूदित होने पर भी मिथकीय साहित्य-समीक्षा की रूपात्मक संकल्पना में उपादेय सिद्ध हो रही है।

दो :- मिथक साहित्य-विधाओं के उपकारक उपकरण ही हैं, साहित्य में इनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता या विधा नहीं। विधाओं में कविता उसके सर्वाधिक निकट पड़ती है। ऐसा इसलिए है कि मिथक और काव्य दोनों ही अन्य साहित्य रूपों की अपेक्षा कला से गहनतर सम्पृक्ति रखते हैं। मिथक आदिम कला से जुड़े हुए हैं। एक प्रकार से कलाओं का जन्म मिथकों से ही हुआ है। कविता को 'कला' न भी मानें, तो भी यह तो निर्विवाद ही है कि साहित्य विधाओं में कलाओं का सर्वाधिक अवदान उसे ही मिला है।

कविता अभिव्यक्ति के उपकरणों के क्षेत्र में भी मिथकों से कम उपकृत नहीं रही है। मिसाल के रूप में मानवीकरण का शिल्प ले सकते हैं, जिसके मूल में आदिम जीववादी या सर्वचेतनावादी विचारणा (एनीमिस्टिक थिकिंग) रही है। जीववादी विचारणा आदिम मनुष्य की सहजात प्रवृत्ति थी, वह सजीव और निर्जीव में भेद नहीं कर सकता था और सम्पूर्ण गोचर जगत् को अपने जैसा ही (जीवधारी) समझता था। मनुष्यों और पशुओं के अतिरिक्त वह शिलाओं और वृक्षों तक को अपनी ही तरह सजीव मानता था। सर्वात्मवादी दर्शन का मूल यही है। पौराणिक देव कल्पना के पीछे भी यही आदिम विचारणा सक्रिय रही है। शिशुओं में यह जीववादी प्रवृत्ति सार्वभौम रूप से पायी जाती है और इसकी अभिव्यक्ति यौन अथवा भौगोलिक अन्तरों से प्रभावित नहीं होती। पेजेट ने इस प्रकार की विचारणा को आयु के साथ घटने वाला बताया है। छोटा बच्चा विश्वास करता है कि प्रायः सभी वस्तुएँ किसी न किसी समय कुछ न कुछ चेतना से युक्त अवश्य होती हैं। आगे चलकर वह केवल गतिशील वस्तुओं को चेतना सम्पन्न मानता है। अन्तिम स्तर पर वह केवल उन वस्तुओं को जीवित मानता है, जो क्रियाशीलता को जन्म दे सकती

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है, जैसे पशु और मनुष्य। वयस्कों में यह जीववाद बड़े सूक्ष्म, प्रायः असंलक्ष्य रूप में विद्यमान रहता है। यही वह वृत्ति है जो हमें नावों और कारों को स्त्रीवाची 'वह' (शी) कहकर द्योतित करने और उन्हें मानवीय गुणों से सम्पन्न रूप में वर्णित करने के लिए प्रेरित करती है। साहित्य में अतिप्रयुक्त मानवीकरण- शैली का मूल इसी में है। निदर्शन के लिए समकालीन रचनाकार की ये पंक्तियाँ ली जा सकती हैं–

तुम्हारे लिए मैं जानता हूँ यह मात्र भू स्खलन है
जबकि मेरे लिए
एक सबसे ज्यादा बुजुर्ग आदमी को
यह नंगा कर देने की घटना है।

–लीलाधर जगूड़ी

यहाँ कवि मानवीकरण का शिल्पात्मक प्रयोग न करके उसकी निर्मात्री मानसिकता को रेखांकित करना चाहता है। यह मूलतः जीववादी आदिम विचारणा ही है, जिसने प्रकृति की घटनाओं को मानवीय क्रिया-व्यापारों का रूप दिया था। आद्य संस्कार गहन सर्जनात्मक क्षणों में सभ्यता, बौद्धिकता और आधुनिकता के आवरण भेदकर रचना में उभर ही आया करते हैं।

तीन :- प्रतीकों के क्षेत्र में मिथकों का साहित्यिक प्रदेय सर्वोपरि है। प्रतीकवत्ता मिथक की विशिष्ट और निजी पहचान है। मिथकों की प्रतीकधर्मिता ही उन्हें लोककथा, लोकगाथा और इतिहास से अलग करती है।

मिथकीय प्रतीकवत्ता के प्रति विशिष्ट दिलचस्पी का उदय अठारहवीं शती के अन्त और उन्नीसवीं के आरम्भ में हुआ। क्लार्क, अर्नेस्टी, हेन, हर्मन्न आदि के द्वारा की गई ग्रीक मिथकों की पुनर्व्याख्या इस अभिरुचि के प्रमुख स्रोतों में से एक है। इनके मतानुसार प्राचीन देवता और होमर के कुछ नायक भी प्राकृतिक शक्तियों अथवा अमूर्त सिद्धान्तों की प्रतीकात्मक प्रस्तुतियाँ हैं।

मिथकीय प्रतीकात्मकता के प्रसंग में आधुनिक सांस्कृतिक नृतत्वशास्त्र के जनक टेलर का नाम उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार मिथक की प्रतीकात्मकता को समझने की कुँजी विकासात्मक परिप्रेक्ष्य में देखा जाने वाला जीववाद है। उन्होंने धार्मिक विचारों के विकास का अनुसंधान करते हुए जादुई और धार्मिक प्रक्रियाओं में निहित प्रतीकात्मक सम्बन्धों पर व्यापक रूप में विचार किया।

फ्रेजर ने 'गोल्डेन बाउ' में बलि पशु की अवधारणा के अर्थ की खोज करते हुए उसे प्रजनन, मनुष्यों और प्रकृति में होने वाले परिवर्तन और क्षय के प्रतीक के रूप में विकसित किया। उसने जादू और धर्म के क्षेत्र की प्रतीकात्मकता के नृतात्विक अध्ययन को व्यापक रूप में प्रभावित किया। उसकी परम्परा के अध्येताओं (स्पेन्सर, हेरीसन, मैलिनीवस्की, वेस्टन आदि) ने शास्त्रीय, पौर्वात्य, मध्ययुगीन और आदिम प्रतीकात्मकता का विश्लेषण किया। फ्रेजर के प्रतीक चिन्तन का प्रभाव साहित्य क्षेत्र में भी लक्षित होता है। इलियट ने 'वेस्टलैंड' की मूलभूत प्रतीक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

योजना के पीछे फ्रेजर की प्रेरणा स्वीकार की है। प्रतीक के क्षेत्र में फ्रेजर साहित्यिक और प्राणिशास्त्रीय अभिरुचियों को जोड़नेवाला अकेला व्यक्तित्व था।

फ्रायड ने अवचेतन के प्रतीकों और बिम्बों को अपना अध्ययन– विषय बनाया था, जिसे युग ने व्यापकता देते हुए सामान्यधर्मी प्रतीकों (बुद्धिमान वृद्धपुरुष, धरती मां, दिव्य शिशु, मंडल, सूर्य, चार की संख्या आदि) की सार्वभौम अस्तित्वशीलता प्रचारित की और कहा कि इनका कोई सामान्य सामूहिक उद्‌गम होना चाहिए। मिथकीय प्रतीकों का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विवेचन करने वाले अन्य अध्येताओं में पेजेट, लेवी स्त्रास, कैसिरर, विर्क आदि उल्लेखनीय हैं।

अपने यहाँ प्रतीकों का विवेचन करते हुए मिथकीय प्रतीकों को 'पौराणिक' या 'निजन्धरी' के खाते में डाल दिया जाता रहा है। प्रकृति विचार से इनका स्वतन्त्र वर्ग बनाया जा सकता है, जिसमें मानव, रूपात्मक देवता, अवतार, कथा, तन्त्र, यातुधार्मिकता आदि रखे जा सकते हैं। अवचेतन से भी सम्बन्धित बहुत से प्रतीक मिथकीय श्रेणी में आ जायेंगे। मिसाल के तौर पर ये पक्तियाँ ले सकते हैं–

(क) घन तम से आवृत धरणी है, तुमुल तरंगों की तरणी है।
मन्दिर में बन्दी है चारण, चिंघार रहे हैं वन में वारण,
रोता है बालक निष्कारण, बिना सरण-सारण भरणी है।
शत संहत आवर्त विवर्तों, जल पछाड़ खाता है पर्तों,
उठते हैं पहाड़, फिर गर्तों धंसते हैं, मारण रजनी है।

–निराला

(ख) पाता हूँ अकस्मात्, स्वयं के स्वर में
ओरांग उटांग की बौखलाती हुंकृति ध्वनियाँ
एकाएक भयभीत, पाता हूँ पसीने से सिंचित
अपना यह नग्न तन।

–मुक्तिबोध

मुक्त- आसंग की पद्धति को आधार बनाकर लिखी गयी कविताओं में अवचेतन वर्णीय प्रतीक अधिक मिलते हैं।

मिथकों के व्याख्यान की दो पद्धतियाँ रही हैं। उन्हें या तो कथात्मक स्तर पर वाच्यार्थ में ग्रहण कर लिया गया है या फिर उनके प्रतीकार्थों का सन्धान किया गया है। आधुनिक विचारकों और रचनाकारों की दिलचस्पी मुख्यतः प्रतीकार्थ निरूपण में रही है। भारत में इसकी परम्परा वैदिक युग से ही मिलने लगती है। निरुक्तकार ने वैदिक मिथकों की व्याख्या की थी। पश्चिम में यह प्रवृत्ति प्लेटो और सोफ़ी के समय से चली आ रही है। अपने यहाँ के अनेक इतिहासकारों (राधाकुमुद मुकर्जी, रमेशचन्द्र मजुमदार आदि) और रचनाकारों (प्रसाद, दिनकर, नरेन्द्र शर्मा, नरेश मेहता, अज्ञेय आदि) ने भी मिथकों में निहित प्रतीकार्थों का सन्धान किया है। कभी-कभी तो बड़े सहज रूप में बिना किसी बौद्धिक प्रयत्न के, कवियों ने मिथकों

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

के प्रतीकार्थ उभार दिये हैं–

(क) देवों की विजय दानवों की, हारों का होता युद्ध रहा।
संघर्ष सदा उर अन्तर में, जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।।

–कामायनी

(ख) रावण महिमा श्यामा विभावरी अन्धकार,
यह रुद्र राम-पूजन-प्रताप तेजः प्रसार।

– राम की शक्तिपूजा

मिथकीय प्रतीकों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है। आधुनिक युग में प्रतीकार्थ सन्धान के प्रति रचनाकारों की दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है।

चार :- बिम्ब के क्षेत्र में भी मिथक ने साहित्य को महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है। बिम्बात्मक अवधारणा काव्य की प्राथमिक प्रक्रिया कही जा सकती है। पहले कवि-मानस में साक्षात्कृत अनुभव अथवा वर्ण्य– काल्पनिक या प्रत्यक्षीकृत का बिम्ब निर्मित होता है, तदनन्तर भाषा और अन्य काव्योपकारक तत्त्व सक्रिय होते हैं। मानव जाति के आद्य काव्य मिथक– में इसलिए बिम्बों का प्राचुर्य मिलता है कि उस समय मानव की कला चेतना अपने नैसर्गिक संवेदन स्तर पर थी।

मनोविज्ञान की दृष्टि से बिम्बों का सम्बन्ध हमारे अवचेतन से है। फ्रायड का कहना है कि अवचेतन की कला का मूल स्रोत है, जिसमें मनुष्य की अतृप्त आकांक्षाएँ संचित रहती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्नायुविक दुर्बलता का शिकार कलाकार भी होता है और उसके कल्पना बिम्बों का विश्लेषण करके उसकी मानसिक असलियत तक उसी प्रकार पहुँचा जा सकता है, जिस प्रकार किसी मनोरोगी के स्वप्न, स्मृति, उन्माद आदि के बिम्बों के विश्लेषण द्वारा उसकी मनोव्याधि को समझा जा सकता है। इस विचार ने साहित्य में 'मुक्त- आसंग' की रचना शैली को जन्म दिया, जो मूलतः मनोपचार की पद्धति थी।

'सामूहिक अवचेन' की धारणा युग की बहुत बड़ी देन है, जिसने बिम्ब-विधान और रचना प्रक्रिया की जटिलता काफी कुछ सुलझा दी है। बिम्ब सामग्री का एक बड़ा हिस्सा मानव-जाति के आद्य अनुभव का है, जो सामूहिक कथा के रूप में पीढ़ी दर पीढ़ी हम तक चला आया है। यह संस्कार कोष अवचेतन की देन है और अवचेतन में ही संरक्षित है। युग का कहना है कि मिथकों की रचना इन्हीं आद्य-बिम्बों से हुई है। आचार्य शुक्ल ने भी आदिम प्रकृति रूपों और व्यापारों के प्रति सहज मानवीय सम्मोह का विश्लेषण करते हुए उन्हें सर्वाधिक काव्योपयोगी माना है। उनका मत है कि आदिम जीवन से काव्य बिम्बों की दूरी जितनी बढ़ती जायेगी, कविता की हृदय-ग्राह्यता उतनी ही कम होती जायेगी।

प्रकृति रूपों की दृष्टि से आद्य-बिम्ब को संश्लिष्ट प्रकृति चित्रण से सम्बद्ध किया जा सकता है– इस व्यतिरेक के साथ कि जहाँ संश्लिष्ट चित्रण में प्रकृति का

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कोई भी रूप आलम्बन हो सकता है, वहाँ आद्य बिम्ब केवल उन्हीं प्रकृति रूपों से सम्बन्धित हैं, जो विराट और विशद हों– यानी प्रथम दृष्टि में ही सम्पूर्ण चेतना पर हावी हो जाने वाले हों। आदिम युग में ऐसे ही रूपों (पर्वत, समुद्र, कन्दरा, आकाश, सूर्य आदि) ने मानव मन पर अमिट छाप डाली थी। इस छाप में ही प्रकृति-देवों की प्रकल्पना का उद्भव छिपा हुआ है। प्रकृति के ये दुर्धर्ष रूप उस समय अजेय और फलतः भयात्मक श्रद्धा के विषय थे। प्रकृति के ये आद्य रूप मानवीय मन पर पड़ने वाले अमिट बिम्बात्मक संस्कार के रूप में अब तक अपनी जड़ जमाये हुए हैं। यह वैविध्यपूर्ण विराट् प्रकृति जगत् ऐसे बिम्बों का अक्षय कोष है। तुलसी का यह 'आर्कीटाइप' देखें–

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत, धातु रंगमगि सृंगनि,
मनहुँ आदि अम्भोज बिराजत, सेवित सुर मुनि भृंगनि।
सिखर परसि घन घटहिं मिलति बगपांति सु छवि कवि बरनी,
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी।।

हेनरी वेल्स के वर्गीकरण के अनुसार यह समृद्ध (एक्जुरैट) बिम्ब का उदाहरण है। इस बिम्ब की शक्तिमत्ता का रहस्य यह है कि इसमें उपमान भी मिथकीय घटना-प्रसंग (आदि कमल, आदि बाराह) के हैं। 'राम की शक्ति पूजा' (निराला) में हनुमान के ऊर्ध्व-संचरण का भी बिम्ब इतना ही समृद्ध और शक्तिशाली है। प्रकृति रूपों के अतिरिक्त आद्य बिम्बों की परिधि में जीवनानुभव के अन्य पक्ष (काम, जन्म, मृत्यु, फसल, संघर्ष आदि) भी आ जाते हैं।

मिथकीय बिम्बों में 'किमाकार' (ग्रोटेस्क) भी आद्य-बिम्ब जैसा ही सर्वातिशायी है। 'किमाकार' मिथकों का सर्वसामान्य और सुपरिज्ञात लक्षण है। शायद ही कोई मिथक किमाकार रहित हो। प्रायः सभी प्रसंगों में पाठक को 'अपरिमाप्य परिमाप' से टकराना होता है। किमाकार अपनी आकस्मिकता और आतंककारी विलक्षणता से पाठक की कल्पना को विजड़ित कर देते हैं। इनकी शक्ति इतनी अदम्य होती है कि पहली दृष्टि में हमारा ध्यान इनके प्रतीकार्थों की ओर नहीं जा पाता, इनका बिम्बात्मक प्रत्यक्षीकरण ही हमें विस्मयाभिभूत कर देता है। जायसी का एक 'किमाकार' देखें–

लंका कर राकस अति कारा। आवै चला होइ अंधियारा।।
पांच मूड़ दस बांही ताही। दहि भा सांव लंक जब दाही।।
धुँआ उठे मुख सांस सँघाता। निकसै आग कहै जो बाता।।
सेतुबंध' सुनि राकस हँसा। जानहु सरग दृष्टि भुँइ खसा।।

मिथकीय बिम्बों के अन्य प्रकारों में ब्रह्माण्डीय (कॉसिमक), यातुधार्मिक, निजन्धरी, प्रत्ययात्मक आदि रखे जा सकते हैं।

पाँच :- मिथकाश्रयी साहित्य का मूल्यांकन करते समय 'ह्यूमर' पर विचार करना आवश्यक है। 'ह्यूमर' किमाकार की ही तरह मिथकों का सर्वसामान्य लक्षण

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है। सामान्य जीवन में हास-परिहास की कमी नहीं और साहित्य में भी व्यंग्य, विदूषकत्व, हास्य- रस आदि के रूप में उसकी स्वीकृति और अभिव्यक्ति मिलती ही है। मिथकीय विनोद वृत्ति इनमें कुछ भिन्न प्रकार की होती है। मिथक जीवन के गहन और व्यापक अनुभवों को वैचित्र्यपूर्ण कल्पनाओं, प्रतीकों, बिम्बों तथा अभिप्रायों (मोटीफ) के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं, अतः इनकी विनोदात्मकता भी अपने में गम्भीर प्रयोजन रखती है।

'ह्यूमर' को पहली बार दिलचस्प विषय के रूप में ढालने वाले रोमांटिक रचनाकारों को हास्य अथवा रोचक विदूषकत्व ने उतना आकर्षित नहीं किया था जितना कि वे उस स्मित हास से अभिभूत हुए थे, जो ऊब और घुघुअन से मुक्ति का एहसास देता है। सामान्य व्यवहार में इसका जो क्रियापरक (टु ह्यूमर) अर्थ (बहलाना, हल्ला करना) मिलता है, वही इसका वास्तविक रूप है। मिथकीय 'ह्यूमर' इसके अतिरिक्त सदैव चरम महत्त्व की सामग्री से सम्बद्ध होता है। उसके अन्तर्गत जो कुछ हास्यजनक होता है, वह सहसा किसी अकल्पनीय या अस्वीकार्य कोटि के वस्तुविषय का संकेत द्वार खोल देता है।

'ह्यूमर' को हास्यरस में अन्तर्भुक्त करना युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता। हास्य के अन्तर्गत इसे 'स्मित' की प्रकृति के निकट कह सकते हैं। मिथकीय ह्यूमर विशिष्ट होता है और इस रूप में यह अद्भुत रस के अधिक सन्निकट है। किमाकार (ग्रोटेस्क) के प्रसंग में यह 'भयानक' की भी सीमा छू लेता है, यद्यपि रसानुभूति के स्तर तक नहीं पहुँचता है। ह्यूमर में अन्ततः रंजन का गुण होना चाहिए, न कि त्रास का। रसानुभूति के लिए अपेक्षित सावयवता का मिथकीय विनोद में होना आवश्यक नहीं, यद्यपि हास्यरूप के मूल में मानव की यह सहजात विनोद वृत्ति ही है। 'रस' की धारणा पहले दर्शन क्षेत्र में आयी, उसके बाद काव्यशास्त्र में। ह्यूमर का इसके विपरीत, न केवल दर्शन से कोई सरोकार नहीं, अपितु इसके लिए दार्शनिकता अवांछनीय भी है। यह मानव की मूल विनोदवृत्ति से सीधे सम्बद्ध है।

छ :- मिथकाश्रयी साहित्य पर विचार करते समय अतिप्राकृत और अवचेतन को भी दृष्टिपथ में रखना होगा। स्वयं 'मिथ' का रहस्यपरक अर्थ उसे सबसे पहले अतिप्राकृत' और 'अवचेतन' से जोड़ता है। काव्यगत मिथकतन्त्र से इनका गहरा सम्बन्ध है। मिथक जिस 'अतिप्राकृत' को ठोस सत्य के रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह 'अवचेतन' के माध्यम से हमारी सांस्कारिक या सांस्कृतिक विरासत बन जाता है। न चाहते हुए भी हम प्राचीन विश्वासों को पूरी तरह नकार नहीं पाते। काव्यजगत् में इनकी भूमिका और भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं क्योंकि कविता प्रकृत्या मिथकधर्मी होती है। ऐसा न होने पर वह इतिवृत्त बनकर रह जाती है।

अतिप्राकृत और अवचेतन को एक-दूसरे से काटकर नितान्त असम्पृक्त नहीं रखा जा सकता। जादुई कर्मकाण्डों और लोकविश्वासों में अवचेतन की भूमिका कम महत्त्वपूर्ण नहीं कही जा सकती और इसी प्रकार फन्तासी की जादुई संरचना

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

को नकारना संभव नहीं। इस दृष्टि से मिथक– वस्तु को रचनातन्त्र के विचार से दो वर्गों में बाँट सकते हैं– यातुवर्गीय और फन्तासी वर्गीय। प्रथम वर्ग में चमत्कार, सिद्धियाँ, मन्त्रोपचार, जादू-टोना आदि रखे जा सकते हैं और द्वितीय में फन्तासी, स्वप्न, दिवास्वप्न, प्रज्ञादर्शन आदि को लिया जा सकता है, व्यापक रूप में प्रथम वर्ग अतिप्राकृत– प्रधान है और द्वितीय अवचेतन प्रधान।

अतिप्राकृत वर्ग का एक सशक्त अनुषंग है जादू, जिसका कलात्मक (रूपकात्मक, प्रतीकात्मक) पहलू मन को तीव्रता से बांधता है। प्रतिमा-निर्माण के माध्यम से जादू कलाओं की श्रेणी में आ जाता है। पाश्चात्य परम्परा में चित्रकार और मूर्तिकार को शिल्पकारों के हुनर से जोड़ा जाता है, जो किसी प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा कर सकते हैं। लोकगीतों में सौन्दर्य तात्त्विक दृष्टि से प्रतिमाएँ बनाने वाला कोई जादूगर या ओझा हुआ करता है और कवि एक ऐसा पागल, जो अपने उन्माद में काव्य-रचना कर सकता है और करता है। आधुनिक कवि यीट्स की कविता में जादुई प्रतीकात्मकता से युक्त उन बिम्बों की प्रचुरता है, जो आदिम कवि की मन्त्रात्मक क्षमता की ओर संकेत करते हैं, उसके स्मारक हैं। कला के इतिहासकार वारिंगर ने जादुई रूपकों को प्रकृति के सार रूप में देखा है।

आधुनिक युग में जादुई विश्वासों की चर्चा कुछ अटपटी लगती है, क्योंकि हम उस 'आदिम' से बहुत दूर चले आये हैं, जहाँ अतिप्राकृत शक्तियों पर मन्त्रों और अनुष्ठानों के द्वारा हावी हुआ जाता था। आज हम वैज्ञानिक साधनों से प्रकृति पर यथार्थ रूप से हावी हो गये हैं और निरंतर होते जा रहे हैं। लेकिन फिर आज की उदग्र काव्य- मनीषा इस प्रकार के 'छन्द' क्यों रचती है–

(क) झकझक झलकती वन्हि वामा के दृग त्यों-त्यों,
पश्चात् देखने लगी मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु मुक्त ज्यों बँधा मैं हुआ त्रस्त।

–निराला

(ख) वाग्देवता की यज्ञ-ज्वाला जब तक अभी
धधकती है मेरी इस आविष्ट जिह्वा पर।

–अज्ञेय

मंत्रशक्ति का चमत्कार 'साकेत' में, काला जादू 'लोकायतन' में तथा दिव्य चमत्कार का रूप 'कामायनी' में देखा जा सकता है।

मानवशास्त्र के अध्येताओं का कहना है कि संरचनात्मक दृष्टि से मानव में 'आधुनिक' और 'आदिम' जैसा विभेद निराधार है। मानसिकता के स्तर पर 'सामूहिक अवचेतन' और 'सामूहिक मन' हमें आद्य मानस से बहुत कुछ जोड़े हुए है। जहाँ तक कविता की बात है, वह रचनाशील मन की उपज है। वैदिक और प्राग्वैदिक मन्त्रकार भी कवि थे। जिस प्रकार आद्य युग में 'मन्त्र देवता' का आवाहन होता था, उसी प्रकार आज भी 'काव्यदेवता' जो प्रकारान्तर से मन्त्रदेवता ही है, का स्तवन,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वन्दन और आवाहन होता है। कल्पना के स्तर पर 'अतिप्राकृत' के प्रति हमारी अभिरुचि शायद कभी निःशेष नहीं हो सकेगी। इस आस्था की जड़ें इतनी गहरी हैं कि इस बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भी, आधुनिक सभ्यता में रचे-बसे और उसके पक्षधर होने के बावजूद हम उसके संस्कार को एकदम तोड़ नहीं पाते।

अज्ञेय की एक प्रसिद्ध कविता है 'असाध्य वीणा'। यह कथा प्रसंगात्मक कविता अपने रचनातन्त्र और कथ्य में समग्रतः यातुधार्मिक कही जा सकती है। कथावस्तु विरल है, जिसे यातुधार्मिक प्रक्रियाओं के संयोजन से एक खास ढंग का मोहक भराव दिया गया है। कथाप्रसंग केवल इतना है कि किसी राजा को उत्तराखण्ड के गिरि प्रान्तर से एक रहस्यमयी वीणा प्राप्त हुई है, जिसका निर्माण किसी वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत किरीटी तरु से किया था, इस वीणा को कोई मुखरित नहीं कर सका है, राजा के निवेदन पर गुफा गेह प्रियवंद केश कम्बली उसे अपने मन्त्रबल से बिना स्पर्श किये ही झंकृत कर देता है। यहाँ वीणा अपनी 'असाध्यता' में व्याधिग्रस्त आलम्बन के रूप में तो है ही, साधक की वास्तविक क्षमता की परख के लिए एक कसौटी, एक चुनौती भी है।

सात :- मिथक लोक स्वप्न, फन्तासी और 'विजन' का रहस्यलोक है। स्वप्न मिथकीय रचनातन्त्र का पर्यावरण रचता है, फन्तासी विस्मयकारी मिथक बिम्बों के रूपाकार खड़े करती है और 'विजन' मिथकीय संसार के स्वप्निल खाके उरेहते हैं। काव्य में मिथकीय माहौल का ताना-बाना इन्हीं के संयोजन से बुना जाता रहा है। यह संयोजन संश्लेषणात्मक हुआ करता है, यद्यपि स्वतन्त्र रूप में भी ये अपनी मिथक धार्मिता के कारण कम प्रभावशाली नहीं रहे हैं। मिथक जिस कालातीत काल और लोकातीत लोक की बात करते हैं, वहाँ तक पहुँचने के लिए इनका आश्रयण सिर्फ़ अपरिहार्य कहा जा सकता है। आदिम मनुष्य में ये अधि– मानवीय विशिष्टताएँ अपने निसर्गसिद्ध उदग्र रूप में विद्यमान थीं। आज का आदमी इन आद्य प्रातिभ उच्छलनों से बहुत दूर पड़ गया है, क्योंकि अपने व्यस्त जीवन में उसे पीछे मुड़कर देखने का अवकाश नहीं मिल पाता। सभ्यता और संस्कृति के अनेकविध आवरणों ने उसके मूल स्वभाव को बड़ी निर्ममता से मन के हिन्दी अंधेरे कोनों में दबा दिया है। कवि इसीलिए आधुनिक समाज में बहुत सुविधापूर्वक रूप नहीं पाते कि उनमें नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा या प्रतिभा का यह उत्तराधिकार बहुत कुछ अपने मौलिक रूप में सुरक्षित है। अक्सर वे उसी महाकाल (ग्रेट टाइम) और कल्पलोक की ओर प्रत्यावर्तन करते रहे हैं, जो आद्य युग के लिए वास्तविक बोधविषय था। अन्तर यह है कि जहां आदिमयुगों का मान यातुधार्मिक मन्त्रों और अनुष्ठानों के द्वारा देशकालातीत को प्रत्यक्ष कर लिया करता था, वहां कवि उसे भाव-साधना के द्वारा अनुभूय बना लेता है। उसे अपनी आदिम कल्पनात्मक क्षमता के संवर्धन और उपयो की अधिकाधिक आवश्यकता इसीलिए अनुभव होती रही है। वह सारा कर्मकाण्ड कवि के लिए आन्तरिक यज्ञ बन गया है। मुक्तिबोध की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'फन्टासिटक' मानस भूमियों में क्या किसी आदिम यज्ञ से कम विस्मयातंक है।

वृत्त कथन के भी कुछ अपने कुछ विशिष्ट प्रतीकात्मक मुहावरे होते है। जो अखण्ड दिक्काल का अवबोध कराते हैं। अंग्रेजी को परी-कथाओं में 'वन्स अपान एटाइम' और 'देयर बाज' से होने वाली शुरुआत हमें दिक्काल के एक-दूसरे ही आयाम में ले जाती है, जिसे ऐतिहासिकेतर कह सकते है। संस्कृत में 'एकदा', 'एकस्मिन् समये', 'कस्मिंश्चित्प्रदेशे' जैसे मुहावरे इसी निरवधि देशकाल के प्रवेश द्वार का काम करते हैं। हिन्दी की 'एक था राजा' और पंजाबी लोक कथाओं की 'इक तीते राजा सी' जैसी कथारंभ शैलियाँ उस लोक की कुंजी हैं, जहां के दिक्काल हमारे लिए अजनबी और रोमांचक होते हैं, जहां हमारे सामान्य अनुभव के कार्यकारण सम्बन्ध स्थगित हो जाते हैं और जहां की घटनाएं हमारी अनुभव परिधि का अतिक्रमण करने वाली होती हैं। इस रहस्यलोक में यदि कोई तर्क चल सकता है तो वह मुक्त कल्पना और फन्तासी का ही हो सकता है। यहां यह कहना प्रासंगिक होगा कि देशकाल से परे ले जाने वाली यह फन्तासी या शैली अनिवार्यतः पलायनवादी ही हो, आवश्यक नहीं। स्थिति इसके विपरीत भी हो सकती है। अपने देशकाल को सही रूप में परखने के लिए भी हमें कभी देश कालातीत यानी निष्पक्ष होना पड़ता है। व्यंग्यपरक और यथार्थवादी रचनाओं की रहस्य सृष्टि के पीछे यही फन्तसीय तर्क क्रियाशील रहा करता है।

मिथकधर्मी रचनाओं में यह शैली कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है, कहने की आवश्यता नहीं। पाठक को उसकी वास्तविक वर्तमानता से काटकर मिथकीय वर्तमानता में ले जाने के लिए पुरावृत्तों का आरंभ इसी शैली में किया जाता रहा है। पाठक का बिना यह जिज्ञासा किस कि 'कौन था', 'कहां था' और 'कब था' कथाप्रवाह में बहने को तैयार हो जाना उसमें अवचेतन आस्थावृत्ति के समुदाय का सूचक है। इतनी सर्वातिशायिनी शक्ति है इन आदिम मुहावरों में कि हम उनके सम्पर्क में आते ही बदल जाते हैं, दूसरे हो जाते हैं। आदिम युग में मनुष्य मन्त्रों और कर्मकाण्ड से अपने को 'नया' कर लेता था, अब उस दायित्व को एक महत्वपूर्ण सीमा तक फन्तासी निवाहती है। मिसाल के तौर पर 'कामायनी' के आरम्भ का छन्द ले सकते हैं। पहली पंक्ति में स्थान (हिमगिरि) का वास्तविक निर्देश है। मिथकतन्त्र की दृष्टि से प्रवेशक उक्ति के रूप में यह निःसत्व है क्योंकि यह ठोस भौगालिक है। अगली पंक्ति इस त्रुटि को सुधारती है– – 'एक पुरुष' के माध्यम से। पुरुष का ऐतिहासिक परिचय न देकर उसे मात्र पुरुष रहने दिया गया है, जो सर्वकालीन है, सार्वभौम है। पहली पंक्ति की अप्रासंगिकता दूसरे छन्द के 'इस दार्शनिकीकरण से मार्जित की गयी है कि पुरुष जिस हिमशिला की शीतल छांह में बैठा हुआ है, वह भौगोलिक दृष्टि से तो हिमालयीय हो सकती है, किन्तु तात्विक दृष्टि से उसमें और उस जल में कोई अन्तर नहीं जो अनन्त अछोर रूप में इस क्षितिज से उस क्षितिज तक फैला हुआ है, लहरा रहा है। भौतिक जल का

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कॉस्मिक जल में यह रूपान्तरण इतनी सशक्त फन्तासी है कि पहली मूल का परिहार की नहीं होता, वह गुम हो जाती है। फन्तासी का यह सशक्त रूप इसीलिए सामने आया कि पहले के ऋणात्मक प्रभाव को घनात्मक बनाकर सही दिशा में अग्रसर हुआ जा सके। आगे माहौल बन जाता है। हम व्यक्ति को भूल जाते हैं— हमारे सामने होती है वह देवजाति जिसकी निर्बाध विलास-लीलाओं, अनन्त समृद्धियों और विपुल क्षमताओं को इस अथाह अपार सृष्टिजल ने निगल लिया है। प्रलय की पूरी कहानी कह चुकने के बाद कवि अगले सर्ग के आरंभिक चरित्र को लेकर इतना व्यापक और प्रभावशाली बन चुका है कि ऐतिहासिक नाम रूप उसके प्रसंग में आरोपित जैसे लगने लगते हैं।

आठ :- मिथकों में फन्तासी का उपयोग व्यापक और विशिष्ट रूप में होता है। फन्तासी उन घटनाओं को लेकर क्रियाशील होती है जो वास्तविक जीवनमानों के परिप्रेक्ष्य में असंभव होती है, किन्तु मिथकों के प्रसंग में इसे मात्र अतिप्राकृत तत्त्व के सन्निवेश तथा सामान्य अनुभवगत सम्बन्धों व साहचर्यों की विश्रृंखल और विस्मयकारी अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। फन्तासी अपेक्षाकृत अवचेतन से अधिक सम्बद्ध है।

मनुष्य प्रायः अपना सारा समय किसी न किसी प्रकार की मानसिक क्रिया करते हुए व्यतीत करता है, जिसका बृहत्तर भाग व्यवस्थित चिन्तन का न होकर आन्तरिक अनुभव के टुकड़ों और विस्फोटों का हुआ करता है– जैसे दिवास्वप्न, पूर्वस्मृतियां, घुमड़ते हुए आन्तरिक एकालाप, जीवन्त बिम्ब और स्वप्न। असम्बद्ध अनुभवों का यह पुंज प्रायः ही प्रभावशाली हुआ करता है, कभी-कभी सहज भी। यह अनुभव राशि मानवीय व्यक्तित्व की शैली और उसके सत्व की निर्मित में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मानव का मानवपन ही उनमें आन्तरिक रोचकता और मूल्यवत्ता की सृष्टि करता है।

फन्तासी की सीमाएँ निश्चित करने के लिए कोई व्यवस्थित और सर्वस्वीकृत कसौटी नहीं। अधिकतर अन्वेषक इस बात पर सहमत हो सकते हैं कि किसी वस्तुविषय का गत्यात्मक रूप फन्तासी की श्रेणी में आ सकता है, यदि उसकी निर्मिति विशुद्ध स्वान्तः सुखाय हुई हो। इस प्रकार की विशुद्ध स्थितियाँ मिलती भी है। क्लिंगर के मतानुसार आन्तरिक अनुभवों के अन्तर्गत कथा-निर्मितियों, योजना-निर्माण, अतीतानुचिन्तन, बीती हुई घटनाओं का विश्लेषण, आगामी स्थितियों की पूर्वकल्पना, स्वयं से प्रश्न करना, लघु प्रसारवली विविध स्मृतियों में डूबना, विश्रृंखल बिम्बों के प्रति लगाव, स्वप्नानुभव आदि इसके घटक हो सकते हैं, यह जानने का दावा कोई भी नहीं करता कि किसी फन्तासी का निश्चित रूप से कहां अंत होता है, जिसके आगे उससे सम्बद्ध किन्तु दूसरी प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। प्रकट है कि फन्तासी में अतिप्राकृत की अपेक्षा अवचेतन की भूमिका कहीं अधिक वृहत्तर और गहनतर हुआ करती है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मिथकों में फन्तासी के स्तरों की बहुलता और विविधता मिलती है। मानवरूपात्मक देवताओं की रूप कल्पना में फन्तासी का रंग कुछ हल्का रहता है। मिथक के 'फन्टास्टिक' रूपाकारों में आते हैं दैत्य, दानव और पशु जिनमें अतिप्राकृत क्षमताएँ होती हैं, तथा ऐसे नायक जो उड़ सकते हैं, अपना रूप बदल सकते हैं और आकाश तक जा सकते हैं। इन्हीं के साथ जुड़ी हुई हैं अनेक फन्टास्टिक वस्तुएँ– जैसे जादुई अँगूठियाँ, वे शाखाएँ, तलवारें या पत्तियाँ जिनमें मनुष्य की आत्मा कैद है, और वह सारा प्रकृति परिवेश जो रहस्यात्मक क्षमता से परिपूर्ण है। कुछ फन्तासियों में जादू ही केन्द्रीय तत्त्व के रूप में होता है। प्रकट है कि उनमें कल्पनात्मक क्षमता कम हो जाती है। पर आम तौर से कल्पना की कटौती कम ही की जाती है। कुछ दानववर्गीय फन्तासियाँ शैशव के आतंकों और कल्पनाओं का प्रक्षेपण हो सकती हैं। मिसाल के तौर पर हवा में उड़ते की शक्ति रखने वाले और भयानक प्रतिपक्षियों को सरलतापर्वक पछाड़ देने वाले नायक लिये जा सकते हैं, जो अवचेतन में दबी हुई सम्पूर्ण शक्ति और सम्पूर्ण स्वतन्त्रता की महत्त्वाकांक्षा के परिचायक होते हैं। कथात्मक परम्परा में उनके साथ कुछ अन्य अभिप्राय (मोटीफ) भी जुड़ जाया करते हैं, जो अपेक्षाकृत कम वैयक्तिक होते हैं।

फन्तासी के साथ स्वप्न का आवयविक तालमेल रहा करता है। स्वप्न मिथकों के समान, हमारे समक्ष विषयों, स्थानों, कालों', संगतियों और शैलियों का फन्टास्टिक घमंजा प्रस्तुत करते हैं। उनका संवेगात्मक तेवर विश्रृंखलता के साथ शान्ति से आतंक, गहरी सम्पृक्ति से भावहीन निरीक्षण में परिवर्तित हो सकता है। मिथकों के समान उनमें सूक्ष्म विवरण अथवा एक प्रकार की दृष्टिगोचर चमक और प्रखर यथार्थवाद से बेरंग निर्लिप्तता तथा अमूर्तन पर फिसल जाने की अटपटी प्रकृति हुआ करती है। स्वप्न अपनी अभिव्यक्ति पद्धति में अपूर्वभाष्य होते हैं, उनका एक विषय या बिम्ब बोधगम्य सम्बन्धशीलता के साथ दूसरे विषय या बिम्ब को उभार सकता है, किन्तु यह बहुत संभव है कि दूसरा विषय किसी स्पष्ट कारण के बिना ही पहले से एकदम भिन्न रूपाकार ग्रहण कर ले। मिथकों में भी इस प्रकार का ऊलजलूलपन लक्षित किया जा सकता है।

फन्तासी का संसार मनोरचना का संसार है। मन की ही तरह फन्तासी की रचनाशीलता जटिल, कौतुकपूर्ण और आकस्मिक हुआ करती है। 'कामायनी', 'उर्वशी' और 'सत्यकाम' में फन्तासी के इसी वैशिष्ट्य का चमत्कार और आकर्षण है। मनु में मन की प्रतीकार्थता होने के कारण 'प्रसाद' को 'कामायनी' में फन्तासी की माया सृष्टि रचने की विशेष सुविधा रही है। मसलन 'इड़ा' और 'काम' संर्गों में काम का जो छायामूर्तन हुआ है, वह एक बेमिसाल फन्तासी है। 'काम' सर्ग में कवि ने इस रहस्य को कदाचित स्वयं खोलना चाहा है–

मनु डूब चले धीरे धीरे रजनी के पिछले पहरों में।
उस दूर क्षितिज में सृष्टि बनी स्मृतियों की संचित छाया से,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस मन को है विश्राम कहाँ चंचल यह अपनी माया से।
जागरण लोक था भूल चला, स्वप्नों का सुख संचार हुआ,
कौतुक सा बन मनु के मन का वह सुन्दर क्रीड़ागार हुआ।
था व्यथित सोचता आलस में चेतना सजग रहती दुहरी,
कानों के कान खोल करके सुनती थी कोई ध्वनि गहरी।।

फन्तासी में चेतन और अवचेतन के मनःस्तर घुले-मिले रहते हैं। चेतन का सम्बन्ध उस वर्तमानता से है, जो स्मृतियों में डूबने के लिए बाध्य करती है और जिसका रूपान्तरण होता है। फन्तासी का यह आधारभूत सोपान है। अलस चिन्तन, तन्द्रिल कल्पनाशीलता के द्वारा इस पर स्वप्निल आवरण पड़ने लगते हैं। फिर सारा कुछ एक स्वप्न में ढल जाता है, जिसमें अतीत का अनुभव पुंज (स्मृति) वैचित्रयपूर्ण संयोजनों के रूप में उभरता है। यहाँ मनु के फन्तासीय अनुचिन्तन में 'काम'— मन की आद्य प्रवृत्ति मानों मनु को ही आत्म परिचय देती है। है यह मनु का आत्म-मनन, किन्तु कल्पनात्मक वैशिष्ट्य के योग से इसका रूप नाटकीय साक्षात्कार जैसा हो गया है। छायाभास (हैत्युसिनेशन) का सर्वाधिक प्रभावशाली रूप 'इड़ा' सर्ग में देखने को मिलता है, जहाँ मनु अपनी मनः सृष्टि को अपने सामने प्रत्यक्ष खड़ी देखकर चौंक उठते हैं— 'यह कौन? अरे फिर वही काम।'

'हैल्युसिनेशन' की स्थिति तनाव के कारण उत्पन्न होती है और यह मानसी छायाप्रतिभा किसी हद तक मनस्ताप देती है। छाया विभ्रम की इस स्थिति में इन्द्रियों की सांवेदनिक क्षमता कम हो जाती है। ऐन्द्रिक ह्रासीकरण (सेन्सरी डिग्राइवेशन) की मनोवैज्ञानिक पद्धति के द्वारा जब वयस्कों में ऐन्द्रिक क्षमता घटा दी जाती है, तो विचारशीलता और जागरूकता शब्दाश्रयी न रहकर चित्राश्रयी हो जाती है और यदि ह्रासीकरण देर तक टिकने वाला और प्रखर कोटि का हुआ तो व्यक्ति 'हैल्यूसिनेशन' की स्थिति में आ सकता है, जिसमें व्यक्ति अपने आन्तरिक बिम्बों को अपने भीतर अनुभव करने के बजाय, बाहर यानी अपने सामने प्रत्यक्ष देखने लगता है। इन आभासों में मानस बिम्ब तथा स्वप्न प्रधान होते हैं, यद्यपि इन्हें स्वप्न का पर्याप्य नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार के आभासों की वास्तविकता-अवास्तविकता को स्पष्ट करने के लिए लीविस ने 'मैकबेथ' का विख्यात प्रसंग चुना है। मैकबेथ एक 'कटार' देखता है। इस कटार को दूसरे नहीं देखते, उसकी जानकारी भी उन्हें मैकबेथ से सूचना मिलने पर होती है। यह बिल्कुल व्यक्तिगत अनुभव है और उस प्रकार सार्वजनिक निरीक्षण का विषय नहीं है, जिस प्रकार समुद्र में प्रतिबिम्बित होने वाला लंगर या स्तंभ। फिर भी 'कटार' तब तक कटार नहीं होगी, जब तक इसमें देशात्मक लक्षण (स्पेशियल क्वालिटीज) न हो। इसमें आकारता और सावयवता है। इसका फलक इसकी मूठ से दोगुना लम्बा हो सकता है। यह मान लेने का कोई कारण नहीं कि इसकी रूपरेखा किसी भी प्रकार से धूमिल है। मैकबेथ कटार को 'अपने सामने'

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

देखता है, जिसकी 'मूठ उसके हाथ की ओर' है। न तो यह कमरे के दूर कोने में हैं, और न दायें-बायें। यदि यह मेज पर होती, तो वह इसे किसी चाकू की ही तरह निर्दिष्ट कर सकता था। मैकबेथ यद्यपि इस कटार को पकड़ नहीं सका, तथापि सशक्त 'हैल्यूसिनेशन' की स्थिति में ऐसा न हो पाने का कोई कारण नहीं। ध्वनिश्रवण तक तो इस स्थिति का विकास निश्चत रूप से हो जाता है। मनु का कामाभास इसी श्रेणी का है। तनाव की स्थिति उनमें है ही। उनकी आत्मग्लानि इतनी प्रबल है और अतीत पर, अचल स्थापन (फिक्सेशन) इतना गहरा कि उन्हें अपने मानसिक प्रतिरूप की आवाज गूँजती हुई सुनायी पड़ जाती है–

जब गूँजी यह तीखी वाणी कम्पित करती अम्बर अकूल,
मनु को जैसे चुभ गया शूल।

उनके मनोद्वन्द्व और दुःस्वप्नात्मक मनः स्थिति का चित्रण पहले ही कर दिया गया है–

यो सोच रहे मनु पड़े श्रान्त।– – –
वह पावन सारस्वत प्रदेश दुःस्वप्न देखता पड़ा क्लान्त।
– – – – – फैला था चारों ओर ध्वान्त।।
वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीन।।

इस फन्तासी का चरम रूप वहाँ है जहाँ मनु काम से प्रश्न करते हैं (फिर क्यों न हुआ मैं पूर्ण काम) और वह उत्तर देता है (मनु उसने तो कर दिया दान)। यहाँ मनु चेतन स्तर से बिल्कुल कट गये हैं और उनका व्यक्तित्व 'न्यूरोटिक' हो उठा है। फन्तासी में 'न्यूरोसिस' का तत्त्व सामान्य रूप से होता ही है, यद्यपि बिम्बों के साथ फन्तासियों का भी अध्ययन विश्लेषण होता रहा है। काव्यगत और व्याधिपरक फन्तासियों का मूलभूत अन्तर यह है कि प्रथम अन्ततः सर्जनात्मक होती है, जबकि व्याधि दशा की फन्तासी अनर्गल तथा ऊलज़लूल होती है, प्रथम का उन्मेष कवि की प्रतिभ उदग्रता के कारण होता है, जबकि मनोरोगग्रस्त मनुष्य अपनी मानसिक व्यवस्था के ध्वस्त हो जाने के कारण विचित्र और भयावनी कल्पनाओं का शिकार हो जाता है। संस्कार दोनों के पीछे होते हैं, किन्तु उनकी सार्थकता-निरर्थकता का निर्धारण मानसिकता के अनुरूप हुआ करता है।

संदर्भ

१. रस मीमांसा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
२. साहित्य सिद्धान्त, डा० रामअवध द्विवेदी
३. कामायनी, मिथक और स्वप्न, डा० रमेशकुन्तल मेघ
४. लोक साहित्य विज्ञान, डा० सत्येन्द्र
५. कला विवेचन, डा० कुमार विमल

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

६. मिथक और साहित्य, डा० नगेन्द्र
७. पुराख्यान और कविता, डा० लक्ष्मीनारायण शर्मा
८. अज्ञेय, सं० डा० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
६. मिथकीय कल्पना और आधुनिक काव्य, डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव
१०. द माइथोलाजी आव आर्यन नेशन्स, सर जार्ज डब्ल्यू० काक्स
११. द मिथ आव् द वर्थ आव द हीरो, ओटो रैंक
१२. इल्यूजन ऐंड रियलिटी, क्रिस्टफर काडवेल
१३. द फिलासफी आव सिम्बालिक फार्म्स, ई० कैसिरर
१४. थ्योरी आव लिटरेचर, रेने वेलेक
१५. द इन्टरप्रिटेशन आव ड्रीम्स, फ्रायड
१६. युंग्स साइकोलोजीऐंड इट्स सोशल मीनिंग, आई० प्रोग्रोफ
१७. द इल्यूसिव माइंट, एच० डी० लीविस
१८. मिथ ऐंड रियलिटी, मर्सिया इलियादे
१६. मिथ : इटस् मीनिंग ऐंड फक्शन्स, जी० एस० किर्क
२०. द फ्रीडम आव मैन इन मिथ, के० डब्ल्यू० बाल
२१. द इवोल्यूशन आव कल्चर : साइको एनलिसिस एंड हिस्ट्री, सं० ब्रूस मेज्लिश
२२. मिथस एंड सिम्बल्स इन इडियन आर्ट एंड सिविलिजेशन, एच. जिमर
२३. स्ट्रक्चर एंड फक्शन्स आव् फैन्टेसी, एरिक क्लिंगर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२३

रंगकर्म की भारतीय परंपरा : सामान्याभिनय

डॉ. त्रिभुवननाथ शुक्ल

आचार्य अभिनव गुप्त ने अभिनव भारती में "सामान्याभिनय" पद की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इसमें 'सम', 'अन्य' और 'अभिनय' ये तीन शब्द हैं। यहाँ 'अन्य' इसका अर्थ उपरंजक है। अतः अन्य और अभिनय इसका द्वंद्व समास हुआ, जिससे अन्याभिनय शब्द बना। फिर सम और अन्याभिनय का द्वंद्व समास किया तब, 'सामान्याभिनय' शब्द बना, इससे भव अर्थ में अण् प्रत्यय होने पूर्वपद में वृद्धि होकर 'सामान्याभिनय' शब्द बना। अमरकोष के अनुसार व्यंज्ज्काभिनयोसमो, से अभिनय शब्द पुल्लिंग ही है। किंतु अभिनव भारती में" अन्यच्च अभिनयं च अन्याभिनयम्। समञ्च अन्याभिनयञ्चेति सामान्याभिनम् "इस तरह से नपुंसक लिखा है। मूल में भी 'सामान्याभिनयः' और स्वयं ने भी अभिनव भारती में 'सामान्याभिनयस्तु'– ऐसा पुल्लिंग लिखा है।

कोहलमत का अनुसरण करने वाले वृद्धों ने सामान्याभिनय को छह प्रकार का कहा है। जैसा कि कोहल कहते हैं– शिष्ट, काम, मिश्र, वक्र, संभूत एवं एकयुक्तत्व।[1] 'सामान्य' यह समानों का कर्म है। अतः सामान्य भी और अभिनयन भी है। इससे एक ही अभिनय को समझाने के लिए यथासंभव बहुत से अभिनयों की जो अभिनयन क्रिया है वही अभिनयन क्रिया रूप एक कर्म समान होने वाले सभी का है। अब यहीं पर एक प्रश्न उठता है कि जब बहुतों का एक ही अभिनय है तब बहुत से अभिनयों की क्या जरूरत है? इस पर कहा जाता है कि अभिनयों में साध्य कर्तव्य जो अपना उपस्थान हैं, अभिनय करने के लिए पात्रों का उपस्थित होना– उनमें उपस्कारांश है, सामाजिकों को उपस्कृत व्यापार है, अभिनयन क्रिया है। जैसा कि भरत ने नाट्यशास्त्र के आठवें अध्याय (श्लोक ७) में स्पष्ट किया है कि इसके प्रयोग के द्वारा नानाअर्थों की विशिष्ट भावना कराते हैं। इसलिए इसको अंग एवं उपांग शाखाओं से युक्त अभिनय माना है।[2] इसी प्रकार रसाध्याय नामक षष्ठ अध्याय में और भावाध्याय नामक सप्तम अध्याय में जिन वाचिक, आंगिक एवं सात्विकों का कथन किया गया है, उन सभी का अभिनय कैसे किया जाए, अथवा इन अभिनयों का समानीकरण कैसे हो– इसकी परोचना बाइसवें अध्याय में की गई है। अभिनयों में आहार्याभिनय विशेष अभिनय है और ये वाचिकादि सामान्य अभिनय है। वाचिक, आंगिक एवं सात्विक अभिनयों में परस्पर साहचर्य है, किंतु आहार्य का और उनका साहचर्य नहीं है। इसको आचार्य लिखते हैं कि अभिनयन क्रिया साक्षात्कल्प अध्यवसाय है, ज्ञान है, जिसमें अभिनेय के चित्त वृत्तियों की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

साधारणतापति साधरणी क्रिया प्राण है प्रधान है। इसीलिए कहा गया है कि सत्व पर नाट्य प्रतिष्ठित है। इसको और स्पष्ट करते हुए लिखा है– कि "सत्व से अतिरिक्त अभिनय का ज्येष्ठ इस नाम से अभिधान किया जाता है। समरूप से जहाँ सत्व होता है वह अभिनय मध्यम कोटि का है और सत्व हीन अभिनय अधम माना है।[३] शरीर सामान्याभिनय छह प्रकार का होता है– वाक्य, सूचा, अंकुर, शाखा, नाट्यायित, निवृत्यङ्कुर। वाक्य के साथ प्रयुज्यमान शरीर ही वाक्याभिनय है। यह वह रचना होती है, जिसमें सर्वज्ञात पदों की योजना की जाती है। जिसमें प्राकृत पाठ भी हो संस्कृत पाठ भी।[४] सूचा संज्ञक अभिनय वह है, जिसमें वक्तष्य सूचना देने के पश्चात् अभिनय किया जाए।[५] जब निपुण अभिनेताओं के द्वारा हृदयस्थ किसी नाटकीय अंग के अभिनय का निर्वचन कर दिया जाए। तब इस प्रकार का निर्वचन कर देने के कारण सूचा अभिनय ही 'निवृत्यङ्कर' अभिनय कहलाता है।[६] जहाँ क्रमशः शिर, मुख, वक्षस्थल, उदर, कर, हस्थ, जंघा उस एवं पैरों से शाखा के देखने का मार्ग माने उपाय कर दिया गया हो उसे शाखाभिनय समझना चाहिए।[७] नाट्य में रंगस्थल मंच पर अभिनय की सूचना के द्वारा औपचारिक प्रवेशों से अर्थात् ततः प्रविशति माताले, ततः प्रविशति सूत्रधारः। इस तरह के उपचारकृत पात्र-प्रवेशों से काल के प्रकर्ष का हेतु संगम पात्रों का होता है, वह नाट्यायित है।[८] इसके साथ ही रसों के अभिव्यंजक हर्ष, शोक एवं निर्वेदादि भावों के सम्यक् प्रयोग से ध्रवाओं के समय जो अभिनय किया जाता है वह भी नाट्यायित है।[९] जहाँ किसी अन्य पात्र ने वाक्य कहा दूसरे पात्र ने उसकी सूचनाभिनय से योजना कर दी। उस योजना में अर्थ का संबंध कैसे हुआ? इसको निवृत्सुंकुर कहते हैं।[१०] अन्योक्त वाक्य को अन्य सूचना के अभिनय में चितवृत्ति के सूचक अंगोपांग क्रम से कैसे दिखावें ऐसी आशंका करके हेतु को कहते हैं– तत्संबंधा। जैसे अंकुर के उत्पन्न होने से बीज की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि अंकुर बीज को फोड़कर निकलता है। अन्य सूचाभिनय अंकुरित हो रहा है, उस समय अन्योक्त वाक्य निवृत हो जाती है अतः इसको निवृत्यंकुर कहा।

अब वाचिक सामान्याभिनय विवेच्य होगा। काव्य वस्तुओं में माने विभिन्न दशरूपकों में वाचिकाभिनय का बारह प्रकार का अभिनयात्मक भाव है।[११] ये बारह प्रकार हैं– आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश, एवं व्यपदेश (२२-५२, २२) जो वाक्य आभाषण स्वरूप है, वह अवलाप है और जो अनर्थक वाक्य है वह प्रलाप है। तात्पर्य यह कि उपदेश रहित जो संबोधनात्मक वचन है, वह आलाप है। इसी प्रकार जो अनर्थक वचन है वह प्रलाप है। जो वाक्य करुण प्रभव है वह विलाप है। और जो वाक्य बार-बार कहा गया हो वह अनुलाप हैं (२२-५५)। जो युक्ति और प्रयुक्ति से संयुक्त है, वह संलाप है। पहले जो वाक्य कहा उसका उलटा बोलना अन्यथा कथन अपलाप है (२२-५६)। जाओ और ऐसा कहो वह संदेश है। और जो तुमने कहा उसे मैंने कहा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

था जैसा तुमने कहा वैसा मैंने कहा वह अतिदेश है। (२२-५७) वह यह मैं बोल रहा हूँ इसको निर्देश कहते हैं। किसी के बहाने से जो कथन है, वह व्यपदेश है (२२-५८)। यह करने, ऐसा करो, इसे ग्रहण करो, इसको लो यह उपदेश कहलाता है। जो अन्यार्थ कथन है, वह अपदेश है। अर्थात् जिसको कहना चाहता है उसके विषय में अन्य कहता है, ऐसे अन्य को कहना। सभी प्रकार के अभिनयों के प्रायोजकों के लिए सात मार्गों (प्रक्रियाओं) का उल्लेख (२२-६०) किया गया है। इन्हें प्रयोजक निर्देश भी कहा जा सकता है। इनका आरेखण इस प्रकार किया जा सकता है–

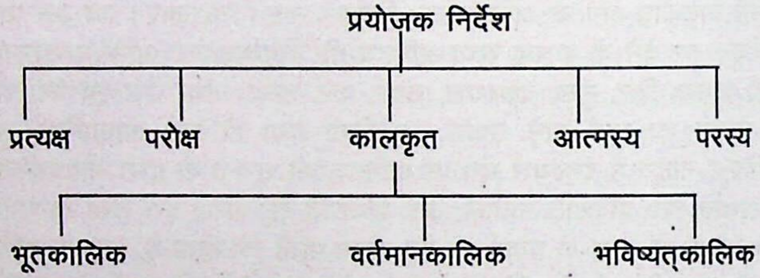

यह मैं बोलता हूँ। भोः मैं नहीं बोलता हूँ इत्यादि जो वर्तमान कालिक वचन है वह प्रत्यक्ष है और जो वैसा नहीं है वह परोक्ष है (२२-६२) में करता हूँ, मैं जाता हूँ, मैं तुमको कहता हूँ, ऐसा जो आत्मस्थ माने अपने में भविष्यतकालीन वचन है वह परोक्ष है (२२-६४)। मैंने सब शत्रुओं का हनन एवं भंजन कर दिया अतः उनको जीत लिया ऐसा जो अपने में भूतकालीन वृत्तकालिक वचन है वह परोक्ष है (२२-६५)। जो नाट्य कर्म अर्थात् प्रयोग के समय में तुमने मार दिया, तुमने जीत लिया ऐसा जो दूसरे में भूतकालिक वचन है वह परोक्ष है (२२-६६)। यह बोलता है, करता है और जाता है इत्यादि जो परस्थ वर्तमानकालिक वचन है वह प्रत्यक्ष है (२२-६७) वह जाता है या करता है ऐसा जो किसी ने कहा वह परस्थ वर्तमान कालिक वचन परोक्ष है (२२-६८)। करेंगे, जायेंगे, कहेंगे जो वचन हैं, ऐसा जो दूसरे में माने परस्त भविष्यत् कालिक वचन है वह परोक्ष है (२२-६६)। विषय भेद के कारण होने वाले आत्मस्थ को भी परोक्ष कहते हैं। अभिनय के समय जो अभिनेता पात्र अपने और दूसरे पात्र के बीच में हाथ का व्यवधान (ओट करके) बोलता है तो वह वचन अपने में हृदयमत वाक्य परोक्ष कहलाता है। ये सभी सामान्य रूप से होते हैं अतः सामान्याभिनय है। और भी कहा गया कि सामान्य अभिनय होता है जो क्रमशः शिर, हस्त, कटी, वक्ष, जंधा और कर्णों आदि में समान रूप से विभक्त होता है। ऐसा विलक्षण जो सामान्य रूप से अभिनीयमान है वह अन्य अभिनयों से मिलकर सभी अभिनयों से जुड़ा है इस तरह सामान्य हुआ सामान्याभिनय है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभिनय की मर्यादाओं के लिए स्पष्ट कहा गया है कि मर्यादा के जानकार लोग दृष्टि को तिरछी करके शिर को बाएँ-दाएँ तरफ झुकाकर और कर्ण को तर्जनी पर रखकर शब्दों का प्रयोग करें (२२-८२) स्पर्श अभिनय करते समय नेत्रों को किंचित आकुंचित भृकुटियों का विक्षेपण और कपोलों का स्पर्श करना चाहिए(२२-८३)। पताका मस्तक पर रखकर मुख का किंचित संचालन करते हुए किसी वस्तु को बड़े गौर से निहार रही है ऐसी दृष्टि से रूप का अभिनय करें (२२-८४) नेत्रों को किंचित आकुंचित करके एवं नासिका को फुलाकर एक ही सांस में माने एक ही क्रिया में अपने अभीष्ट रस एवं गंध का अभिनय करना चाहिए (२२-८५) शिर को घुमाकर अर्थात् उससे परांगमुख होकर नेत्र एवं नासिका का विकर्षण करके चक्षु का संपात न करके अनिष्ट अर्थ का अभिनय करे (२२-२६)। न ही अत्यंत प्रसन्न मन से और न ही अत्यंत घृणित भाव से अर्थात् मध्यस्थ भाव से मध्यस्थ का अभिनय करे। मध्यस्थ अभिनय वह होता है जिसमें अर्थ, अभिनेय वस्तु.... उसका यह है, उसने ऐसा किया, वह ऐसा करता है, ऐसी परोक्ष स्थिति हो। नाट्यशास्त्र में कामोपचार के सामान्याभिनयत्व की प्ररोचना की गई है। इसी में विज्ञाय की चर्चा है। 'विज्ञाय' है शील जानने का उपाय। नाट्य धर्म के अनुसार रंगमंच पर शयन नहीं करना चाहिए। दंतक्षत, नखक्षत, नीवी का वस्त्रग्रंथिका स्रंसन विमोचन और कुचमर्दन का रंगमंच पर अभिनय नहीं करना चाहिए (२२-२६७)। इस प्रकार के और भी लज्जाजनक कार्य हैं उसको तथा भोजन और जायक्रीड़ा का रंगमंच पर, अभिनय नहीं करना चाहिए। इस सामान्याभिनय के मध्य में वाचिक अभिनय भी होता है। इस आशय से नाट्याचार्य कहते हैं कि– 'प्रिपेषुवचनानि' (३०२-३०८)। क्रोध में प्रिय को दुःशील, दुराचार शठ, वाम, विकत्थन, निर्लज्जन और निष्ठुर इन शब्दों में संबोधन करने का निर्देश है। इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में 'अभिनय' शब्द बहुत व्यापक अर्थों में व्यवहत हुआ है। इसमें नाटक के प्रायः सभी तत्व आ जाते हैं। वेश-विन्यास भी इसके अलग वस्तु नहीं और रंगमंच की सजावट भी उसके अंतर्गत आ जाती है। वस्तुतः पाठ्य-गान और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी नाटक में किया जा सकता है, वह सब अभिनय के अंतर्गत आता है और पाठ्य गान और रस के भी सभी आश्रय और उपादान अभिनय के अंतर्गत आ जाते हैं, इसलिए नाट्यशास्त्रीय परंपरा में जब अभिनय शब्द का व्यवहार होता है तो वस्तुतः कुछ भी छूटता नहीं।

कुछ लोगों ने 'नाट्यशास्त्र' के 'अभिनय' शब्द का अर्थ 'इमिटेशन' अनुकरण और जेश्चर(भाव भंगी) किया है, जो ठीक नहीं है। यह समझना भूल है कि अभिनय में केवल अंगों की विशेष प्रकार की भंगिमाएँ ही प्रधान स्थान अधिकार करती हैं। अभिनय के चारों अंगों अर्थात् आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक पर समान भाव से जोर दिया गया है। आंगिक अर्थात् देह संबंधी अभिनय उन दिनों चरम उत्कर्ष पर था। इसमें देहमुख और चेष्टा के अभिनय शामिल थे। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और पैर इन तीनों अंगों के सैकड़ों प्रकार के अभिनय 'नाट्यशास्त्र' और

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'अभिनय दर्पण' आदि ग्रंथों में गिनाए जा सकते हैं। 'नाट्यशास्त्र' में बताया गया है कि किस अंग या उपांग के अभिनय का क्या विनियोग अर्थात् वह किस अवसर पर अभिनीत् हो सकता है। फिर नाना प्रकार की घूमकर नाचने गाने वाली भंगिमाओं का भी विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। फिर वाचिक अर्थात् वचन संबंधी अभिनय को भी उपेक्षणीय नहीं समझ जाता था। 'नाटयशास्त्र' में कहा गया है (१५-२) कि वचन का अभिनय बड़ी सावधानी से करना चाहिए। क्योंकि यह नाट्य का शरीर है, शरीर और पोशाक के अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यंजित करते हैं। उपयुक्त स्थलों पर उपयुक्त यति और काकु देकर बोलना नाम-आख्यात-निवात-उपसर्ग-समास-तद्धित-विभक्ति-संधि आदि को ठीक-ठीक प्रकट करना, छंदों का उचित ढंग से प्रयोग करना, शब्दों के प्रत्येक स्वर और व्यंजन का उपयुक्त रीति से उच्चारण करना इत्यादि बातें अभिनय का प्रधान अंग मानी जाती थीं। परंतु यही सब कुछ नहीं था। केवल शारीरिक और वाचिक अभिनय भी अपूर्व माने जाते थे। आहार्य और वस्त्रालंकारों की उपयुक्त रचना भी अभिनय का अंग समझी जाती थी। यह चार प्रकार की होती थी– पुस्त, अलंकार, अंग, रचना और संगीत। नाटक के स्टेज को आज के समान 'रियालिस्टिक' बनाने का ऐसा पागलपन तो नहीं था, परंतु पहाड़, रथ, विमान आदि को यथार्थ का कुछ रूप देने के लिए तीन प्रकार के पुस्त व्यवहृत होते थे। वे या तो बॉस या सरकंडे से बने होते थे, जिन पर कपड़ा या चमड़ा चढ़ा दिया जाता था या फिर यंत्र आदि की सहायता से फर्जी बना लिए जाते थे या फिर अभिनेता ऐसी 'चेष्टा' करता था जिसमें उन वस्तुओं का बोध प्रेक्षक का हो जाए (२२-५७)। इन्हें क्रमशः संधिम, व्यंजिम और चेष्टिम पुरत्त कहते थे। अलंकार में विविध प्रकार के माल्य, आभरण, वस्त्र आदि की गणना होती थी। अंग रचना में बहुधा पुरुष और स्त्रियों के बहु विधवेश विन्यास शामिल थे। प्राणियों के प्रवेश को संजीव कहते थे (२३-१५२) परंतु इन तीनों प्रकार के अभिनयों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण अभिनय सात्विक था। भिन्न-भिन्न रसों और भावों के अभिनय में अभिनेता या अभिनेत्री की वास्तविक परीक्षा होती थी।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र में विनन्यस्त 'सामान्याभिनय' आज की हमें नाट्याभिनय के संदर्भ में दिशा निर्देश देने की क्षमता संयुक्त है।

संदर्भ

१. शिष्टंकामं मिश्रंवक्रं संभूतमेकयुक्तत्वम्।
सामान्याभिनये यत् षोढ़ा विदुरेतदेव बुधाः।। ना. शा. तृतीय भाग, अभिनवभारती

२. विभावयति यस्माच्च नानार्थ हि प्रयोग नः।
शाखाडोपाड, संयुक्तस्मादभिनयः स्मृतः।।८/७

३. सत्वातिरिक्तोडभिनयो ज्येष्ठइत्यभिधीयते।
समसन्त्वो भवेन्मध्यः सन्तहीनोडधमः स्मृतः।।२२/२

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

४. नानारसार्थयुक्तेर्वृत्तनिबन्धैः कृतः स चूर्णपदे।
प्राकृतसंस्कृत पाठोवाक्याभिनयो बुधेर्ज्ञेयः १२२/४४

५. वाक्यार्थो वाक्यं वा, सत्वाङ्गेःसूच्यते यढ़ापूर्वम्।
पश्चाद्वाक्याभिनयः सूचेत्यभिसंज्ञिता सातु।।२२/४५

६. सूचैवौत्पतिकृतो विज्ञेयस्त्वङ्कुराभिनयः १२२/४६

७. यत्तु शिरोमुखजडोरूपाणिपादैर्यथाक्रमं क्रियते।
शाखादर्शन मार्गः शाखाभिनयः सविज्ञेयः ।। २२/४७

८. नाट्यायितमुपचारैर्यः क्रियतेडभिनयसूचया नाट्ये।
काल प्रकर्ष हेतु प्रवेश केः संगमों यावत्।। २२/४८

६. स्थाने ध्रुवास्वभिनयो यः क्रियते हर्षशोकरोषार्धः।
भावरससंप्रयुक्तैर्ज्ञेयंनाट्यायितं तदपि।। २२/४६

१०. यत्रान्योक्तं वाक्यंसूचाभिनयेन योजयेदन्यः।
तत्संबंधार्थ कथं भवेन्निवृत्त्यङ्कुरः सोडथ ।। २२/५०

११. एतेषां तु भवेन्मार्गौ यथाभावरसान्वितः।
काव्यवस्तुषुनिर्दिष्टो द्वादशाभिनयात्मकः ।। २२/५१

१२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी "नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा" शीर्षक लेख, आलोचना, वर्ष ६,अंक पृ. १४ सन् १६

१३. वही, पृ. १४-१५

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२४

काव्य-स्वरूप और उसके स्रोत

डॉ. रहस बिहारी द्विवेदी

कवि और काव्य शब्द हमें प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से ही प्राप्त होने लगते हैं। वैदिक वाङ्मय में पुल्लिङ्ग में पठित 'काव्यः' शब्द उशना का वाचक है। नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त काव्य शब्द कवि (मेघावी) के पराक्रम का वाचक है। अनेक काव्य पद इन्द्र के पराक्रम के वाचक हैं। निश्चित रूप से लौकिक संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त काव्य शब्द वैदिक वाङ्मय से गृहीत है। प्राचीन आचार्यों (भरत और भामहादि) से लेकर पण्डितराज और आधुनातन आचार्यों द्वारा अपने विवेक से काव्य स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। इसका आधार प्रत्यक्षतः भले ही वैदिक वाङ्मय न हो तथापि परम्परा यह वहीं से आयातित है। ऋग्वेद में कुछ ऐसे भी वाक्य मिलते हैं जो काव्यलक्षण निर्धारित करने के प्रेरक हैं यथा–

"वत्सो वां मधुमद् वचो शंसीत् काव्यः कविः।" "अस्या इत्काव्यंवच उक्थमिन्द्राय शंस्यम्।" "प्रकाव्यमुशनेव ब्रुवाणो।" "प्रत्नं नियाति काव्यम्।"(ऋग्वेद ८/८/११, ५/३६/५,६/६७/७) यहाँ उद्धृत प्रथम पङ्क्ति में काव्य शब्द भले ही उशना का वाचक है, किन्तु उसे कवि कहा गया है और उसकी वाणी के वैशिष्ट्य कथन में 'मधुमत्' पद प्रयुक्त है। उक्त उद्धरणों के अनुसार 'कवेः वचो मधुमद्' तथा 'कवेः कर्म काव्यम्' ये दोनों आशय स्पष्ट रूप से व्यक्त हुए हैं। "अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।" प्रभृति कथन का उत्स भी ऋग्वेद प्रतीत होता है–

"विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पतितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स ह्यः समानः।।"

(ऋग्वेद १०/५५/५)

ऋग्वेद के अतिरिक्त परवर्ती वैदिक वाङ्मय में कवि और काव्य शब्द का वहुधा प्रयोग प्राप्त होता है। शतपथब्राह्मण के "त्रयी विद्या काव्यं छन्दः" इस अंश का भाष्य करते हुए महीधर ने लिखा है–"कवेः परमात्मन इदंकाव्यं वेदत्रयीरूपं छन्दः।" इस प्रकार वेद को भी काव्य की संज्ञा से अभिहित किया गया है। स्वरूप की दृष्टि से प्राचीन आचार्यो द्वारा रचनाविधान की दृष्टि से जो काव्य भेद किए गए हैं उसके अनुसार ऋग्वेद को पद्य, यजुर्वेद को गद्य या मिश्र (चम्पू) तथा सामवेद को गीत काव्य कहा जा सकता है। इस प्रकार विधा और अन्तस्तत्व की दृष्टि से वैदिक वाङ्मय से काव्यस्वरूप अनुप्राणित है। इस तथ्य को आचार्य भरत कण्ठतः

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्वीकार करते हैं–

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणांदपि।।
वे दोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।"

(नाट्यशास्त्र १/१७/१८)

जिन आचार्यों के ग्रन्थ आज उपलब्ध होते हैं उनमें दृश्य काव्य स्वरूप विवेचन की दृष्टि से भरतमुनि का नाट्यशास्त्र और श्रव्य की दृष्टि से भामह का काव्यालङ्कार प्रथम है। भामह भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि उन्होंने सत्कवियों के मतों का अवलोकन करके अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कार की रचना की है–

"अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्य।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिलगोमिसुनुनेदम्।।"

(काव्यालंकार ६/६४)

जिस प्रकार भरत के कथन के आलोक में हम काव्यस्वरूप के स्रोत के रूप में वेदों की ओर सन्मुख होते हैं उसी प्रकार भामह के उक्त कथन से हमें सत्कवियों के मतों के अन्वेषण की प्रेरणा मिलती है। अनेक निबन्धों के माध्यम से मैंने कवियों के काव्यस्वरूप विषयक मतों को उद्घाटित किया है। संक्षेप में उस ओर संकेत करना यहाँ उचित है। भामह से पूर्ववर्ती सत्कवियों में वाल्मीकि, व्यास और कालिदास लब्धप्रतिष्ठ हैं। इन सत्कवियों के विशाल रचनाफलक में अनेक ऐसे स्थल आते हैं जहाँ स्पष्ट रूप से काव्यशास्त्रीय मान्यताएँ रेखाङ्कित हुई हैं। भामह से उत्तरवर्ती कवियों द्वारा भी काव्य स्वरूपविषयक अवधारणाएँ व्यक्त हुई हैं किन्तु उन पर भामहादि के ग्रंथों के प्रभाव से भी ऐसी मान्यताओं का उल्लेख सम्भावित है। अतः उक्त तीनों कवियों को काव्यस्वरूप के स्रोत के रूप में स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है।

वाल्मीकि

महर्षि वाल्मीकि आदि कवि हैं। अतः किसी लक्षण ग्रन्थ के आधार पर उन्होंने रामायण की रचना नहीं की। इनकी रचना के आधार पर काव्यस्वरूप निर्धारण और महाकाव्य लेखन की प्रवृत्ति विकसित हुई। आदि कवि ने सर्गबद्ध और पद्यबद्ध रूप में राम के उदात्तचरित का वर्णन किया है। अनेक स्थल ऐसे हैं जिनसे काव्यस्वरूप विशेष रूप से महाकाव्य विधा का स्वरूप स्पष्ट होता। उदाहरणार्थ कुछ अंश अवलोकनीय हैं–

"उदार वृत्तार्थपदैर्मनोरमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समक्षरैःश्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः।।
तदुपगतसमाससन्धियोगं सममधुरोपनार्थ वाक्यबद्धम्।
रघुवरचरितंमुनि प्रणीतं दशाशिरसश्च च वघं निशामयध्वम्।।"

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(बालकाण्ड २/४२, ४३)

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थ गुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम्।।

(बालकाण्ड ३/८)

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्।।

(बालकाण्ड ४/८)

अपूर्वा पाठ्यजातिं च गेयेन समलङ्कृताम्।
प्रमाणैर्बहुमिर्बद्धां तन्त्रीलयसमन्विताम्।।

(उत्तर ६४/२,३)

सुश्रावतत्तालयोपपन्नं सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम्।
तन्त्रीलयव्यञ्जनयोगयुक्तं कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्।।

(उत्तर ६४/३२)

....चकारचरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत्।(बाल.४/१)
'रसैः श्रृङ्गारकरुणहासरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्।। (बाल. ४/१)
विचित्रार्थपदं सम्यक् गायकौ समचोदयत्।
तौचापि मधुरं रक्तं स्वचित्तायतनिःस्वनम्।।
तन्त्रीलयवयदत्यर्थ विश्रुतार्थमगायताम्।
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसिहृदयानि च।।
श्रोताशयसुखं गेयं तद् वभौजनसंसदि।। (बाल. ३/३४, ३५)
रसानुभूति की स्थिति का निरूपण भी इस प्रकार है–
अहो गीतस्य माधुर्य श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।। (बाल. ४/१७)
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च। (बाल. ४/३४)
पिबन्त इव चक्षुर्मिः पश्यन्ति स्म मुहुर्भुहुः।। (उत्तर. ६४/१३)

इस प्रकार आदि कवि के शब्दों में काव्य के विशेषण इस प्रकार बनते हैं–

मनोरमैरुदारवृत्तार्थ पर्दरुपगतसमाससन्धियोग सर्वश्रुतिमनोहरं पाठ्ये गेये मधुरं तन्त्रीलयमन्वित सुस्वरशब्दयुक्तं तालयोपपन्नं,समलङ्कृतंविचित्रपदमर्थवद् रसैर्युक्तं श्रोत्राशयसुखं चित्तायतनिः स्वनं, विशेषतः श्लोकानां माधुर्येण चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ह्लादयत् (काव्यं भवति)।

बिना किसी परिवर्तन के आदि कवि के शब्दों में जो काव्यस्वरूप अभिव्यक्त होता है, उससे काव्यशास्त्री के रूप में भी वे प्रथम स्थान के अधिकारी सिद्ध होते हैं। रामायण के प्रारंभिक वर्णन में कवि और उसके मार्ग दर्शक के गुण तथा नायक स्वरूप भी कण्ठतः उपात्त है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"तप स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।'
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्।।" (बाल. १/१)

कवि को मार्ग दर्शक होना चाहिए–

वाग्विदांवरतपःस्वाध्यायनिरत और पुङ्गव और कवि को होना चाहिए तपस्वी, उदारदर्शन, भावितात्मा और अनुव्याहरणपटु। (द्र. बाल. २/४०, ४१)

वाल्मीकि रामायण का नायक लक्षण आज भी सर्वोत्तम है। ध्यातव्य है कि वाल्मीकि ने नारद से किसी महापुरुष के बारे में प्रश्न किया है, किन्तु कवि हृदय वाल्मीकि ने उसका स्वरूप बताकर तदनुरूप ही बताने का आग्रह किया है अर्थात् वह नायक सामान्य का वर्णन है राम का नहीं। यह दूसरी बात है कि राम भी वैसे हैं। अतः नारद उन्हें बताते हैं। इसलिए यह अंश विशुद्ध रूप से वाल्मीकि के अभीष्ट नायक का है–

"कोऽन्वस्मिन् समाम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।
चारित्रेण च को उक्तः सर्वभूतेषु कोहितः
विद्वान् कःकः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।" (बाल. १/२४)

संभवतः सत्कवि वाल्मीकि के इन अंशों से भामह प्रेरित रहे हों अतः उन्होंने "अवलोक्य मतानि सत्कवीनाम्" ऐसा कहा। अब देखें दूसरे सत्कवि व्यास को–

व्यास

महर्षि व्यास के महाभारत के बारे में ही कहा जाता है– "यदि हास्तितदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" फिर अठारह पुराण और ब्रह्मसूत्रादि के वे रचयिता हैं, भले ही व्यास की कोई परम्परा मानी जाय किन्तु उनकी रचनाओं में कदाचित् ही कोई शास्त्र बचा हो जिसकी चर्चा न हुई हो। अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर में काव्यशास्त्र का विशुद्ध निरूपण है, अतः विविध प्रसङ्गों से काव्यतत्वनिरूपण के संग्रह की आवश्यकता उनके साहित्य में नहीं है। 'अग्निपुराणेप्युक्तम्' ऐसा कहकर एक काव्यशास्त्री के रूप में काव्यशास्त्राचार्य उन्हें प्रमाण मानते हैं। अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का स्वतंत्र सम्पादन भी डॉ. पारसनाथ द्विवेदी ने किया है जिसका प्रकाशन सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से हुआ है। अग्निपुराण में काव्यलक्षण वाङ्य निर्देश सहित इस प्रकार हैं–

"ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते।।
शास्त्रेशब्दप्रधानत्वमितिहासेऽर्थनिष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं तेषां विभिद्यते।।
नरत्वं दुर्लभं लोकेविद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(बालकाण्ड २/४२, ४३)

कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थ गुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम्।।
(बालकाण्ड ३/८)

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्।।
(बालकाण्ड ४/८)

अपूर्वा पाठ्यजातिं च गेयेन समलङ्कृताम्।
प्रमाणैर्बहुमिर्बद्धां तन्त्रीलयसमन्विताम्।।
(उत्तर ६४/२,३)

सुश्रावतत्तालयोपपन्नं सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम्।
तन्त्रीलयव्यञजंनयोगयुक्तं कुशीलवाभ्यां परिगीयमानम्।।
(उत्तर ६४/३२)

....चकारचरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत्।(बाल.४/१)
'रसैः श्रृङ्गारकरुणहासरौद्रभयानकैः।
वीरादिभी रसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्।। (बाल. ४/१)
विचित्रार्थपदं सम्यक् गायकौ समचोदयत्।
तौचापि मधुरं रक्तं स्वचित्तायतनिःस्वनम्।।
तन्त्रीलयवयदत्यर्थ विश्रुतार्थमगायताम्।
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसिहृदयानि च।।
श्रोताशयसुखं गेयं तद् वभौजनसंसदि।। (बाल. ३/३४, ३५)
रसानुभूति की स्थिति का निरूपण भी इस प्रकार है–
अहो गीतस्य माधुर्य श्लोकानां च विशेषतः।
चिरनिवृत्तमप्येतत्प्रत्यक्षमिव दर्शितम्।। (बाल. ४/१७)
ह्लादयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च। (बाल. ४/३४)
पिबन्त इव चक्षुर्मिः पश्यन्ति स्म मुहुर्मुहुः।। (उत्तर. ६४/१३)

इस प्रकार आदि कवि के शब्दों में काव्य के विशेषण इस प्रकार बनते हैं–

मनोरमैरुदारवृत्तार्थ पर्दरुपगतसमाससन्धियोग सर्वश्रुतिमनोहरं पाठ्ये गेये मधुरं तन्त्रीलयमन्वित सुस्वरशब्दयुक्तं तालयोपपन्नं,समलङ्कृतंविचित्रपदमर्थवद रसैर्युक्तं श्रोत्राशयसुखं चित्तायतनिः स्वनं, विशेषतः श्लोकानां माधुर्येण चिरनिवृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शयत् सर्वगात्राणि मनांसि हृदयानि च ह्लादयत् (काव्यं भवति)।

बिना किसी परिवर्तन के आदि कवि के शब्दों में जो काव्यस्वरूप अभिव्यक्त होता है, उससे काव्यशास्त्री के रूप में भी वे प्रथम स्थान के अधिकारी सिद्ध होते हैं। रामायण के प्रारंभिक वर्णन में कवि और उसके मार्ग दर्शक के गुण तथा नायक स्वरूप भी कण्ठतः उपात्त है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"तप स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।'
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्।।" (बाल. १/१)

कवि को मार्ग दर्शक होना चाहिए–

वाग्विदांवरतपःस्वाध्यायनिरत और पुङ्गव और कवि को होना चाहिए तपस्वी, उदारदर्शन, भावितात्मा और अनुव्याहरणपटु। (द्र. बाल. २/४०, ४१)

वाल्मीकि रामायण का नायक लक्षण आज भी सर्वोत्तम है। ध्यातव्य है कि वाल्मीकि ने नारद से किसी महापुरुष के बारे में प्रश्न किया है, किन्तु कवि हृदय वाल्मीकि ने उसका स्वरूप बताकर तदनुरूप ही बताने का आग्रह किया है अर्थात् वह नायक सामान्य का वर्णन है राम का नहीं। यह दूसरी बात है कि राम भी वैसे हैं। अतः नारद उन्हें बताते हैं। इसलिए यह अंश विशुद्ध रूप से वाल्मीकि के अभीष्ट नायक का है–

"कोऽन्वस्मिन् समाम्प्रतं लोके गुणवान् कश्चवीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः।
चारित्रेण च को उक्तः सर्वभूतेषु कोहितः
विद्वान् कःकः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।
कस्य विभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।।" (बाल. १/२४)

संभवतः सत्कवि वाल्मीकि के इन अंशों से भामह प्रेरित रहे हों अतः उन्होंने "अवलोक्य मतानि सत्कवीनाम्" ऐसा कहा। अब देखें दूसरे सत्कवि व्यास को–

व्यास

महर्षि व्यास के महाभारत के बारे में ही कहा जाता है– "यदि हास्तितदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।" फिर अठारह पुराण और ब्रह्मसूत्रादि के वे रचयिता हैं, भले ही व्यास की कोई परम्परा मानी जाय किन्तु उनकी रचनाओं में कदाचित् ही कोई शास्त्र बचा हो जिसकी चर्चा न हुई हो। अग्निपुराण तथा विष्णुधर्मोत्तर में काव्यशास्त्र का विशुद्ध निरूपण है, अतः विविध प्रसङ्गों से काव्यतत्वनिरूपण के संग्रह की आवश्यकता उनके साहित्य में नहीं है। 'अग्निपुराणेप्युक्तम्' ऐसा कहकर एक काव्यशास्त्री के रूप में काव्यशास्त्राचार्य उन्हें प्रमाण मानते हैं। अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग का स्वतंत्र सम्पादन भी डॉ. पारसनाथ द्विवेदी ने किया है जिसका प्रकाशन सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से हुआ है। अग्निपुराण में काव्यलक्षण वाङ्य निर्देश सहित इस प्रकार हैं–

"ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम्।
शास्त्रेतिहासकाव्यानां त्रयं यत्र समाप्यते।।
शास्त्रेशब्दप्रधानत्वमितिहासेऽर्थनिष्ठता।
अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं तेषां विभिद्यते।।
नरत्वं दुर्लभं लोकेविद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

व्युत्पत्तिर्दुर्लभा तत्र विवेकस्तत्र दुर्लभः।।
.... सङ्क्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्यं स्फुरदलङ्कारं गुणवद् दोष वर्जितम्।।''

(अग्निपु. ३३७/१–७)

इसी प्रकार विष्णुधर्मोत्तर पुराण के तृतीय खण्ड के चौदहवें अध्याय से काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रारंभ है जिसमें अलङ्कार, महाकाव्यलक्षण, नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन आदि किया गया है। अग्निपुराण के उद्धृत अन्तिम श्लोक में काव्य का स्वरूप स्पष्टतः निर्दिष्ट है। इस प्रकार व्यास 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' को काव्य कहते हैं और उसे अलंकार तथा गुण से युक्त और दोष रहित होना स्वीकार करते हैं। गुण और अलङ्कार की अभिस्वीकृति के साथ वे रस को काव्य का जीवन स्वीकार करते हैं–

''वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्रजीवितम्।
पृथक् प्रयत्ननिर्वर्त्यो वाग्वक्रिम्णि रसाद्वपुः।।'' (वही. ३४)

कालिदास

भामह के कथनानुसार तीसरे सत्कवि कालिदास को माना जा सकता है। कालिदास ने वाल्मीकि और व्यास की तरह बहुत स्पष्ट रूप से काव्य स्वरूप के बारे में नहीं कहा है। उनके रघुवंश के मङ्गलाचरण, आत्मनिवेदन तथा नायिकाओं के स्वरूप वर्णन और काव्यगान आदि के प्रसङ्गों में उनकी अवधारणा ज्ञात की जा सकती है। रघुवंश का मङ्गलाचरण इस प्रकार है–

''वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ।।''

यहाँ कालिदास अपने समीहित वागर्थ प्रतिपत्ति (वाक् और अर्थ के सम्यक् अवबोध के लिए वागर्थ से सम्पृक्त पार्वती परमेश्वर की वन्दना करते हैं। 'वाक्' पद 'शब्द' की तुलना में अधिक व्यापक है, क्योंकि इस में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी चारों वाणियों की स्थितियाँ समाविष्ट हैं। जिसमें व्यक्त वैखरी (शब्द) है। इस प्रकार कवि समीहित है– 'वागर्थ सम्पृक्ति' यदि उपमान को उपमेय कर दिया जाय तो भक्त जिस प्रकार शङ्करपार्वती की सम्पृत्ति में आह्लाद की अनुभूति करता है इसी प्रकार वागर्थ की सम्पृक्ति में सहृदय काव्याह्लाद प्राप्त करता है। भामहादि आचार्यों ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहकर इसी परम्परा का पुनराख्यान किया है। कालिदास के साहित्य में यदि 'वाक्' शब्द के विशेषणों पर ध्यान दिया जाय तो उनकी अभीष्ट वाक् का जो स्वरूप दृष्टिगत होता है वह काव्यवाणी का ही वैशिष्ट्य है। कवि गुण (काव्यहेतु) रचनाप्रक्रिया, अनुभूति, वाचक भेद आदि अनेक काव्य तत्त्वों पर कालिदास की अवधारणा प्राप्त होती है। रचना में एकत्र सौन्दर्यावलोकन की इच्छा से अलङ्कारादि का संचयन किस प्रकार किया जाता है। इस पर कालिदास का दृष्टिकोण देखें–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"सर्वोपमा द्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकत्र सौन्दर्यदिदृक्षयेव।।"

(कुमार. १/४६)

अनुभूति और अनुव्याहरण के सन्दर्भ में उनका कथन है–

"रम्याणि वीक्ष्य मधुराँश्च निशम्यशब्दान्
पर्युत्सुकी भवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमवोधपूर्व
भावस्थिराणिजननान्तरसौदृदानि।।" (शाक. ५/२)

रघुवंश के आत्मनिवेदन में कालिदास अपने में जिन गुणों का अभाव देखते हैं उसे ही कविगुण या काव्यहेतु के रूप में काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है–

'मन्दः कवियशः प्रार्थी...' तनुवाग्विभवेऽपि सन्- **'क्वचाल्पाविषयामतिः' (रघुवंश १/३-४)** आदि के व्यतिरेक द्वारा अमन्दता अतनुवाग्मैभव और अनल्पविषया मति काव्य हेतु के रूप में सिद्ध होते हैं। काव्यशास्त्रियों ने शब्दशः इसे ग्रहण भी किया है जैसे दण्डी कहते हैं– **''अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः''** कालिदास ने 'मन्द' शब्द का प्रयोग किया है जिसकी अर्थव्याप्ति बहुत है– हीनभाग्य, आलसी, प्रतिभा रहित ये तीन अर्थ तो सहज ही निकलते हैं। इस प्रकार प्रतिभा, अनालस्य और भाग्यशालिता ये तीन अर्थ व्यतिरेक से निकलते हैं। कौन समझदार व्यक्ति कालिदास को मन्द, तनुवाग्विभव और अल्पविषयामति वाला मानेगा। एक बार स्वीकार भी किया जाय तथापि उनका अभिलषित तो अमन्दता और अतनुवाग्विभव तथा अनल्पविषयामति ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार–

"पुराणमित्येव न साधु न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्त' परीक्ष्यान्यदभ्जन्ते मूढः परपगत्यनेयबुद्धिः।।"

(मालविकाग्निमित्र १/२)

तथा **'वयं तत्त्वान्वेषान् मधुकर ! हतास्त्वं खलुककृती'** (शाकुन्तलम २/११) आदि में कालिदास ने चार प्रकार के भावकों का उल्लेख किया है (१) **मूढ़** जो पर-प्रत्यनेय बुद्धि होता है, (२) **सज्जन** जो किसी कृति की परीक्षा करके उसके औचित्य का निर्धारण करता है। (३) **तत्त्वान्वेषी** जो शास्त्रीय आधार पर परीक्षण करता है (४) **कृति** जो बिना शास्त्रीय विचारादि के आनन्दानुभव करता है। राजशेखरादि ने भावक भेद में इनका उल्लेख भी किया है। रामायण श्रवण के प्रसङ्ग में वे अनुभूति की स्थिति की ओर भी अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हैं। (द्र. रघुवंश १५/६४–६६)

भामह के **'अवलोक्य मतानि सत्कवीनाम्'** इस कथन के आलोक में हम पाते हैं कि वस्तुतः वाल्मीकि, व्यास और कालिदास के साहित्य से काव्यशास्त्रीय तत्वों का संचयन किया गया होगा। उक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि न केवल सत्कवियों की रचनाओं के स्वरूप को देखकर अपितु उनमें व्यक्त काव्यविषयक अवधारणाओं के आधार पर काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हुआ होगा। कम से

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

कम प्रारंभिक काव्यशास्त्रियों पर तो सत्कवियों का पूरा प्रभाव है ही।

मेरी दृष्टि से सत्कवियों के मतों के आलोक में यदि काव्य स्वरूप का निर्धारण करना हो तो वह इस प्रकार होगा–

"लोकोत्तरहृदाह्लादे लोकाद्बोधे च सङ्गता।
प्रज्ञावतः कवेः सद्वाक् काव्यमित्यभिधीयते।।"

(काव्यतत्त्वमीमांसा)

भामह से पण्डितराज अथवा अर्वाचीन काव्यशास्त्रियों की काव्य परिभाषाओं में जो अन्तर दिखाई देता है वह अधिकरण में है। लोकोत्तरह्लाद में सभी एकमत हैं। **शब्दार्थ, पदवली, वाक्, शब्द, वाक्य और अर्थ** को कुछ विशेषणों के साथ आचार्यों ने काव्य कहा है। इस सभी में सहृदयहृदयसंवेद्य तत्त्व है– **'लोकोत्तर आह्लाद'** काव्याधिकरणों में 'वाक्' शब्द अधिक उपयोगी प्रतीत होता है क्योंकि वाक् में शब्द और अर्थ तो समाहित हैं ही, 'वाक्' शब्द प्रायः मानव वाणी के लिए प्रयुक्त हुआ करता है। भामह और दण्डी ने अनेक स्थलों पर काव्य के पर्याय के रूप में वाक् शब्द का प्रयोग किया है। अल्पप्रसिद्ध आचार्य जयदेव ने वाक् को ही काव्य कहा है। अग्निपुराण तथा दण्डी ने पदावली को शरीर कहा है। अतः उसमें मानवीकरण हो गया और वामन ने रीति को आनन्दवर्धन ने ध्वनि को राजशेखरादि ने रस को कुन्तक ने वक्रोक्ति को और क्षेमेन्द्र ने औचित्य को उसका जीवन या आत्मा कहा। ये सभी आत्मस्थानीय तत्व आह्लाद के ही पर्याय कहे जा सकते हैं। इस प्रकार काव्य के अन्तस्तत्त्व लोकोत्तराह्लाद और उसके हेतु में प्रतिभा को प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। काव्य के प्रयोजन हेतु और लक्षण का भी अन्तः सम्बन्ध है– यथा–

प्रयोजन	हेतु	लक्षण
१. आन्दानुभूति	प्रतिभा	लोकोत्तरता
२. शास्त्र, व्यवहार आदि का ज्ञान	व्युत्पत्ति	शब्दार्थ और शास्त्र
३. अनुव्याहरण या अध्याहार (मनोमुकुर की विशता)	अभ्यास	काव्यविधा/ शिल्प युगबोध

इस प्रकार प्रयोजन हेतु और लक्षण अन्योन्याश्रित हैं। काव्याशास्त्राचार्यों में परस्पर विरोध नहीं है अपितु पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्यतत्वों में अनुल्लिखित किसी महनीय तत्त्व को व्यापक रूप में उपस्थापित करना उनका उद्देश्य प्रतीत होता है। बहुधा व्याकृत तत्त्वों का पिष्टपेषण आचार्य उचित नहीं समझते। आचार्य आनन्दवर्धन कहते है–

'वहुधा व्याकृतः सोऽन्यैस्ततो नेह प्रतन्यये।' प्रस्थान के रूप में विभाजन कर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भले ही रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य प्रस्थान के रूप में आचार्यों को वर्गीकृत करने का प्रयास किया गया हो, किन्तु एक प्रस्थान में परिगणित आचार्य दूसरे प्रस्थानों के तत्वों का भी निरूपण करते देखे जाते हैं। अतः उन्हें परस्पर विरोधी-आचार्य मानना उचित नहीं है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि काव्य शरीर के निरूपण में आचार्यों के मतों में भिन्नता दिखाई देती किन्तु अन्तस्तत्व लोकात्तराह्लाद में सभी एक मत हैं। यहाँ प्रथम आचार्य भामह और व्याख्या काल के अन्तिम आचार्य पण्डितराज के काव्यलक्षण की पङ्क्तियों के तुलनात्मक अध्ययन से बात स्पष्ट हो जाएगी। भामह का काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' माना जाता है, किन्तु इसके अव्यवहित पूर्व की पङ्क्तियों से यह सिद्ध होता है कि यह वाक्य शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में से किसी एक के महत्त्व को स्वीकार करने वाले आचार्यों के मतों के निराश के लिए भामह ने लिखा है। यह अंश इस प्रकार है–

"रूपकादिरलङ्कारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।।
रूपकादिमलङ्कारं वाह्यमाचक्षते परे
सुपां तिडां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दामिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः।।
शब्दार्थौसहितौ काव्यम्.......।"

(काव्यालङ्कार १/१३/१६)

काव्यभेद और मार्गादि की चर्चा के बाद वे काव्य का स्वरूप स्थिर करते हुए लिखते हैं–

"(न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।)
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः।" (वही १/३६)

वस्तुतः **'शब्दार्थौ सहितौं'** का तात्पर्य शब्दालङ्कार दोनों मिलकर काव्य है, यह है भामह के लक्षण की पङ्ति **'वक्राभिधेयशष्दोक्तिः-'** में उनका समीहित काव्यस्वरूप समाविष्ट है और **'शब्दार्थौं सहितौ-'** की अवधारणा में कोई विरोध भी नहीं है।

पण्डितराज का लक्षण है–

"रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्"

दोनों आचार्य अपने लक्षण में प्रयुक्त शब्दों

(रमणीय तथा वक्र) का अर्थ भी स्वयं बताते हैं–

"रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता"

इस प्रकार पण्डिराज जगन्नाथ रमणीयता का तात्पर्य बताते हैं तथा भामह वक्रता का तात्पर्य बताते हुए लिखते हैं–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा।।
..... सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनायार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।।"

(काव्यालङ्कार २/८१, ८५)

इस प्रकार वक्रोक्रि का अर्थ है **'लोकातिक्रान्तगोचरं वचः।'** जो अर्थ रमणीयता का है वही वक्रोक्ति का। अब दोनों आचार्यों के लक्षण पङ्क्ति का शब्दक्रम द्रष्टव्य है–

वक्र+अभिधेय+शब्द+उक्तिः
रमणीय+अर्थ+प्रतिपादक+शब्दः

दोनों आचार्यों के लक्षण पंक्ति के शब्दों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है, जैसा कि उनके ही द्वारा बताये गये उसके तात्पर्य से स्पष्ट है। दोनों आचार्य अन्तस्तत्व लोकोत्तर आह्लाद पर बल देते हैं। भामह को अलङ्कारवादी और लक्षण निरूपण में शब्दार्थवादी कहा जाता है और पण्डितराज को रसवादी तथा लक्षण की दृष्टि से शब्दवादी कहा जाता है किन्तु लक्षण की पङ्क्तियों में अत्यन्त संवाद दृष्टिगत होता है।

आनन्दवर्धन **'शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'** तथा **'सहृदयहृदयाह्लादित्वमेव काव्यत्वलक्षणम्'** ऐसा लिखकर शब्दार्थ को काव्य का शरीर और आह्लादको उसकी पहचान या अन्ततत्व बताते हैं। दण्डी भी **'शरीर' तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'** कहकर पदावली को काव्य का शरीर स्वीकार करते हैं। वामन भी शब्दार्थ को काव्य का अधिकरण मानते हैं– **'काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कार संस्कृतयोः शब्दाव्ययोर्वर्तते।'**

कुन्तक भी काव्य के लोकोत्तर चमत्कार के उन्मीलन में प्रवृत्त दिखाई देते हैं–

"लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यासिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोप्यपूर्वो विधीयते।।"

आचार्य मम्मट ग्रन्थारम्भ में कवि वाणी का वैशिष्ट्य **'नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीम्- 'आदि रूप में बताते हैं तथा इहाभिधेयं स प्रयोजनमित्याह'** लिखकर **'काव्यं यशसे-'** को काव्य प्रयोजन बताते हैं और इसके **'सद्यः परनिर्वृतये'** को स्पष्ट करते हुए–**'सकल प्रयोजन मौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादमुदूभूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं..... शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापार प्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म....।'** यह तात्पर्य बताते हैं। यहाँ यत्काव्यं कह चुके हैं अतः काव्यस्वरूप या काव्य शरीर के प्रतिपादन के लिए **'तत्स्वरूपमाह'** कहकर **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि.... सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।**

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस प्रकार उसका अधिकरण बताते हैं। यहाँ प्रयुक्त तत् का यत् से सम्बन्ध जोड़ने पर काव्य का अन्तरतत्त्व तथा उसका शरीर दोनों ही उनकी दृष्टि से स्पष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि मम्मट भी **'लोकात्तरवर्णना'** ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो काव्य के अन्तरतत्व के व्याख्यान में सभी आचार्य प्रायः समान रूप से अपना मत व्यक्त करते हैं। अन्ततः हम कह कहते हैं काव्य का असाधारण धर्म हुआ लोकोत्तर अह्लाद, किन्तु आह्लाद चित्र, बाद्ययन्त्रादि से भी प्राप्त होता है, अतः असाधारण धर्म (लक्षण) का कथन करते समय उसके अधिकरण शब्द शब्दार्थ, पदावली, वाक्य, वाक्, अर्थ आदि का भी उल्लेख करना आचार्यों ने आवश्यक समझा है।

इस प्रकार वैदिक ऋषि काव्य को **मधुमती वाणी**, लौकिक सत्कवि **आह्लाद** और काव्यशास्त्र के आचार्य **लोकोत्तर आह्लाद** जो वाक् अथवा शब्दार्थादि से प्राप्त होता है उसे काव्य कहते हैं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२५

आ. राममूर्ति त्रिपाठी का साहित्यशास्त्रीय चिंतन

डॉ. त्रिभुवन नाथ शुक्ल

किसी भी शास्त्र का विद्वान होना अथवा श्रेष्ठ विद्वान होना अलग बात है और चिंतक होना अलग बात है। सभी विद्वान चिंतक हों यह आवश्यक नहीं। मगर चिंतक विद्वान होगा ही यह तय है। कारण कि विद्वान प्रथम सोपान है और चिंतक द्वितीय। ज्ञान जो विद्वान होने का कारक है, वह जानकारी सापेक्ष्य है और चिंतक बोध सापेक्ष्य है। ज्ञान सहज एवं श्रमार्जित है, किन्तु चिंतन किसी भी शास्त्र की पूरी परंपरा के आत्मसात का सुफल है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी इस दृष्टि से साहित्यशास्त्र की पूरी परंपरा को आत्मसात किए हुए एक श्रेष्ठ चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनका यह चिंतन यथा समय जिन कृतियों में व्यक्त हुआ है, वे हैं– व्यंजना और नवीन कविता, भारतीय साहित्य दर्शन, औचित्य विमर्श, रस विमर्श, लक्षण और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार और साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष आदि।

व्यंजना और नवीन कविता त्रिपाठी जी की प्रथम कृति है। इसमें दो खण्ड हैं– सिद्धांत परक और संचार परक। सिद्धांत परक खण्ड में सामान्यतः सात शक्तियों की चर्चा की गई है–१. अमिधा, २. लक्षण, ३. व्यंजना ४. तात्पर्य. ५. रसना, ६. भावना और ७. भोग। भावना और भोग की कल्पना भट्ट नायक द्वारा की गई है। 'तात्पर्य' की चर्चा काव्य और काव्यशास्त्र में अनेक रूपों में मिलती है। इनके अतिरिक्त शेष बचती हैं तीन-अमिधा, लक्षण और व्यंजना।

त्रिपाठी जी ने न केवल अमिधा के स्वरूप की चर्चा की है, अपितु उसके ग्राहक स्रोतों का भी उल्लेख किया है। उसी संदर्भ में अमिधा के लिए उपयोगी संकेतग्रह और उसके विषयों का भी निरूपण किया है। साथ ही शक्तिग्रह की प्रक्रिया भी बताई है।

अमिधा का संक्षेप में सांगोपांग विवेचन करने के अनन्तर लक्षण का भी संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि शास्त्रों में लक्षण के स्वरूप के संदर्भ में कई तरह के मत मिलते हैं। प्राचीन आचार्यो का मत है कि– अमिध्याविंत्राभूत प्रतीतिर्लक्षणोच्यते अर्थात् वाच्यार्थ सम्बद्ध प्रतीति को भी लक्षण कहा जाता है। गंगेशोपाध्याय प्रभृति काव्य आचार्यो ने उनके विपक्ष में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है– "शक्ति सम्बन्धो हि लक्षणा" और मुख्यार्थ बाध्य तथा रूढ़ि अथवा प्रयोजन को निमित्त बताया। मम्मट ने इन तीनों (संबंध, बाध्य और प्रयोजन) की चर्चा करते हुए लक्षणारोपिता क्रिया कहा है। अर्थात् लक्षणा है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वस्तुतः अर्थ का व्यापार, जिसे शब्द में आरोपित किया गया है।

इस प्रकार लक्षणा और अभिधा का विवेचन पूर्व पीठिका के रूप में करते हुए लेखक मुख्य प्रतिपाद्य की ओर मुड़ा है, जैसा कि प्रबंध का शीर्षक बनता है।

इस महत्वपूर्ण शक्ति व्यंजना का खण्डन जिस प्रकार ध्वनिपूर्व आचार्यों ने किया है, उसी प्रकार परवर्ती आचार्यों ने भी किया है। पूर्ववर्ती आचार्यों ने यदि एक तरफ इसका खण्डन किया है तो दूसरी ओर अनेक पर्यायवाची या साक्षात् शब्दों द्वारा उसकी उपेक्षा भी की है। यदि ध्वनिवादी आनन्दवर्धन को इसका पता न होता तो 'समाम्रात् पूर्व' यह पद निरर्थक होता। उन्होंने अपने से पूर्व ध्वनि विरोधियों की सम्भावना की है, क्योंकि जब व्यंजना की स्पष्ट सत्ता ही प्रतिपादित नहीं हुई तो उसके खण्डन का सवाल ही कहाँ खड़ा होता है। इसलिए उन्होंने सम्भावना की है।

ग्रन्थकार ने सम्भाव्यमान इन तीनों पक्षों का सविस्तार उल्लेख और खण्डन किया है। परवर्ती विरोधियों में महिम, कुन्तक तथा अन्य शास्त्रकार प्रमुख हैं, जिनका खण्डन प्रकाशकार ने अपने ग्रन्थ में भली-भाँति कर दिया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने उसकी भी चर्चा की है। व्यंजना विरोधियों का खण्डन करने के बाद स्वरूप परिचायक परिभाषा प्रस्तुत की गई है।

आलोच्य ग्रन्थ में इन सब बातों के बाद व्यंजना के भेद-प्रभेद का विषय उठाया गया है। वैसे तो उसके अनेक भेद हैं जिनका विस्तार ग्रन्थ में प्राप्त है पर सामान्यतः उसे शाब्दिक और आर्थी दो भागों में विभाजित किया गया है। शब्दों के भी दो भेद टीका ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ मिलते हैं– अभिधामूलक और लक्षणामूलक। लक्षणामूलक को शाब्दी व्यंजना के रूप में दी गई मान्यता मनीषियों की दृष्टि में शिथिल है। इसलिए बहुत से लोग उसे मान्यता प्रदान नहीं करते। शाब्दी व्यंजना के सन्दर्भ में 'लोचन' में अनेक पद दिये गये हैं और स्वर्गीय पं. कामतानाथ तेलंग ने अपने एक विशेष लेख में उसका खण्डन किया है। ग्रन्थकार ने इस सब पर अच्छे तरह विचार करते हुये पंडितराज जगन्नाथ के साथ शाब्दी व्यंजना का मण्डन किया है। इस प्रकार ग्रन्थ का सिद्धांत पक्ष प्रायः पूरा हो जाता है। ग्रन्थ के दूसरे खण्ड में इस सिद्धान्त का प्रायोगिक (व्यावहारिक) पक्ष निरूपित किया गया है। इस व्यावहारिक खण्ड के भी दो उपखण्ड हैं– पहला व्यंजना के प्रयोग का पारम्परिक या शास्त्रीय प्राचीन स्वरूप और दूसरा हिन्दी की कविता में उभरता हुआ इसका नव्य रूप।

व्यंजना के प्रकाश में हिन्दी काव्य का एक प्रयोग साँचा पूरी पुस्तक में खड़ा किया गया है। साँचा यों ही खड़ा नहीं हो जाता। उसके लिए पूरी परम्परा का आत्मसात् होना अनिवार्य है। त्रिपाठी जी उस परम्परा के पारीण एवं धुरीण आचार्य हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त साँचे को अग्रांकित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

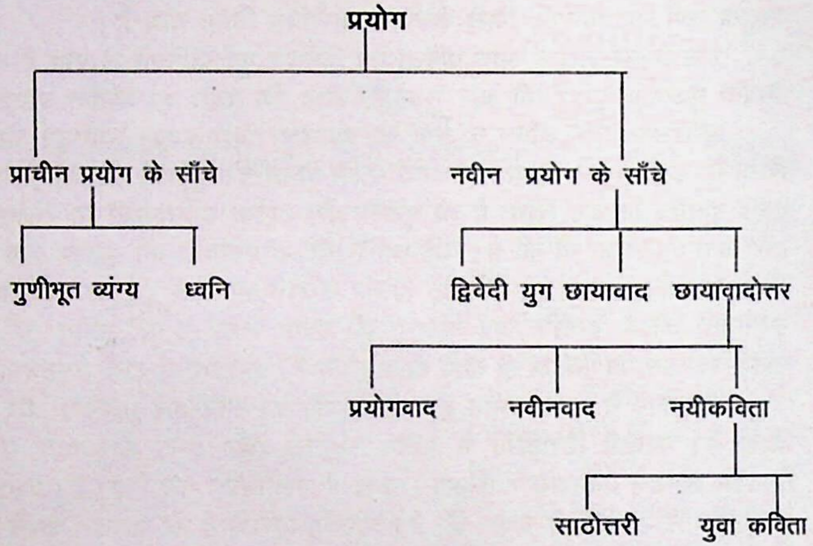

पन्त (आ. कवि 'ताज') की काव्य-पंक्ति का एक शोभन उदाहरण (अर्थास्तर संक्रमित) अगूढ़ व्यंग्य का (उपादान लक्षणाश्रित) दिया गया है–

"संग सौंध में हरे श्रृंगार मरण का शोभन नग्न,
क्षुधातुर, वास विहीन रहे जीवित जन।"

इन पंक्तियों की मीमांसा में बताया गया है कि– 'मरण' शब्द का सम्बन्ध शोभन श्रृंगार से विवक्षित है, पर 'मरण' का श्रृंगार होना, कभी सम्भव नहीं अतः 'मरण' शब्द का वाच्यार्थ एवं आश्रित बनकर 'मरण' वाला या मृतक (धर्मी) में संक्रान्त हो जाता है। यहाँ 'मरण' शब्द की उपादान लक्षण (मरण वाले) में है। 'मरण' वाच्यार्थ है जो स्वयं धर्म बनकर 'वाला' इस धर्मो का आश्रित हो जाता है। यही उपादान लक्षणा के सहारे वाच्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण है। इस प्रकार 'मरण+वाला' (वाच्यार्थ+अर्थान्तर) दोनों मिलकर 'मरण' शब्द की उपादान लक्षणा से प्राप्त 'लक्ष्यार्थ' हुए। उपादान शब्द का अर्थ ही है– ग्रहण।

ऐसे ही अगूढ़ गुणीभूत व्यंग्य का साकेत से एक उदाहरण है–

"साल री सखि, माँ की झाँकी वह चित्रकूट की मुझको।
बोली जब वे मुझसे मिला न बन न भवन ही तुझको।।"

ग्रन्थकार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है– "इस पद में 'भवन' शब्द ध्यान देने योग्य है।" यहाँ उर्मिला के लिए कहा गया है कि– "न तुम्हें भवन ही मिला और न बन ही।" आप्त-प्रमाण से जब हमें ज्ञात है कि उर्मिला को भवन मिला तब बुद्धि सीधे यह बात स्वीकार नहीं कर सकती कि उर्मिला को 'भवन' नहीं मिला। यहाँ भवन शब्द का सामान्य रूप में जो अभिधेयार्थ है, उसकी उपादेयता बिल्कुल

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

नहीं है। परन्तु कवि ने अपने भावावेश में जिस 'भवन' के न मिलने का उल्लेख किया है, वह 'भवन' सामान्य नहीं, कुछ विशेष है, जिसकी प्रतीति में अभिधा असक्त है।

अभिधा के असक्त होने पर उपादान लक्षण प्रस्तुत शब्द की प्रासंगिक उपयोगिता बनाने के लिए विशेष देने का उपक्रम करती है। 'भवन' शब्द के सामान्य अर्थ को अर्थान्तर से संक्रमित करने को जोर मारती है। वहाँ भवन शब्द का वाच्यार्थ एवं आश्रय बनकर प्रासंगिक उपयोगिता के लिए 'सुखमयता' रूप धर्म को और ग्रहण करता है, इस प्रकार यहाँ 'भवन' शब्द का अर्थ 'सुखमय भवन' हो गया है एक पतिव्रता सती के लिए पति के साहचर्य से बढ़कर भवन की सुखमयता और कुछ नहीं है, उर्मिला के लिए वही तो नहीं है, फिर उसे सुखमय भवन कहाँ मिला? पति के अभाव में 'भवन' सुखमय नहीं दुखमय है, तो उसका न मिलना बराबर ही है। वक्ता के इस ढंग से कथन का प्रयोजन यही है कि उर्मिला के लिए सम्प्रति कहीं सुख नहीं है। यह प्रयोजनांश इतना स्फुट है कि, किसी भी साधारण सचेत ग्राहक को वाच्यार्थ के समान सुनते-सुनते झलक जाता है। इसकी यही अतिस्फुट 'अगूढ़' होने का कारण इसी क्रम में लक्षणाश्रित अत्यन्त तिरस्कृत वाक्य स्थान के प्रयोजनांश की अगूढ़ता, अपरांग व्यंग्य, वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य, अस्फुट व्यंग्य का (काव्याक्षिप्त) गुणीभूत व्यंग्य, संदिग्धप्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, असुन्दर व्यंग्य के उदाहरणों के रूप में मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त और अंचल की कविता की प्रस्तुति एवं मीमांसा की गई है। इसके माध्यम से त्रिपाठी जी ने यह उद्‌घोष किया है कि हिन्दी में व्यंजना ने अपने प्रसार का पुराना मुख बन्द नहीं किया है।

१. कुल मिलाकर ग्रंथ के पूर्वार्ध का मुकुरमय शास्त्रीय कलेवर हिन्दी की नवीन कविता की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने में पूर्ण सामर्थ्य से युक्त हैं।[1]

१. भारतीय साहित्य दर्शन

इस पुस्तक में कुछ ऐसी बातें हैं जो काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पहली बार आई हैं। उदाहरण के लिए काव्य स्वरूप, प्रयोजन और हेतु तथा भेदोपभेद को ही लिया जाए। लेखक ने यह पहली बार लक्षित किया है किसी सहित्य का स्वरूप जिन दो पद्धतियों से प्रकाशित होता है– व्युत्पत्ति और परिभाषा, उनमें से दोनों का उल्लेख तो किया ही गया है– विशेष रूप से सम्पूर्ण परिभाषाओं को दृष्टिगत कर उन्हें दो वर्गों में विभक्त कर दिया गया है– विशिष्ट शब्दवली वर्ग और विशिष्ट शब्दार्थवादी वर्ग। प्रथम वर्ग के भी दो उपवर्ग हैं और द्वितीय के भी– काव्य सामान्यपरक और काव्य विशिष्टपरक। इस प्रकार बनाए गये इन चार वर्गों की परिभाषाओं के साँचों में संस्कृत साहित्यशास्त्र की सभी परिभाषाएँ समाहित हो जाती हैं।

१. त्रिपाठी जी ने इसमें काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत हेतु और प्रयोजन को जहाँ संस्कृत काव्यशास्त्र की पूरी परंपरा के साक्ष्य पर स्पष्ट किया है वहीं अद्यावधि हुए विभिन्न आलोचकों के मतों को भी सामने रखते हुए विचार किया है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२. काव्य स्वरूप के संदर्भ में उनकी अपनी मान्यता है कि "काव्यानुकूल शब्दार्थ स्फुरण" स्वरूप प्रतिभा ही काव्य हेतु है। आचार्य त्रिपाठी ने 'प्रतिभा' का विवेचन विभिन्न दर्शनों के आलोक में किया है। इसीलिए उन्होंने प्रतिभा को 'निर्मल चित्त' और 'चित्तस्वरूप' कहा है।

३. हिन्दी जगत सबसे कम जिस काव्यशास्त्रीय तत्व से अपरिचित है– वह है शब्द शक्ति का विवेचन। ग्रन्थकार ने अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्य, भावना और भोग नामक शब्द शक्तियों का सोदाहरण और बोधगम्य उपस्थापन किया है। इस उपस्थापन से हिन्दी में लिखित काव्यशास्त्र समृद्ध हुआ है। शाब्दी व्यंजना के ग्रान्थिल पक्ष जिस स्पष्टता के साथ अपनी समग्रता में प्रस्तुत हुए हैं– वह विशेष रेखांकनीय है।[३]

२. औचित्य विमर्श

आचार्य त्रिपाठी औचित्य को स्वतन्त्र संप्रदाय मानने वालों का सशक्त प्रतिवाद करते हुए लिखा है–

"औचित्यमत को मैं एक सम्प्रदाय के रूप में नहीं स्वीकार करना चाहा। दूसरे रस की प्रतिस्पर्धिता में औचित्य को काव्य की आत्मा बनाना क्षेमेन्द्र का लक्ष्य नहीं है। आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त की परम्परा का व्यक्ति रस की तरह औचित्य को काव्य की आत्मा न कहकर जैसी व्याख्या डॉ. राघवन् ने की है– "वह मानने लायक है। मैं भी राघवन् के साथ सहमत हूँ।"

१. प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. त्रिपाठी ने औचित्य संबंधी भारतीय विचारणा का आधार लेकर इस विषय के भारतीय और पाश्चात्य विचारकों का संग्रथन किया है और एक समन्वित आधार लेकर विभिन्न विचारकों के निर्देशों को एक अन्विति प्रदान की है। ऐतिहासिक क्रम से औचित्य संबंधी भारतीय और पश्चिमी मतों को संगृहीत कर देना उतना कठिन या उपयोगी कार्य नहीं है जितना उन समस्त विचारों को एक विशिष्ट केन्द्र में रखकर उनके संबंध में अभिमत व्यक्त करना है। केवल क्रमागत को एक सुनिर्धारित भूमिका और दृष्टिभंगी देने पर ही हो सकता है। त्रिपाठी जी ने प्रस्तुत पुस्तक में यह कार्य सम्पन्न किया है।[४]

२. आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने लिखा है–"औचित्य मत पर यह आक्षेप किया जाता है कि वह एक पूर्व निर्धारित नैतिक भूमिका समर्थन करता है और काव्यालोचना में नैतिकता के प्रश्न को एक बहिरंग वस्तु के रूप में प्रस्थापित करता है। परन्तु यह आरोप त्रिपाठी जी के विवेचन के निरस्त हो जाता है। नैतिकता और सामाजिकता व्यवहार की कोई स्थिर रूपरेखा नहीं है, वे एक गतिशील पदार्थ हैं– अतएवं औचित्य की धारणा भी गतिशील है और विभिन्न युगों में बदलती रहती है। औचित्य का कोई एक प्रतिमान स्वीकार नहीं किया जा सकता, इस स्थापना से औचित्य को एक स्थिर नैतिक सिद्धान्त मानने वाले पक्ष का निरसन हो जाता है।"[५]

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

३. रस विमर्श

डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने रस विमर्श पर यथावत विचार किया है। उनके कुछ महत्वपूर्ण कथनांश हैं–

(१) इस ग्रन्थ का प्रकाशन वस्तुतः आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और सम्मत की परंपरा में एक आचार्य का अवतरण है।[६]

(२) 'रसविमर्श' को हमारी सदी में काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक और सैद्धांतिक अध्ययन के संरंभ के साथ भारतीय साहित्यशास्त्र की एक पुख्ता जमीन तैयार करने के उक्त प्रयासों की एक महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए।[७]

(३) आनंदवर्धन और अभिनव के प्रति पूरी प्रतिबद्धता रखने वाले आचार्य त्रिपाठी की यह विशद अधीति और उदारता दोनों का प्रमाण है।[८]

१. आचार्य त्रिपाठी ने रस संबंधी विवेचन को पाँच परंपराओं में विभक्त किया है।[९]

(१) भगवानदास, आचार्य केशव प्रसाद मिश्र की पातंजल योग शास्त्रीय शब्दावली से संपृक्त परंपरा।

(२) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रस से आनंद पक्ष के साथ-साथ उसके उपयोगितावादी पक्ष को स्वीकार करने वाली परंपरा।

(३) अभिनव गुप्त और आनंदवर्धन की विचारणाओं से आसन्नता रखने वाली स्वच्छंदतावादी चिंतकों की परंपरा।

(४) इस तत्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने वाले समीक्षकों की परंपरा।

(५) व्यक्तिवादी चेतना को प्राधान्य देकर सह-अनुभूति की चर्चा करंने वाले उन आधुनिकों की श्रेणी जो रस तत्व पर आस्था ही नहीं रखते।

२. डॉ. त्रिपाठी ने भरत की रस व्याख्या में रस का केन्द्रीय आधार अनुकूल आस्वाद निरूपित किया है और रस को आस्वादायक माना है। काव्य की ग्राह्य आस्वाद मूलकता को रस का केन्द्रीय आधार मानते हुए भी उन्होंने नाट्यशास्त्रकार की रस व्याख्या से निष्कर्षों के माध्यम से स्पष्ट किया-रस का आस्वाद सहृदय या सुमनस्क प्रेक्षक करते हैं, वे अभिव्यंजक स्थायी भाव का आस्वाद लेते हैं और भावों की रसात्मक परिणित में सामान्य गुण-योग-अपेक्षित होता है।

३. डॉ. त्रिपाठी का मतव्य है कि भरत से भरत के दार्शनिक व्याख्याकारों के बीच श्रव्य काव्य चिंतकों में रसविमर्श को कोई वैचारिक पृष्ठभूमि नहीं दी। उनके अनुसार शंकुक की रस विचारणा तार्किक दर्शन पर आधारित है। भट्टनायक की भरत सूत्रीय व्याख्या की दार्शनिक पृष्ठभूमि को वे विवादास्पद मानते हैं। क्योंकि म. न. गोविन्द ठाकुर और आनंद प्रकाश दीक्षित ने जहाँ उसे सांख्य दर्शनानुसारी माना है, वहीं अभिनव गुप्त ने लोचना में भोग के अतिरिक्त भावना के विश्लेषण से स्थिर

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होता है कि वे मीमाँसा की भावना से प्रभावित हैं। नाट्यशास्त्र की प्रथम कारिका पर भट्टनायक की जो व्याख्या मिलती है उसे उन्होंने अद्वैत वेदांत के अधिक निकट पाया है। वह भेदमय संसार को निस्सार कहा गया है।

३. प्रो. त्रिपाठी का अभिमत है कि– भोज जहाँ प्राकृतिक अहंकार को रस कहते हैं, वहाँ आत्मानंद को भी रस मानते हैं। वे अहंकार को श्रृंगार कहते हैं और अग्निपुराण में रति को श्रृंगार माना गया है, इस प्रकार दोनों में पर्याप्त अंतर है।

४. डॉ. त्रिपाठी की व्याख्याओं में यद्यपि दार्शनिक रूप अधिक उभरता है, किन्तु वे मनोवैज्ञानिक भूमिका से भी असंपृक्त नहीं हैं।

३. लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार

प्रस्तुत कृति साहित्य शास्त्रीय चिंतन के सिद्धांत पक्ष और उसके विनियोग का अथ है और इति भी। डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा ने लिखा है, "काव्यगत प्रयोगों के संकलन तथा उसमें लक्षण के भेदों-प्रभेदों का संचार आचार्य त्रिपाठी जी का सर्वथा अपना मौलिक और चिंतनीय प्रयास है। उनका यह प्रयास भारतीय समीक्षा शास्त्र की संभावनाओं को नया आयाम देता है।[१०]

(क) डॉ. त्रिपाठी शब्द प्रमाण के संदर्भ में विभिन्न दर्शनों के आलोक में पृथक-पृथक विचार किया है और अंत में न्यायमंजरी (पृ. १६) के साक्ष्य पर वे कहते हैं अनुमान प्रमाण से शब्द प्रमाण भिन्न है। दोनों में अनुमानोपयोगी भी नहीं है। दोनों का प्रतिपाद्य प्रतिपादक संबंध है, व्याप्यव्यापक नहीं। अदृष्ट एवं विप्रकृष्ट अर्थों की प्रतीति में शब्द प्रमाण की महिमा का अपलाप नहीं किया जा सकता।[११]

(ख) इसी प्रकार शब्दार्थ संबंध के संदर्भ में उनका अभिमत है– सारांश यह कि शब्द और अर्थ का संबंध यदि अनित्य माना जाए तो ऐसे न जानें कितने दुःसमाधेय प्रश्न उठते जाएँगे, इसलिए यही उचित है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य नहीं नित्य मानना चाहिए।[१२]

इसी प्रकार लक्षणा के अन्य प्रकार के सिद्धांत पक्ष और व्यवहार पक्ष से यह ग्रंथ पटा पड़ा है। सीमाओं के कारण यहाँ इन सभी का उपवृहंण संभव नहीं है।

४. साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष

त्रिपाठी ने 'साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष' के पूर्व जिन काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की रचना की है, वे सभी पक्ष और साहित्यशास्त्र का क्वचिदन्यतोऽपि इसमें सम्मिलित कर लिया है। यह क्वचिदन्यातोऽपि है "सर्जन (कविव्यापार) और, ग्रहण (भावना व्यापार) एक का संबंध अलंकारवाद से है और दूसरे का रसवाद से। त्रिपाठी जी ने इस संदर्भ में स्पष्टतः कहा है– वस्तुतः सर्जना पक्ष से विचार करने वाले का वाद अलंकार वाद एवं ग्रहण पक्ष से विचार करने वालों का वाद रसवाद है।

वे आगे लिखते हैं–इन दोनों धाराओं के आचार्यों में इतना अंतर अवश्य है कि जहाँ पहला वर्ग सौंदर्य का आधार और स्रोत शरीर तथा शरीराश्रित धर्मों (अलंकार एवं गुण) को मानता है तो दूसरा आत्मा को। पहला सौन्दर्य का आधार काव्य के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

शरीर शब्द एवं अर्थ को मानता है और उसका स्रोत गुण तथा अलंकार को जबकि दूसरा सौन्दर्य का मूलाधार आत्मभूत 'प्रणीयमान' या रस को मानता है। इसी प्रकार और भी कई बीजभाव यथास्थान विन्यस्त हुए हैं।

आचार्य त्रिपाठी के साहित्यशास्त्रीय चिंतन की व्याप्ति और गहराई को समझने (पूरी तरह) के लिए एक बहुत बड़े (विजन) की आवश्यकता है, वह विजन हमारे जैसे व्यक्ति द्वारा प्राप्त करना असंभव है। इसीलिए यहाँ उनके चिंतन के संदर्भ में जो कुछ भी कहा जा सका है, वह मात्र एक दुस्साहस है। फिर भी निशा में उड़गन का भी कभी-कभी महत्वांकन हो जाता है। यदि ऐसा हो जाए तो उसे सहेजने में मुझे कोई कठिनाई नहीं होगी। इत्यलम्।

संदर्भ

१. सारस्वत विमर्श, विश्वेश्वर से महाकालेश्वर, डॉ त्रिभुवननाथ शुक्ल, व्यंजन और नवीन कविता, शीर्षक लेख, पृ. १६१
२. वही, डॉ. कृष्णकांत चतुर्वेदी, भारतीय साहित्य दर्शन : आलोचनात्मक अध्ययन, शीर्षक लेख, पृ. १६४
३. वही, पृ. १६६
४. वही, डॉ. नंददुलारे बाजपेयी, औचित्य विमर्श, शीर्षक लेख, पृ. १६६
५. वही, पृ. १७०
६. वही "रस प्रस्थान पर महत्वपूर्ण ग्रंथ" शीर्षक लेख, पृ. १८४
७. वही, पृ. १८४
८. वही, पृ. १८६
६. रस विमर्श, प्राक्कथन, पृ. १
१०. लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार : काव्य शास्त्र की नयी दिशा, पृ. २३
११. डॉ. राममूर्ति त्रिपाठीः लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार, पृ. २६
१२. वही,

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२६

संस्कृत काव्यशास्त्रियों की अनौचित्य विषयक दृष्टि

डॉ. देवीदत्त शर्मा

संस्कृत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में प्रचलित "निरंकुशाः हि कवय" तथा "अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। यथास्मै रोचते विश्वं तथैव परिवर्तते" जैसी सूक्तियों को सुनने से, आपाततः ऐसा आभास होने लगता है कि सम्भवतः संस्कृत कवियों की काव्य सृष्टि पर कभी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रहा होगा। अथवा कवियों ने जो कुछ भी लिख दिया होगा, उसे ही काव्य की कोटि में रख लिया जाता रहा होगा तथा वे लोक एवं शास्त्र की मर्यादाओं से प्रतिबद्ध नहीं होते होंगे, उन्हें सम्भवतः इस बात की छूट दी गयी होगी कि वे जैसा चाहें वर्णन कर सकते हैं। किन्तु संस्कृत के पुरातन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का निरीक्षण करने पर उपर्युक्त धारणा भ्रान्त सिद्ध हो जाती है, उसके प्रकाश में देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि उनके सम्बन्ध में कहीं गयी उपर्युक्त प्रकार की उक्तियों का सम्बन्ध केवल उनकी निरंकुश कल्पनाओं तक ही सीमित है। उन्हें कभी भी किसी शास्त्रकार ने लोक व शास्त्र की मर्यादाओं का उल्लंघन करने की स्वीकृति नहीं दी है।

सभी जानते हैं कि काव्य सर्जना का प्रमुख लक्ष्य है रसाभिव्यक्ति, जिसे कि आचार्य विश्वनाथ ने सूत्रबद्ध रूप में "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" के द्वारा व्यक्त किया है। यह तो उस शास्त्रीय परम्परा की चरम परिणति थी, किन्तु इसके प्रवर्तक प्रथम आचार्य भरतमुनि ने भी "नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते" कह कर इसकी आधारशिला रखी थी। लेकिन रस को नाट्यरचना अथवा काव्यसृष्टि का प्राणाधार मानते हुए भी; उन्होंने लोकव्यवहार को सर्वाधिक प्राधान्य दिया था--

लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्--
तस्मान्नाट्य प्रयोगे तुप्रमाणंलोक इष्यते।।२६, ११३

इसका भाव यह है कि नाट्यादि साहित्यिक रचनाओं में जहाँ शास्त्रीय विधाओं का पालन होना चाहिए, वहीं लोक मर्यादाओं का भी पूरी तरह से पालन किया जाना चाहिए। क्योंकि उनका उल्लंघन किये जाने पर संस्कारवान् सहृदयों को, उसके आस्वादन में वैरस्य की प्रतीति होगी और उस स्थित में काव्य के लक्ष्यी-भूत रस का आस्वादन न होने से, काव्य रचना का प्रयोजन ही निष्फल हो जायेगा।

रसोद्बोध का सम्बन्ध हमारे जन्मान्तर प्राप्त एवं अर्जित संस्कारों के साथ

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

होने के कारण, उसका उद्‌बोध एवं आस्वादन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि वह हमारे चेतन अथवा अवचेतन मन में स्थित संस्कारों के अनुरूप न हो। संस्कारों के सम्बन्ध में यह भी सर्वविदित ही है कि इनके स्वरूप का निर्माण हमारे मन पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ने वाली लोकमान्य एवं शास्त्रमान्य परम्पराओं से होता है। यही कारण है कि काव्य व नाट्य के किसी एक ही विशेष प्रसंग से एक दर्शक को, उसके संस्कारों के अनुरूप होने के कारण रसोद्‌बोध होता है तथा दूसरे को वैरस्य, अर्थात् यदि उसके चेतन अथवा अवचेतन मनस्थ संस्कार उसे लोक एवं शास्त्र की मर्यादा के अनुकूल समझते हैं, तो वह उसमें आनन्दानुभूति प्राप्त करता है, अन्यथा नहीं। काव्यशास्त्रीय परम्परा में उचित की उसमें आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। अन्यथा नहीं। काव्यशास्त्रीय परम्परा में उचित की कसौटी बतायी गयी है, उसकी लोक व्यवहारनुकूलता लोकयात्रा प्रसिद्धमौचित्यम् (रसमंजरी ८,१७ वृत्तिभाग)।

काव्यगत औचित्यानौचित्य

संस्कृत की साहित्यिक कृतियों में निरूपणीय विषयों की सीमाओं के सम्बन्ध में अभिव्यक्त आचार्यों के विचारों को प्रस्तुत करने से पूर्व, औचित्य एवं अनौचित्य के सम्बन्ध में उनकी अपनी धारणाओं का विवेचन अनपेक्षित न होगा। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उनके द्वारा प्रस्तुत काव्य में प्रयोजनों पर दृष्टिपात करने से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन लोगों को 'कला कला के लिए' जैसा सिद्धान्त कभी मान्य नहीं हुआ। उनसे तो मात्र 'कला जीवन के लिए' की प्रतिध्वनि ही गुंजित होती है। (तुल० काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहार विदे शिवेतरक्षतये० का० प्र० १.२) फलतः काव्य रचना का लक्ष्य केवल आनन्दोपलब्धि या मनोरंजन मात्र न होने तथा जीवन के लिए उत्कर्षाधायक होने के कारण, उच्चकोटि की काव्य रचना में कभी भी सामाजिक एवं शास्त्रीय व्यवस्थाओं के विपरीत चित्रण किये जाने की अनुमति नहीं दी। इस प्रकार के विषयों में रस की स्थिति होने पर भी उसे शुद्ध रस नहीं माना, उसे मात्र 'रस का आभास' स्वीकार किया गया तथा काव्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'रसाभास' या 'भावाभास' की संज्ञा से अभिहित किया गया। पर साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की रचनाओं को काव्य की कोटि में (चाहे न्यूनतर कोटि में ही सही) स्थान देकर उन्होंने जहाँ एक ओर अपने आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया, वही यथार्थवादी दृष्टिकोण की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं की। क्योंकि लोक में जो कुछ होता है, वह सभी आदर्श व औचित्यपूर्ण ही नहीं होता है, अपितु तद्‌विपरीत भी होता है। काव्यरचना का ध्येय यदि वर्ण्य विषय को सर्वथा अनावृत रूप में प्रस्तुत करना नहीं होता है, तो उस पर सर्वथा पर्दा डालना भी नहीं होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि उन्होंने नैतिक अथवा सामजिक दृष्टि से अमान्य रूपों को प्रस्तुत करने वाले वाक्यों को उत्तम कोटि के काव्य का दर्जा नहीं दिया, पर साथ ही कवि के स्वातंत्र्य का भी सर्वथा हनन नहीं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

किया। लोक की यथार्थ भूमि पर खड़े होकर उन्होंने कवि को इस बात का अधिकार तो दिया कि यदि चाहे तो व्यक्ति अथवा समाजगत उन रूपों का भी चित्रण कर सकता है, जिन्हें कि नैतिकता एवं लोकाचार की दृष्टि से अभिनन्दनीय नहीं समझा जाता; किन्तु साथ ही यथार्थ चित्रण के नाम पर इस प्रकार के चित्रणों को काव्य रचनाओं में प्रोत्साहन न मिले इसलिए उन्हें शुद्ध रस की पदवी भी नहीं दी तथा उत्तम काव्य की कोटि में भी परिगणित नहीं किया। क्योंकि उनके अनुसार तो शुद्ध काव्य का ध्येय था।

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीर्तिं च साधुकाव्यनिषेवणम्।

भारतीय काव्यशास्त्रीय विवेचनों में अति प्राचीन काल से ही औचित्य एवं अनौचित्य के प्रश्न पर बराबर विचार होता रहा है। काव्यशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य भरत मुनि ने काव्यजगत् के औचित्य और अनौचित्य की परीक्षा के लिए सहृदय (परिष्कृत रुचि के सामाजिक) को आधार माना था। तदनन्तर इस विषय का विवेचन करने वाले लगभग सभी आचार्य इसी कसौटी को मान्यता प्रदान करते रहे। काव्य प्रकार का टीकाकार वामन भट्ट अनौचित्य पर टिप्पणी करते हुए लिखता है– अनौचित्य हि शास्त्रलोकातिक्रमात् प्रतिषिद्वविषयकत्वादि रूपं सामाजिकसंवेद्यम्। तदुक्तमुद्योतादौ अनौचित्यं चं सहृदय व्यवहारतो ज्ञेयम्, यत्र तेषामनुचितंमितिधीः।"[१] क्योंकि संस्कृत रुचि के पाठक या दर्शक का मानस लोक मर्यादाओं तथा शास्त्रीय संहिताओं से प्रभावित रहने के कारण इनका अतिक्रमण करने वाले निरूपणों को अनुचित समझ कर स्वीकार नहीं करता तथा तदनुरूप चित्रणों को उचित समझ कर स्वीकार करता है, अतः काव्यशास्त्रकारों ने इसे ही काव्यगत औचित्य तथा अनौचित्य का मानदण्ड स्वीकार कर लिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी लोक व्यवहार को ही विभावादि के औचित्यानौचित्य की कसौटी के रूप में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं–

विभावादावनौचित्यं पुनर्लोकानां व्यवहारतो विज्ञेयम्।
यत्र तेषानुमचितम् इति धीरिति केचित्। (रसगंगाधर, रसाभास प्रकरण)

सामाजिक तथा शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अतिरिक्त इसकी कोई सर्वथा निरपेक्ष परिभाषा हो भी नहीं सकती थी। यथा भारतीय परम्परा में अन्य लोगों के समक्ष पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक चुम्बन एवं आलिंगनादि क्रियाओं को अनुचित माना– जाने के कारण नाट्याभिनय में रंगमंच पर इनके प्रदर्शन का निषेध किया गया है। (सा० द० ६.१७) किन्तु पाश्चात्य जगत् में इनके प्रति इस प्रकार की धारणा न होने से, इनके प्रदर्शन में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं समझा जाता है। अब सामाजिक परिवेश के बदल जाने के कारण, भारतीय चल चित्रों में भी इस प्रकार का प्रदर्शन संगत समझा जाने लगा है। अतः स्पष्ट है कि औचित्य और अनौचित्य की धारणा लोक एवं देशकाल सापेक्ष है। इस बात की पुष्टि पण्डितराज

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

जगन्नाथ की उस टिप्पणी से भी होती है, जिसमें वे कहते हैं, "नवीन आचार्यों के मतानुसार द्रौपदी का बहुनायक विषयक रति का निरूपण रसाभास ही है, किन्तु प्राचीन आचार्यों के अनुसार वहीं पर बहुनायक विषयक रति रसाभास की कोटि में आती है, जहाँ पर कि वे परिणय सूत्र में प्रतिबद्ध न हों।" 'पांचाल्याः बहुविषयायाः रतेरभिव्यंजनाद्रसाभास एवेतिनव्याः प्राचास्तु अपरिणेतृबहुनायकविषयत्वे रतेराभासेसत्याहुः। (रस गंगाधर प्र० आ० रसाभास प्रकरण)।

इसी प्रकार हमारे संस्कारगत औचित्यानौचित्य के कारण ही हम देखते हैं कि एक ओर तो कुमारसम्भव में कालिदास के द्वारा वर्णित भगवान् शंकर एवं पार्वती के प्रथम मिलन से सम्बद्ध रति वर्णन को हमारी धार्मिक संवेदना को ठेस पहुँचाने के कारण अनुचित कहा जाता है तथा दूसरी ओर राधा एवं कृष्ण के प्रेम प्रसंगों के वर्णन को अथवा कृष्ण एवं गोपियों के प्रसंगों को रसास्वाद का विषय समझा जाता है।

इस सम्बन्ध में यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि एक ही प्रसंग, एक युग के आचार्यों की नैतिक संवेदना के प्रतिकूल होने के कारण अनौचित्य की कोटि में आता है, तो दूसरे युग के आचार्यों की नैतिक व धार्मिक संवेदना के प्रतिकूल न होने से औचित्य की कोटि में। इस प्रकार के भिन्न दृष्टिकोण का निदर्शन कृष्ण तथा गोपियों के प्रेम प्रसंग में पाया जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य विश्वनाथ मानते हैं कि गोपियाँ अन्य व्यक्तियों की विवाहिता पत्नियाँ होने के कारण, श्रीकृष्ण के साथ उनकी प्रेमलीलाओं का निरूपण, अनैतिक होने से रसाभास की कोटि में आता है। (सा० द० ३.२६५) किन्तु सामन्तवादी भानुदत्त आचार्य को इसमें किसी प्रकार का अनौचित्य प्रतीत नहीं होता। वे इसे संगत बताते हुए लिखते हैं– "परन्त्वेषविशेषः।यत्र व्यवस्थिता बह्व्यो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासतथासति कृष्णस्यसकलेत्तमनायकस्य बहुकामिनी विषयाया रतेराभासापत्तेः।" (र० त० ३.२० वृत्ति भाग)। इसके अतिरिक्त श्री मद्भागवत् १०-३३-३६-३८) ने तो इसका आध्यात्मिक समाधान प्रस्तुत करके, इस समस्त प्रसंग को ही अतीन्द्रिय बना दिया है। संस्कृत के आचार्यों द्वारा परिभाषित इनके रूपों पर विचार करते समय हमें इस पृष्ठभूमि को भी ध्यान में रखना होगा। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में औचित्यानौचित्य के प्रश्न का सर्वप्रथम विवेचन अलंकारवादी आचार्य उद्भट के द्वारा ऊर्जस्वि अलंकार के प्रसंग में देखा जाता है। उनका कथन है–

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानांच रसानां च बन्धं ऊर्जस्वि कथ्यते।। (का० सा० सं० ४-३)

आगे चल कर सभी रसवादी आचार्यों ने रसा स्वाद अथवा रसपरिपाक को आधार मान कर, काव्यगत औचित्यानौचित्य को परिभाषित किया तथा इसी कसौटी के आधार पर एक को रस तथा दूसरे को रसाभास की संज्ञा से अभिहित किया। आचार्य अभिनव गुप्त ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में लिखते हैं– "औचित्येनप्रवृतो

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

चित्तवृत्तेरास्वादयत्वे स्थायिन्या रसो व्यभिचारिण्या भावः अनौचिन्येनतदाभासः।" अर्थात् यदि रसविशेष से सम्बद्ध विभावानुभावादि का निरूपण लोक-शास्त्र की मर्यादा के अनुरूप है, तो स्थायीभाव की परिणति रस में और व्यभिचारीभाव की भाव में होती है; किन्तु तद्विपरीत होने पर रसाभास एवं भावाभास में। इसी बात को पुष्ट किया है आचार्य मम्मट ने भी "तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः"। तदाभाासः रसाभासाः भावाभासश्च" (का० प्र० ४-३६) कह कर। काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कर 'अनौचित्य' के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "अनौचित्येन प्रकर्षविरोधिनारूपणेत्यर्थः।" आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रंथ साहित्यदर्पण में रसगत औचित्यानौचित्य के स्वरूपों का विस्तार के साथ स्पष्टीकरण किया है। (सा० द० ३-२६ ३-६६)।

श्रृंगारविषयक औचित्यानौचित्य

भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में श्रृंगार रस भी है और रसाभास भी, अर्थात् जब स्थायीभाव रति औचित्यपूर्ण विभावानुभावादि से युक्त होता है, तब तो यह रस कहलाता है तथा जब अनुचित विभावादि से युक्त होता है, तो रसाभास।

श्रृंगार के स्वरूप एवं प्रकृति के सम्बन्ध में काव्यशास्त्रीय परम्परा के प्रारम्भ से ही पर्याप्त विचार होता रहा है। इसके मूल प्रवर्तक भरतमुनि ने इसके आलंबन के लिए "उत्तम प्रकृतिक एवं उज्ज्वल वेषात्मक युवजन" को ही औचित्यपरक माना है। वे कहते हैं– तत्र श्रृंगारोनाम रतिस्थायीभाव प्रभवः। उज्ज्वल वेषात्मकः–। स च स्त्री पुरुष हेतुकः उत्तम प्रकृतिः (ना० शा० ६५४)। मुनिवर भरत द्वारा स्थापित श्रृंगार के इस आदर्श को ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने अपना पथ-प्रदर्शक माना है। काव्य दर्पण के रचयिता राजचूड़ामणि दीक्षित ने इसी की ओर संकेत करते हुए लिखा है– "उत्तम प्रकृति रूज्ज्वलवेषात्मक। इति श्रृंगार लक्षणात्" (४-१७८ वृत्ति)। इसी प्रकार रूपगोस्वामी भी श्रृंगारं के लिए 'पवित्रता' 'उज्ज्वला' एवं 'शुचिता' का होनां आवश्यक मानते हैं–

"शुचित्वोज्ज्वल्य वैदग्ध्यात् सुवेशत्वाच्च कथ्यते।
श्रृंगारस्य विभावत्वमन्यत्राभासता ततः।" (भक्तिरसामृतसिन्धु, उ० भा० ६-१४)

इतना ही नहीं, वाग्भट ने तो आचार्य भरत के 'स्त्री-पुरुषहेतुकः' को और भी अधिक सीमित करते हुए आदर्श श्रृंगार के लिए यह आवश्यक माना है कि वह मात्र पति पत्नीगत हो (जाया पत्योर्मिथो रत्यां वृत्तिः श्रृंगार उच्यते।– वाग्भटालंकार ५-५। श्रृंगार को रस रूप में स्वीकार किये जाने के लिए यह भी आवश्यक है कि इसके दोनों ही आलम्बन युवजन हों और रति का उद्बोध भी दोनों ही ओर से हो, तभी रसत्व के लिए उसका औचित्य बनता है, अन्यथा नहीं। "तस्माद् द्वयोयूनोः यत्र रतिस्तत्रैव रसः।" (भानुदत्त, रसतरंगिणी, ८८ वृत्तिभाग)। अपि च–

यत्र परस्परानुरागस्तत्ररस यत्रस्त्वन्यतरानुराग एव तत्र न रसः
किन्तु रसवदाभासमानत्वात रसाभास एवेति ध्येयम्।
(राज चूड़ामणि, का० द०, ४-७८ वृत्तिभाग)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

श्रृंगार के औचित्य के सम्बन्ध में भारतीय काव्यशास्त्रियों द्वारा उपर्युक्त आदर्शों का निरूपण करने के उपरान्त अब हम उसके दूसरे पक्ष अर्थात् अनौचित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत विचारों एवं रूपों का विवेचन करेंगे।

रसगत अनौचित्य का सर्वसामान्य लक्षण है अनुचित विभाव के प्रति भाव प्रदर्शन। "आभसत्वमविषय प्रवृत्यानौचित्यम्।" (रुय्यक, काव्य सूत्र ८३ वृत्ति)। काव्यसर्जना के क्षेत्र में अनुचित विभाव के प्रति भाव प्रदर्शन के क्या-क्या सम्भाव्य रूप हो सकते हैं, इस पर विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है।

यों तो अनुचित प्रवृत्ति से सम्बद्ध लौकिक घटनाओं का निरूपण करना तथा उनके रूपों का निर्धारण करना सरल नहीं। फिर भी रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्यों ने इनके विविध रूपों का निर्देश करने का यत्न किया है। श्रृंगारगत अनौचित्य के सम्बन्ध में निर्दिष्ट ऐसे ही कतिपय रूपों का यहाँ पर विवेचन किया जायेगा।

इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्रियों ने श्रृंगार के आलम्बनगत अनौचित्य के जिन आधारों का निर्देश किया है, उनका परिगणन आचार्य विश्वनाथ ने इस प्रकार कर लिया है।

उपनायक संस्थायां मुनिगुरूपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौतथानुभयनिष्ठायाम्।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वधमपात्रतिर्यगादिगते।
श्रृंगारेनौचित्यम् (सा० द० ३-२६४-६५)

अर्थात् रति के उपनायकनिष्ठ होने पर, गुरुपत्नी अथवा मुनिपत्नीगत होने पर एकाधिक पुरुषगत अथवा नायक-नायिका में से किसी एक में ही रहने पर, प्रतिनायकनिष्ठा होने पर तथा अधमपात्र एवं पशु-पक्षीगत होने पर आलम्बनगत अनौचित्य होता है।

यद्यपि श्रृंगार के अनौचित्य के निरूपण, इन सभी रूपों अथवा इनके भेदोपभेदों का निरूपण लगभग सभी आचार्यों ने किया है, किन्तु इनका एक व्यवस्थित वर्गीकरण श्री शिंग भूपाल ने ही किया है। उन्होंने रसार्णव-सुधाकर में श्रृंगार के अनौचित्य (आभास) के जो चार रूप माने हैं वे हैं–

(१) अराग (अनभयनिष्ठरति), (२) अनेकराग (बहुनिष्ठरति), (३) तिर्यग्राग, (४) म्लेच्छ राग (अधमपात्रनिष्ठरति) श्रृंगाररसस्यारागादनेकरागात् तिर्यग्रागात म्लेच्छराग च्चेति चतुर्विधमाभास भूयत्त्वम्। (रसार्णवसुधाकर पृ. २०३) अब हम इन्हीं चार को प्रमुख मानकर इनका तथा इनसे सम्बद्ध अन्य रूपों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

अराग :- इसका अभिप्राय है रति के दोनों आलम्बनों में से केवल एक में इसकी स्थिति का निरूपण। श्रृंगार के निरूपण के सम्बन्ध में सभी भारतीय आचार्यों ने इस बात के एक स्वर से स्वीकार किया है कि रति के देनों आलम्बनों में से

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

किसी एक में भी अनुपस्थिति अनौचित्य का निरूपक है।

(अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्यात् रसभवयोः। हेमचन्द्र, काव्यानु० २५५ आचार्य मम्मट ने अनुभयनिष्ठरति के सम्बन्ध में यद्यपि स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा किन्तु रसाभस से सम्बद्ध उनके उदाहरण– 'बन्दीकृत्यनृपद्विषां' (५-११६) से यह स्पष्ट होता है कि वे अनुभयनिष्ठरति वर्णन को अनौचित्य के अन्तर्गत ही मानते हैं। क्योंकि इस उदाहरण में राजा के सैनिकों के द्वारा शत्रु राजाओं की प्रेयसियों का उन्हीं के समक्ष किये जाने वाले आलिंगन, चुम्बन आदि को रसाभास की कोटि में रखना इसी की पुष्टि करता है। इतना ही नहीं, अनुभयनिष्ठरति के सम्बन्ध में तो उनकी यह भी मान्यता कि विधिवत् विवाहिता पति-पत्नी में भी यदि रति केवल एक पक्षीय है, तो वह भी अनुचित होने के कारण आस्वाद्य नहीं हो सकती। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर के रस भास प्रकरण में एक पक्षीय रति का जो उदाहरण 'भुजपंजरे गृहीत्वा' प्रस्तुत किया है उसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं–

"अत्ररतेः नववध्वां मनागप्यस्पर्शादनुभयनिष्ठत्वेनाभासत्वम्।" वस्तुतः उपर्युक्त प्रकार एक पक्षीय वासनात्मक रति बलात्कार एवं क्रूरता की समकक्षी होने के कारण अनैतिक एवं अनास्वाद्य होती है। लोक एवं शास्त्र की मर्यादा के अन्तर्गत उभयपक्षीय रत्युदबो ही हृदय-हृदय संवेद्य होता है। तद् विपरीत नहीं। इससे स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में रतिभाव को केवल वहीं रस मानने का औचित्य है, जहाँ कि वह युवा पति-पत्नीगत हो। इसके विपरीत किसी भी स्थिति में उन्होंने इसे शुद्ध रूप से रस का रूप स्वीकार करने से स्पष्ट निषेध किया है। यहाँ तक कि उस स्थिति को भी स्वीकार नहीं किया है, जहाँ कि दोनों आलम्बनों में से रति की स्थिति केवल एक में ही दिखायी गयी हो आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्ट रूप से कहा है– "अन्योन्यानुरागाद्यभावेन अनौचित्यात् रसभावयोः" (काव्यानुशासन, २-५५)। इसकी पुष्टि अन्य आचार्यों के द्वारा भी की गयी है। यथा भट्ट सोमेश्वर अन्योन्यानुरागाद्यभावेनानौचित्यम् (का० प्र० काव्यादर्थ संकेत टीका, पृ. ५६)

पूर्वराग :- कुछ आचार्यों के मत में पूर्वराग की स्थिति में भी रति की स्थिति एवं पक्षीय होने के कारण इसे भी रसाभास का ही रूप मानना चाहिए। (दे० सा० द० ३२६ वृत्तिभाग में उद्धृत अभिनवगुप्त का मत) किन्तु इस प्रसंग में शिंग भूपाल इस विचार के प्रति अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इस प्रसंग में नायक या नायिका रति का जो अभाव है, वह मात्र प्रागभाव है, अत्यन्ताभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं; क्योंकि कालान्तर में दर्शनादि के हो जाने पर रत्यभाव वाले पक्ष में भी रागोत्पत्ति सर्वथा सम्भव है। अतः इस प्रकार के निरूपण को रस की दृष्टि से अनुचित नहीं माना जाना चाहिए। 'तत्र प्रागभावे दर्शनादिकारणेषु रागोत्पत्तिसम्भावनया नाभासत्वम्। इतरयोस्तु कारण सद्भावेऽपि रागानुत्पत्तेराभासत्वमेव।' (रसार्णव सुधाकर पृ. २०३)।

इतना ही नहीं, अपितु वे तो कहते हैं कि रसानुभूति के लिए उपर्युक्त

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

आलम्बनों का होना तथा रति का उभयनिष्ठ होना ही पर्याप्त नहीं है, अपितु उसे हमारी नैतिक संवेदनाओं के अनुरूप भी होना चाहिए। इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है भगवान् शंकर तथा पार्वती के प्रथम मिलन के अवसर पर कालिदास के द्वारा प्रस्तुत उनका रति केलि वर्णन, जो कि अनौचित्य के कारण महान् रसदोष की कोटि में गिना जाता है। (अनौचिती च महान् रसदोष) अलंकारशेखर के लेखक केशव मिश्र इसी का संकेत करते हुए लिखते हैं–

भवानी शंकरादीनां पित्रोर्वा केलिवर्णनम्।
अत्युक्तिर्वा नमः साम्यं स्तनादौस्यादनौचिती। (८-२)

उनका कथन है कि प्रस्तुत प्रसंग में यद्यपि भगवान् शंकर तथा पार्वती का परस्पर पति-पत्नी का सम्बन्ध है, दोनों युवा भी हैं तथा दोनों में रति भी उभयनिष्ठ है; किन्तु इस जगत् के स्रष्टा होने से उनके प्रति हमारा जगत् पिता तथा जगज्जननी का पूज्य भाव होने के कारण उनकी रति केलि का वर्णन, माता-पिता की रति केलि वर्णन के समान होने से, हमारी धार्मिक एवं नैतिक संवेदनाओं को आघात पहुंचाता है। अतः यह सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है। इसका रस रूप में आस्वादन नहीं किया जा सकता है। यही नहीं अपितु किसी भी वर्णनीय प्रसंग में लोक एवं शास्त्र की दृष्टि से अनुचित आलम्बनों का प्रस्तुतीकरण रसत्व के गौरव को प्राप्त नहीं हो सकता। "अनुचित विभावालम्बनत्वम् रसाभासत्वम्"। (रसगंगाधर प्र० उ०)।

अनेकराग :- बहुनिष्ठ रति के दो रूप हो सकते हैं। (१) बहुनायिका निष्ठ तथा (२) बहुनायकानिष्ठ। सभी भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार के रति निरूपण को अनैतिक तथा लोक एवं शास्त्र की मर्यादाओं के विपरीत मान कर, उसे रसत्व के रूप में स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। यह रति भाव चाहे एक नायक का अनेक नायिकाओं के प्रति हो चाहे अनेक नायिकाओं का एक नायक के प्रति। दोनों ही स्थितियों में अनौचित्य का रूप होने से रस कोटिक नहीं माना जा सकता है– "एवमेकस्याऽप्येनेकविषयारहितराभास एव" (रस तरंगिणी ८-२० वृत्ति भाग)। इसके इन दोनों रूपों के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों ने अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, उनका सारांश इस प्रकार है।

बहुनायिका निष्ठ :- 'बहुनायिका निष्ठ रति' से अभिप्राय है एक नायक की अनेकनायिकाओं के प्रति अनुराग की अभिव्यक्ति। "एकस्य पुरुषस्यानेकासु कामिनीषु अनुराग रसाभास एवं रसाभास एव" (रसरत्नदीपिका पृ. ४१)। यद्यपि शिवनाथ ने केवल बहुनायकनिष्ठ रति को ही रसाभास माना है। (सा० द० ३.२६४)। किन्तु उनके उत्तरवर्ती आचार्य शिंग भूपाल ने बहुनायिकानिष्ठ रति को भी इस कोटि का माना है। (रसार्णव सुधाकर, पृ. २०४)। प्रतीत होता है कि तत्कालीन सामन्ती व्यवस्था को सामने रखते हुए कुछ आचार्यों ने बहुनायिकानिष्ठ रति के उस रूप को अनौचित्य की परिधि से बाहर रखा, जहाँ कि उनकी संख्या सीमित तथा उनके साथ रति सम्बन्ध समाज-सम्मत एवं मर्यादित हैं।– परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

बह्व्यो नायिकाः भवन्ति तत्र न रसाभासः (रसतरंगिणी ८. २० वृत्तिभाग)। इसी प्रकार राज चूड़ामणि ने यद्यपि बहुनायिकानिष्ठ रति को रसाभास कहा है, किन्तु दक्षिण नायक की बहुनायिकानिष्ठ रति को रस रूप में स्वीकृत किया है। (काव्यदर्पण)। भानुदत्त के अनुसार दक्षिण नायक की परिभाषा है– सकलनायिका विषयक समसहजानुरागो दक्षिणः। (र० म० पृ० १७४)। अतः समानुराग की स्थिति में श्रृंगार की हानि न होने से औचित्य पूर्ण हैं। इस सम्बन्ध में श्री कृष्ण तथा गोपिकाओं के केलि वर्णन के सम्बन्ध में हम पीछे विचार कर ही चुके हैं। दक्षिण नायक की बहुनायिका गत रति के औचित्य को सिद्ध करते हुए कहा गया है– तत्र भोक्तत्वेपुरुषस्य प्राधान्यम्। प्रभदायास्तु भोग्यात्वम्। प्राधान्यादेव च तस्य भोग्येनापरतंत्रीकरणमिति नायिकान्तरयोगेऽपि न श्रृगारहानिः। भोग्यस्य तु पारत ञ्यदेवान्यसम्मिलने श्रृंगारभंगः। (ना० शा० अभि० भा० ६.४६)।

बहुनायकनिष्ठ :- इसका अभिप्राय यह है कि एक नायिका का एक साथ ही अनेक नायकों के प्रति रत्यानुराग प्रदर्शन। शास्त्रकारों ने इस प्रकार के प्रेम को अत्यन्त निकृष्ट कोटि का माना है तथा इस प्रकार की नायिकाओं को कुलटा तथा वेश्या की संज्ञाओं से अभिहित किया है। काव्यशास्त्र की भाषा में यद्यपि इसे भी रसाभास ही कहा गया है–

सर्वसाधारणप्रेमप्रश्रयादिस्वरूपया।
अनौचित्याः रसाभासाः भावाभासाश्च कीर्तिताः। (जयदेव, चन्द्रलोक, ६.१६)

एवमेकस्या युगपदनेकेषु रतिप्रवृत्तिरप्याभास एव (राजचूड़ामणि, काव्यदर्पण ४. १७ वृत्तिभाग)।

आचार्य मम्मट ने यद्यपि रसाभास के इस पक्ष पर पृथक् रूप से कोई विचार नहीं किया है, किन्तु उनके द्वारा दिये गये उदाहरण– 'स्तुमः क वामाक्षि'० (४.४८) से यह स्पष्ट है कि वे इस प्रकार के अनुराग प्रदर्शन को अनौचित्य के अन्तर्गत ही देखते हैं, क्योंकि इसमें प्रेम नहीं अपितु कामवासना की पूर्ति अथवा धनोपार्जन (वेश्या के सम्बन्ध में) यह भाव निहित होता है–

"वित्तमात्रोपाधिकसकलपुरुषानुरागा सामान्यवनिता (वेश्या)। साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति" (शारदातनय, पृ. ६५-६६), भानुदत्त "अतएव वैषयिकाय वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्।" (रस० ८.२० वृत्ति) राजचूड़ामणि दीक्षित "वेश्या विषयत्वे श्रृंगारस्य सुतरामभासत्वाच्च" (का० आ ४.१७८वृत्ति भाग) आदि सभी आचार्यों ने इसे रस की कोटि से बाह्य रखने का ही विधान किया है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ का विचार है कि यदि कोई वेश्या वसन्तसेना के समान एकनिष्ठ तथा सत्यानुरागिणी हो, तो उसका निरूपण रसत्व की दृष्टि से ग्राह्य एवं औचित्यपूर्ण है।

बहुनायकनिष्ठ रति के प्रसंग में द्रौपदी तथा पाण्डवों के रति वर्णन को रस माना जाये या नहीं, इस प्रकार आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। किन्तु अधिकतर आचार्य इसे कामवासना या धन लोलुपता से प्रेरित अनेक निष्ठ रति न होने तथा

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परिणयसूत्र में आबद्ध मर्यादित रति होने के कारण, रस के अन्तर्गत रखने के ही पक्ष में पाये जाते हैं। काव्य प्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य लिखते हैं– अत एवान्यत्रानेककामुकविषयकरतेरभासत्वेऽपि पाण्डवेषु द्रौपद्याः न तथा। (का० प्र० चतुर्थ उल्लास पृ. १२१)।

उपनायकनिष्ठ रति :- जिस देश के समाज व्यवस्थापकों ने नारी के लिए पति ही उसका सर्वस्य घोषित किया है– (मनु० ५.१५४.५५) तथा जहाँ विवाहिता नारी के लिए परपुरुष की कल्पना को भी घोर पाप माने जाने के संस्कार माँ के दूध के साथ ही साथ बिताये गये हों, वहाँ किसी विवाहिता नारी के प्रसंग में उपनायकनिष्ठ रति का निरूपण किसी संस्कारवान् दर्शक या पाठक के लिए रसास्वाद का विषय कैसे हो सकता है? आचार्य विश्वनथ ने तो लोक एवं शास्त्र की मर्यादा के विरुद्ध होने के कारण, कृष्ण एवं गोपियों के केलि प्रसंग को भी अनैतिक (रसाभास) घोषित कर दिया है। (सा० द० ३.२६५)। उन्होंने "अनौचित्यप्रवृत्ते तु आभासरसभावयोः" (३.२६२) की अपनी मान्यता को सभी स्थितियों एवं प्रसंगों के लिए निरपवाद रूप से स्वीकार किया है। वस्तुतः श्रृंगार निरूपण में जहाँ कहीं भी लोक एवं शास्त्र द्वारा निर्धारित पुरुष और नारी के शारीरिक सम्बन्धों की सीमाओं के व्यभिचरण अथवा अतिक्रमण का प्रसंग आया है, उसे इन आचार्यों ने अनुचित एवं अनैतिक कह कर रस रूप में स्वीकार करने से निषेध कर दिया है। उपपति का अर्थ है 'आचारहानिहेतुः पतिरुपपतिः।" (रसमंजरी पृ. १७७)। वस्तुतः नैतिकता तथा समाजव्यवस्था की दृष्टि से उपपति की कल्पना ही अत्यन्त गिरी हुई सामाजिक स्थिति की द्योतक है।

इस प्रकार उपनायक में अनुरग रखने वाली नायिका को परकीया कहा गया है– "अप्रकटपरपुरुषनुरागा परकीया" (रति मंजरी, पृ. ५०)। परकीया परोढ़ा भी हो सकती है और कन्यका भी। मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि सभी ने परोढ़ा के प्रति इस प्रकार के अनुराग प्रदर्शन को अनुचित एवं रसाभास कहा है। इस प्रकार के गुप्त अनुराग की अभिव्यक्ति के अनेक रूप हो सकते हैं, उनमें से कुछ का निरूपण रतिमंजरी में किया गया है, जिन्हें काव्यशास्त्रीय शब्दावली में गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, अनुशयाना, मुदिता आदि नाम दिये गये हैं, जोकि उनकी विभिन्न मानसिक स्थितियों एवं कार्यकलापों की अभिव्यंजक हैं। इनमें से विशेषकर ऊढ़ा परकीया के सभी रूप, नैतिक दृष्टि से निन्द्य हैं तथा काव्यशास्त्रीय भाषा में रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किये गये हैं।

परकीयानिष्ठ रति

श्रृंगारिक निरूपणों के प्रसंग में जिस प्रकार परकीया के लिए पर पुरुष की कल्पना को भी अनौचित्य पूर्ण माना है, उसी प्रकार पुरुष के लिए भी किसी अन्य व्यक्ति की विवाहिता पत्नी के प्रति अनुराग प्रदर्शन को अनौचित्य (रसाभास) कहा है। अलंकार सर्वस्व की विमर्शिनी टीका के लेखक जयरथ ने तो परपत्नी विषयक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'औत्सुक्य' वर्णन को भी अनुचित कहा है। (सू० ८३ की टीका)। अपने दिये गये उदाहरण में अनौचित्य की संगति को दर्शाते हुए वे लिखते हैं–

अत्र शबराणां परदारविषयकमौत्सुक्यमनौचित्येन।

प्रवृत्तमिति भावाभासो राजविषयां रति प्रत्यंगम्।

इसी प्रकार इन आचार्यों ने सीता के प्रति रावण द्वारा अभिव्यक्त अनुराग, चिन्ता स्मरण आदि को अनुचित प्रवृत्ति के कारण रसाभास की ही कोटि में रखा है। "रावण स्येव सीतायां रतेः" (अभिनवगुप्त, लोचन, ध्व० प्र० उ०)। आचार्य रूय्यक ने इसे अविषय में प्रवृत्ति आभसत्वभविषयप्रवृत्यानौचित्यम्। (सू० ८३ वृत्ति) कह कर इसे रसाभास एवं अनौचित्य का निरूपक माना है। यद्यपि अनेक उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में परकीया के भेदों का निरूपक किया गया है, किन्तु साथ ही सभी प्रमुख आचार्यों मम्मट (का० प्र० ५.११६ वृत्ति भाग), विश्वनाथ (सा० द० ३.२६२६३), जगन्नाथ (रसाभास प्रकरण, उपनायकनिष्ठ रति के उदाहरण के प्रसंग में) आदि ने परस्त्री के प्रसंग में वर्णित रति प्रसंग को अनुचित (रसाभास) ही माना है।

श्रृंगारगत और अनौचित्य की अन्य स्थितियाँ

यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने रसाभास तथा भावाभास के जिन क्षेत्रों का उल्लेख किया है, उनके भेद सीमित ही हैं; किन्तु उत्तरवर्ती आचार्यों ने जिन स्थितियों एवं रूपों का निरूपण किया है, वे विविध रूप हैं। उनमें से कतिपय का विवेचन इस प्रकार पाया जाता है।

बालवृद्धगत रतिः- श्रृंगार के स्वरूप विवेचन के प्रसंग में हम देख ही चुके हैं कि इसका लोक परम्परा एवं शास्त्र परम्परा से जो मान्य रूप है, वह है युवा दम्पति का अथवा अनूढ़ा नायिका एवं नायक का परम्परानुराग– "यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक् सम्पूर्णरतिभावः श्रृंगारः" (रसतरंगणी, ६. २ वृत्ति)। किन्तु यदि इसका निरूपण बाल अथवा वृद्ध अवस्था के व्यक्तियों में किया जाय, तो वह अवस्था विरुद्ध होने से अनौचित्यपूर्ण कहा जायेगा। वृद्धों के प्रति श्रद्धाभाव तथा बालकों के प्रति वात्सल्यभाव होने के कारण, इस प्रकार का निरूपण न केवल अनास्वाद्य होगा, अपितु घृणा एव अरुचि का भी उत्पादक होगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने अवस्था के अनुकूलन होने से, इन दोनों को ही अनौचित्यपूर्ण कहा है। (बालवृद्धयोः स्त्री सेवनम्। मधुसूदनी व्याख्या)। इसी प्रकार रूपगोस्वामी ने भी वृद्धागत रति को रसाभास कोटिक माना है। उन्होंने इसका जो मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है–

कज्जलेन कृतकेशकालिमा, विल्वयुग्मरचितोन्नतस्तनी,
पश्य गौरि, किरंती दृगंचलं, स्मरयत्यघहर जरत्यसौ।।

विरक्तगत रति :- इसी प्रकार शास्त्रकारों ने विरक्त के प्रति राग (रति) वर्णन के प्रसंग को भी श्रृंगाराभास का एक रूप माना है। (श्रृंगाराभासः तु यत्र विरक्तेऽपि जायतेरक्तः एकस्मिन्नपरः। रुद्रट, काव्यालंकार, १४. ३६)।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इसी प्रकार अननुरक्तता के प्रति रति प्रदर्शन भी अनास्वाद्य होने से रसाभास ही माना जाता है।

आचार्य रुद्रट ने सम्बन्धी, मित्र, ब्राह्मण अथवा अपने से उच्चवर्ण की स्त्री, विकलांग, संन्यासिनी, गुप्त मन्त्रणा को इधर-उधर करने वाली स्त्री के प्रति अनुराग प्रदर्शन को भी अनुचित कहा है।

सम्बन्धी मित्रं द्विजराजतीक्ष्णवर्णाधिकानां प्रमदा न गम्याः,
विकलांग्यस्तया प्रवजिता विभिन्नमंत्रश्च धर्मार्थमनोभवज्ञैः।

(रुद्रट, श्रृंगारतिलक१.१६५)

इसके अतिरिक्त आचार्यों ने लोक एवं शास्त्र द्वारा निर्धारित आचारों के उल्लंघन, ग्राम्यत (श्रृंगार का अपरिष्कृत रूप में निरूपण), धृष्टता आदि में अनुभावों की विरूपता के कारण, इनसे सम्बद्ध श्रृंगारिक वर्णनों को रस में विरूपता उत्पन्न करने वाला माना है।

समयानां व्यतिक्रान्तिः ग्राम्यत्वं धृष्टतापि च।
वैरुद्धयमनुभावादेर्मनीषिभिरुदीरितम्।।

(रूपगोस्वामी, भक्ति, उत्तरभाग, ६. १४)

उपर्युक्त श्लोक में परिगणित स्थितियों में धृष्टता को स्पष्ट करते हुए वे पुनः लिखते हैं– नायिका के द्वारा मिलन हेतु विस्पष्ट आमन्त्रण धृष्टता कहलाती है। (प्रकट प्रार्थनादिः स्यात् सम्भोगादेस्तु धृष्टता।) स्पष्ट है कि भारतीय ही नहीं, अपितु किसी भी सभ्य समाज में इस प्रकार का निरूपण सुरुचि सम्पन्न दर्शकों अथवा पाठकों के लिए कथमपि आस्वाद्य नहीं हो सकता।

भावगत अनौचित्य

संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार भाव के तीन रूप माने गये हैं– (१) देवादि विषयक रति, (२) प्रधानरूप में व्यंजित संचारी, (३) अपरिपुष्ट स्थायी। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा सम्बन्ध केवल प्रथम प्रकार के भाव से ही हो सकता है। इस प्रसंग में देवादि के अन्तर्गत अन्य जिन व्यक्तियों का परिगणन किया गया है, वे हैं देवत, गुरु, मुनि, राजा, पुत्र आदि। परवर्ती आचार्यों ने इनमें से देव विषयक रति को भक्ति तथा पुत्र विषयक रति को वात्सल्य की संज्ञा से भी अभिहित किया है। इनके प्रति अभिव्यक्त अनुराग के निरूपण में अनौचित्य की स्थिति होने पर वे भावभास कहलाते हैं– भावाभासास्तुभावा नामनौचित्यंप्रवर्तते (काव्यदर्पण, प्र० २१०), अनौचित्यप्रवृत्ते तु आभासः रसभावयोः (सा० द० ३. २६२)।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने भावाभास के अन्तर्गत जिन प्रसंगों का निरूपण किया है अथवा इस प्रसंग में जिन वर्णनों को अनौचित्यपूर्ण माना है, वे हैं– देवता विषयक रति वर्णन, जैसे कालिदास द्वारा कुमारसम्भव में शंकर-पार्वती का रति केलि वर्णन– संभोगश्रृंगाररूपा रतिः उत्तमदेवताविषया न वर्णनीया, तद्वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्त मनुचितम् (का० प्र० पृ० ४४३ वृत्ति) एवं मुनि या गुरु की

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

पत्नी अथवा कन्या, पुत्रवधू या भ्रातृ पत्नी विषयक चिन्तन, स्मरण आदि। अच्युतराय ने दुर्योधन द्वारा द्रौपदी के नेत्रों के सौन्दर्य के स्मरण को भ्रातृ पत्नी विषयक भावाभास का उदाहरण माना है। (साहित्यसार ५/१६)।

इसके अतिरिक्त परम्परागत संस्कारों में पोषित भारतीय जनमानस, वात्सल्य के अन्तर्गत युवा पुत्र या पुत्री के प्रति माता-पिता के द्वारा आलिंगन-चुम्बन आदि के रूप में की गयी स्नेहाभिव्यक्ति को भी अनौचित्यपूर्ण ही मानता है। उसकी दृष्टि में वात्सल्य की परिधि, शिशु अवस्था तक ही परिसीमित होती है।

तिर्यग्गत एवं अधमपात्रगत श्रृंगार

भारतीय काव्यशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य भरतमुनि ने श्रृंगार के सम्बन्ध में 'स्त्री-पुरुषहेतुकः,उत्तम प्रकृतिः' का जो आदर्श प्रस्तुत किया था; उसी का पालन समस्त उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रीय परम्परा में होता रहा। इसके अतिरिक्त श्रृंगार वर्णन के सभी रूपों को हेय मानकर रसाभास के अन्तर्गत रखा जाता रहा। इसका कारण यह भी रहा कि रसास्वाद के लिए सहृदय (दर्शक या पाठक) का वर्ण्य विषय के साथ मानसिक तादात्म्य का होना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना साधारणीकरण की स्थिति नहीं बन सकती तथा उसके बिना रस प्रतीति नहीं हो सकती। हमारा मानसिक तादात्म्य उन्हीं स्थितियों के साथ हो सकता है, जो कि हमारे संस्कारों के अनुरूप होने से, हमारे मानस में स्थिर रूप से स्थित, स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध करने में समर्थ हों। दूसरे श्रृंगार के भाव का निरूपण मात्र नहीं। उसमें वैदग्ध्य होता है और वह दृश्य या वाच्य न होकर व्यंग्य मात्र होता है। पशु पक्षियों में रस के अभिव्यंजक विभावादि की सत्ता नहीं पायी जती है इसके अतिरिक्त उनसे सम्बद्ध रति भाव के वर्णन में न तो वैदग्ध्य की व्यंजना पायी जाती है और न संस्कृत मानव उसके साथ तादात्म्य ही स्थापित कर पाता है। अतः आचार्यों ने इस प्रकार के श्रृंगारिक वर्णनों को रसाभास के अन्तर्गत ही परिगणित किया है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि यद्यपि अन्य आचार्यों ने तिर्यग्गत रति को रसाभास का विषय माना है, यथा–

हीनपात्रेषु तिर्यक्षुनायक प्रतियोगिषु।

गौणेषु च पदार्थेषु तदाभासं विजानते। (भोज, सरस्वती कंठाभरण, ५. ३०)।

तथा आचार्य हेमचन्द्र भी मानते हैं कि जड़ पदार्थों एवं पशुपक्षियों में मानवीय भावों का आरोपण रसाभास है। (निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपात् रस भावाभासौं) का ०२. ५४) किन्तु एका वलीकार विद्याधर ने इसे रस कोटिक मानने का आग्रह किया है। उनका कथन है– अपरेतु रसाभासं तिर्यक्षु प्रचक्षते तन्न परीक्षाक्षमम्। तेष्वपि विभावादि सम्भवात्। विभावादि ज्ञानशून्यातिर्यञ्चो न भाजनं भवितुमर्हन्ति रसस्येति चेन्न। मनुष्येष्वपि के चित्तया भूतेषु रसविषयभावाभावप्रसंगात्। विभावादि संभवो हि रसं प्रति प्रयोजको न विभावादि ज्ञानम्। ततश्च तिर्यञ्चामप्यस्त्येव रसः (एकावली, रसाभास प्रकरण)। अपने कथन की पुष्टि के लिए उन्होंने तिर्यग्गत रति का जो

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

रसात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है–

ददौ सरः पंकजरेणुगन्धि गजाय गंडूषजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां सम्भावयाभास रथांगनामा।

उपर्युक्त पद्य में रस परिपाक की औचित्यपूर्ण स्थिति का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं–

अत्र गजेनालंबनविभावेन जनिता, वसन्नादिभि-रुद्दीपनविभावैरुद्दीपिता, सुरभिगंडूषजलदानानुभाव प्रकाशिता, हर्षादिभिः व्यभिचारिभिरूपचिता, करेणो– सम्भागश्रृगारितां प्रतिपन्नेवरतिः। (एकवली पृ. १०६.७)।

इसी प्रकार भोज के उपर्युक्त विधान पर टिप्पणी करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट वामनाचार्य लिखते हैं– "इदं चं परिगणनं सम्प्रदायानुसरणमात्रम्।.. .. वस्तुतस्त्वनौचित्यमात्रमेवाभीषां मनसाभासता प्रयोजकम्। तिर्यगादौ तुअनौचित्याभावाद्रस एवं। न तदाभास। अत एवंवृत्तिकारे 'ग्रीवा भंगाभिराम्' इत्यादौ तिर्यग्विषयतया भयानकं 'मित्रे क्वापिगते' इत्यादौ तिर्यग् विषयतया विप्रलम्भंचोदाजहार "(४ उल्लास, प्र० १२)।

उपर्युक्त मतों का अपना विशेष महत्व होते हुए भी संस्कृत काव्यशास्त्र के अधिकतर आचार्य– भोजराज, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, शिंग भूपाल, काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठाकुर, वामनाचार्य झलकीकर तथा प्रतापरुद्र आदि तिर्यग्गत रति को रसाभास मानने के ही पक्ष में हैं।

अधमपात्रगत रति

अधमपात्रगत रति को रसाभास की कोटि में रखने का प्रमुख कारण यही है कि वह श्रृंगार के लिए निर्धारित आदर्श– उत्तम प्रकृतिप्रायो रस श्रृंगार इष्यते– की कसौटी पर खरी नहीं उतरती है। इसीलिए भोजराज से लेकर काव्यप्रकाश के टीकाकारों तक सभी ने इसे रसाभास ही माना है। इन सभी आचार्यों ने अधमपात्रनिष्ठ, रति को रसाभास के अन्तर्गत रखने के जो मुख्य कारण बतलाये हैं, वे अयोग्यता (अयोग्यकृत प्रोक्तं नीचतियङ्नराश्रयम्,रसार्णव ०२.६६), अविवेक (वही), चतुरता, उज्ज्वलता आदि का अभाव (वैदग्ध्यौज्ज्वल्यविरहो विभावस्य विरूपता। लतापशुपुलिन्दीषु वृद्धास्वर्पि स वर्तते। रूप गोस्वामी, भक्तिरसामृतसिन्धु, ६. १२)।

आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त म्लेच्छ एवं नीच जाति के लोगों के रति वर्णन को रस न मानकर रसाभास मानने का कारण यह भी हो सकता है कि काव्य या नाटक में उत्तम प्रकृति के पात्रों का ही नायकत्व के लिए विधान होने के कारण, सामाजिक प्रतिष्ठा एवं कुलीनता को ही उत्तमत्व का पर्याय मान लिया गया, जो कि सर्वथा संगत नहीं लगता। क्योंकि पारस्परिक अनुराग की स्थिति तो किसी भी युवा दम्पत्ति में पायी जा सकती है। अतः इसका मुख्य कारण यह हो सकता है कि सुरुचिपूर्ण सहृदयों की दृष्टि में रति मात्र, वासनात्मक भाव प्रदर्शन नहीं। वरन् यह एक विशिष्ट व्यापार है, जिसकी अभिव्यक्ति एक शिष्ट एवं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

शालीनता के आवरण में होती है और यही वह चीज है, जो कि परिष्कृत रुचि के सहृदय को मुग्ध करती है। असंस्कृत रुचि के नीचे पात्रों में इसका अभाव होने के कारण यह उन्हें आनन्दित नहीं करती है। काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसके जो उदाहरण दिये गये हैं, वे सभी ऐसे हैं, जिनमें रति की अभिव्यक्ति पर्याप्त अभद्र एवं अकुशल रूप में की गयी है। इसीलिए लगता है कि इन परिष्कृत रुचि के आचार्यों ने उसे रसकोटिक नहीं माना।

संस्कृत के आचार्यों के उपर्युक्त विवेचनों का निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह दृष्टिकोण आदर्शवादिता से प्रेरित था, किन्तु साथ ही यही वह अंकुश था, जो कि यथार्थ चित्रण के नाम पर कामुकता एवं विलासिता को प्रोत्साहित करने एवं अनैतिकता का प्रसार करने वाले साहित्य का नियन्त्रण करता रहा। यही कारण था कि संस्कृत साहित्य में स्त्री-पुरुष के अवैध सम्बन्धों के अभिव्यंजक लचर किस्म के साहित्य की सृष्टि कम-से-कम हुई है। किसी भी आचार्य ने श्रृंगार के नाम पर लोक एवं शास्त्र के विरुद्ध चित्रण की स्वीकृति कभी भी नहीं दी। रसाभासादि के सम्बन्ध में प्रस्तुत उनके उदाहरणों को देखने से यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है कि अन्यथा सुन्दरम काव्यात्मक अभिव्यक्तियों के होने पर भी, इन आचार्यों ने कभी भी उन्हें रस के अन्तर्गत सम्मिलित नहीं किया। दूसरी ओर यह भी दर्शनीय है कि संस्कृत के इतने विपुल साहित्य भाण्डार में एक भी कृति ऐसी नहीं, जिसमें कि अवैध श्रृंगार को उसका केन्द्रीय विषय बनाया गया हो। रति के आलम्बनों के अनौचित्य के निरूपण के सम्बन्ध में जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें से बहुत ही कम ऐसे हैं, जो कि किन्हीं काव्यकृतियों से लिये गये हैं। इनमें से अधिकतर तो ऐसी मुक्तक रचनाएँ हैं, जो कि लगता है कि आलम्बन विशेष से सम्बद्ध अनौचित्य का उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही इन आचार्यों के द्वारा रंची गयी हैं।

श्रृंगार सम्बन्धी औचित्यानौचित्य के उपर्युक्त सर्वेक्षण से इसके सम्बन्ध में काव्यशास्त्रीय परम्परा का जो रूप हमारे सामने उभरता है, वह यह है कि इस परम्परा के प्रवर्तक भरतमुनि ने श्रृंगार के आलम्बनों के औचित्य का दिशा निर्देश मात्र किया था। उनके समक्ष या तो अनौचित्य की समस्या थी ही नहीं या उन्होंने इसकी सम्भावनाओं की कल्पना करके उनका विवेचन करना उपर्युक्त नहीं समझा क्योंकि रसाभाव अथवा आलम्बन के अनौचित्य के सम्बन्ध मुख्य रूप से रस के साथ सम्बद्ध होता है, अतः अलंकारवादी आचार्यों— भामह, दण्डी आदि ने इसे स्पर्श नहीं किया। इसका प्रसंग सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने 'ऊर्जस्वि अलंकार' के प्रसंग में किया है। (का० सा० ४.५) रस के प्रसंग में अनौचित्य का उल्लेख एवं निरूपण करने वाले सर्वप्रथम आचार्य हैं रुद्रट (१४-३, १५-२)। इसके उपरान्त इस विषय का विवेचन उत्तरवर्ती सभी आचार्यों की कृतियों में किसी न किसी रूप में चलता रहा। ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन करने पर इसमें विशेष रूप से उल्लेखनीय जो बात सामने आती है, वह यह है कि समय के आगे बढ़ने के साथ-साथ इसके रूपों एवं

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भेदों में भी वृद्धि होती गयी, जो कि स्पष्टतः मध्यकालीन सामन्ती संस्कृति का प्रभाव प्रतीत होता है। क्योंकि प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में नायिका की दृष्टि से केवल अनूढ़ा (कन्यका) तथा ऊढा (स्वकीया) के भेद को तथा नायक की दृष्टि से धीरललित्, धीर-प्रशान्त, धीरोदात्त तथ धीरोदत्त भेदों को मान्यता दी गयी थी। (भेदैश्चतुर्धा-ललित शान्तोदात्तोद्धतैरयम्। दशरूपक, २३, का० प्र० ७ म उ०, पृ० ४४२)। भारतीय नारी की आदर्श मूर्ति होने के कारण प्रारम्भ में स्वकीया ही श्रृंगार का आलम्बन बनाने की अधिकारिणी रही, किन्तु आचार्य विश्वनाथ तक पहुँचते-पहुँचते इसके भी मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा जैसे प्रमुख भेद तथा मुग्धा के अज्ञात यौवना तथा ज्ञातयौवना जैसे उपभेद एवं प्रगल्भा के स्मरान्धा, गाढ़तारुण्या, समस्तरतिकोविदा जैसे भेदापभेद किये जाने लगे, जो कि समाज की विकृत होती हुई अभिरुचि के परिचायक हैं। भानुदत्त (रसमंजरी) तक आते-आते तो समाज की अभिरुचि का इतना पतन हो चुका था कि एक ओर तो नायिकाओं के स्वकीया, परकीया तथा सामान्य जैसे भेद किये जाने लगे और दूसरे और नायकों के पति, उपपति तथा वैशिक भेद एवं पति के भी अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट, शठ जैसे भेद किये जाने लगे, जो कि स्पष्टतः तत्कालीन समाज की नैतिकता के ह्रास के द्योतक हैं।

साथ ही श्रृंगारगत अनौचित्य के सम्बन्ध में प्रस्तुत इन आचार्यों के दृष्टिकोणों का काल क्रमिक अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि समय के साथ-साथ इसके क्षेत्र का विस्तार होता गया है। भारतीय काव्यशास्त्रीय परम्परा में रुद्रट तथा अभिनवगुप्त ही वे प्रथम आचार्य थे, जिन्होंने कि श्रृंगार में अनौचित्य के रूप पर विचार किया था। उनकी दृष्टि में मुख्यतः एकपक्षीय अनुराग का अथवा अनुभवनिष्ठ रति का चित्रण करना रस परिपाक की दृष्टि से अनुचित था। इसके उपरान्त भोजराज ने इसमें प्रतिनायकगत, हीन पात्रगत, तिर्यग्गत तथा गौण पदार्थगत रति चित्रण का समावेश कंर, इसकी परिधि का विस्तार किया तथा आचार्य मम्मट ने इसके ('बहुनायक निष्ठ') विषय को जोड़कर इसे थोड़ा और विस्तृत किया। इसके बाद आने वाले आचार्य विद्याधर ने इसके क्षेत्र में तो कोई विस्तार नहीं किया, किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों—भोजराज, हेमचन्द्र आदि के द्वारा पशु-पक्षियों से सम्बद्ध रति चित्रण को अनौचित्य की परिधि में रखे जाने के प्रश्न पर अपने नवीन दृष्टि का परिचय दिया। इस विषय पर विचार प्रस्तुत करने वाले अगले आचार्य थे महापण्डित विश्वनाथ, जिन्होंने अनौचित्य की उपर्युक्त सूची में उपनायक विषयक, देवविषयक तथा गुरु-मुनि-पत्नी विषयक रति वर्णन का समावेश किया। वैसे देवता विषयक रति वर्णन के अनौचित्य की ओर तो आचार्य मम्मट भी संकेत कर चुके थे। इसके उपरान्त शिंग भूपाल तथा भानुदत्त ने इसमें बहुनायकनिष्ठ रति के प्रसंग जोड़ कर, इसके क्षेत्र का और भी विस्तार किया। इस विषय पर विचार करने वाले अन्तिम आचार्य थे पण्डितराज जगन्नाथ, जिन्होंने श्रृंगारगत अनौचित्य के उपर्युक्त क्षेत्रों के अतिरिक्त बालवृद्धगत रति वर्णन जैसे कतिपय अन्य क्षेत्रों का भी इसमें समावेश कर, इससे सम्बद्ध नैतिक एवं सामाजिक परिवेश का विस्तार किया। इसके उपरान्त

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

हमें कोई ऐसा आचार्य दृष्टिगत नहीं होता, जिसने कि इस विषय पर किसी नवीन दृष्टिकोण का परिचय दिया हो। वे प्रायः अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रस्तुत विचारों का ही पिष्टपेषण करते रहे। वैसे देखा जाय, तो संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास को प्रकारान्तर से भारतीय समाज के बदलते हुए परिवेश की कहानी भी कहा जा सकता है।

सन्दर्भ

१. अभिनव भारती (अभिनव गुप्त), हिन्दी विभाग, दिल्ली, वि. वि., १६६०
२. अलंकार सर्वस्व (रुय्यक), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १६७१
३. एकावली (विद्याधर), तत्त्वविवेचन प्रेस, बम्बई, १६०३
४. औचित्यविचार चर्चा (क्षेमेन्द्र), भारती भण्डार, इलाहाबाद, २०२१ वि०
५. काव्यदर्पण (राजचूड़ामणि), वा० विलास प्रेस, राजस्थान
६. काव्यादर्श संकेत (सोमेश्वर), राज० प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, १६५६
७. काव्य प्रकाश (मम्मटाचार्य), भण्डारकर ओ. इ. पूना.१६५०
८. काव्यप्रदीप (गोविन्द ठाकुर), निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १६३३
६. काव्यादर्श (दण्डी), चौखम्बा विद्याभवन, १६५८
१०. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), काव्यमाला सीरीज, १६३४
११. काव्यालंकार (रुद्रट), चौखम्बा विद्याभवन, १६६६
१२. काव्यालंकार सारसंग्रह, (उद्भट), भण्डारकर इंस्टिच्यूट, पूना १६२५
१३. चन्द्रलोक (जयदेव), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १६५५
१४. दशरूपक (धनंजय), निर्णयसागर प्रेस, १६४१
१५. ध्वन्यालोक (आनन्दवर्धन), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १६४०
१६. नाट्यशास्त्र (भरत), चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १६२६
१७. भक्तिरसामृतः सिन्धु (रूप गोस्वामी), हिन्दी विभागदि. वि. वि. १६६३
१८. भावप्रकाशन (शारदातनय), ओरियण्टल इंस्टिच्यूट बड़ौदा १६३०
१६. रसगंगाधर(जगन्नाथ), बनारस हिन्दू यूनि० २०२० वि.
२०. रस तरंगिणी (भानुदत्त) मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, १६७४
२१. रसार्णव सुधाकर (शिंगभूपाल), अनन्तशयनग्रन्थावली, १६१६
२२. वग्भटालंकार (वाग्भट), चौखम्बा विद्याभवन, १६५७
२३. श्रृंगारप्रकाश (भोजराज), मध्यप्रदेश हिन्दी अकादमी
२४. सरस्वती कंठाभरण (भोजराज), चौखम्बा ओरिएण्टेलिया, १६७६
२५. साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर
२६. अपि च-चण्डीदास अनौचित्यं च लोकशास्त्रातिक्रमः। (का० प्र० दीपिका), अनौचित्य च सहृदयव्यवहारतोज्ञेयम्, यत्रतेषामनुचितं धीः। (का० प्र० उद्योत टीका)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२७

शैलीविज्ञान और भारतीय काव्यशास्त्र

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

शैलीविज्ञान, आलोचना की वह दृष्टि है जो भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र की समन्वित पीठिका पर आधारित है; वह आलोचना की वह प्रणाली है जो 'काव्यात्मकता' का निरूपण भाषातत्त्वों के साक्ष्य पर करती है। स्टैंकविक्ज (१९६०) के अनुसार आज भाषाविज्ञान ने जिस वस्तुवादी दृष्टि और वैज्ञानिक प्रणाली का विकास कर लिया है वह काव्यशास्त्र की दृष्टि को और गहरी और उसकी विवेचनात्मक प्रणाली को और वैज्ञानिक बना सकती है। पर इसके लिए यह आवश्यक है कि भाषाविज्ञान के इस देय के साथ हम यह न भूलें कि हमारी परीक्षण सामग्री, (सामान्य) भाषा नहीं अपितु काव्यभाषा है और हमारा कार्यक्षेत्र केवल जीवन का बाह्य अथवा आन्तरिक सामान्य व्यवहार नहीं वरन् काव्य जीवन का विशिष्ट सर्जनात्मक व्यापार है।

शैलीविज्ञान यह मानकर चलता है कि "सभी काव्य भाषा के ही एक रूप हैं" पर उसके साथ यह भी वह स्वीकार करता है कि "भाषा का हर रूप काव्य नहीं होता।" अतः लीच (१९७०) के अनुसार यह शंका निर्मूल है कि भाषाविज्ञान अपने क्षेत्र का विस्तार कर काव्यशास्त्र का समूल उच्छेदन करने के लिए प्रयत्नशील है। ज्ञान के क्षेत्र में यह संभव है कि एक शास्त्र (डिसीप्लिन) की विषयवस्तु अपने भीतर किसी दूसरे शास्त्र की विषयवस्तु को अन्तर्भुक्त कर ले। पर इससे यह निष्कर्ष निकालना कि अन्तर्भुक्त विषयवस्तु से सम्बद्ध शास्त्र समाहित करने वाले व्यापक शास्त्र के संदर्भ में सारहीन या उद्रिक्त है, नितान्त भ्रामक होगा। अगर भाषाविज्ञान के व्यापक शास्त्र का एक उपांग बनाकर साहित्यशास्त्र को निरूपित करने की माँग को इस रूप में लिया जाय कि भाषाविज्ञान, साहित्यशास्त्र के 'गौरव' और 'प्रतिष्ठा' को खंडित या अपदस्थ करना चाहता है तब यह भी तो कहा जा सकता है कि आज का भाषाविज्ञान भी एक तरह से मनोविज्ञान के व्यापक शास्त्र का उपांग है। पर क्या इस संदर्भ में भाषाविज्ञान शास्त्र के रूप में उद्रिक्त है? अथवा संघटनात्मक भाषाविज्ञान सौ वर्ष पहले नृतत्वशास्त्र का एक अंग बनकर आया तो क्या भाषाविज्ञान, सिद्धान्त के रूप में अपनी महत्ता खो बैठा? यहाँ यह तथ्य भी तो विचारणीय है कि अगर सभी काव्य, भाषा के ही विशिष्ट रूप हैं तो इसके साथ शैलीविज्ञान यह भी स्वीकार करता है कि भाषा का हर (विशिष्ट) रूप काव्य नहीं होता। क्वर्क (१९५९) के अनुसार "शैली के उपादान अनिवार्यतः भाषिक तत्त्व होते हैं पर भाषिक उपादान अनिवार्यतः शैली के तत्त्व नहीं होते।"

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

शैलीविज्ञान के अपने विशिष्ट क्षेत्र के भीतर भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी शास्त्र के रूप में सिद्ध नहीं रहते। "वस्तुतः ये दोनों शास्त्र भिन्न धरातल एवं भिन्न आयाम पर कार्य करने के कारण एक ही विषयवस्तु को दो भिन्न दृष्टियों के आधार पर विश्लेषित करते हैं।" शैलीविज्ञान वस्तुतः इन दो भिन्न दृष्टियों के बीच न केवल हेतु का कार्य करता है वरन् एक ऐसे क्षेत्र का निर्धारण भी करता है जो अपने समन्वित दृष्टि के आधार पर दो भिन्न धरातलों एवं आयाम पर स्थित विषयवस्तु में तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ है। हिल (१६५६) के अनुसार शैलीविज्ञान, काव्यसिद्धांत का वह स्तर है जो सूक्ष्म अर्थ के संसार (स्तर) और स्थूल ध्वनियों के संसार (स्तर) को अनुबंधित करता है और प्रकार्य के रूप में वह भाषा की संरचना, व्यवस्था और प्रतीक योजना के आधार पर भाषेतर संसार को उद्भासित करता है।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री और रूसी रूपवादी आलोचना पद्धति के प्रतिष्ठित विद्वान रोमन याकोब्सन "शैलीविज्ञान को भाषाविज्ञान का ही एक उपांग मानते हैं। पर यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि उनके भाषाविज्ञान का क्षेत्र सामान्य रूप में मान्य भाषाविज्ञान के क्षेत्र अधिक व्यापक है। उनकी दृष्टि में भाषाविज्ञान का क्षेत्र भाषा के उन सभी आयामों को अपने भीतर समेटता है जो संचार (कम्युनिकेशन) के साधन हैं। इस दृष्टि से अगर भाषाविज्ञान अपने क्षेत्र का प्रसार कर काव्यशास्त्र को अपने भीतर समेटता है तब उसके साथ ही वह भाषावैज्ञानिक को उसके गुरुतर दायित्व के प्रति सचेत भी करता है।" उनके अनुसार (१६६०) "अगर कवि रैंसम का यह कथन सही है (और वह सही है) कि 'कविता, भाषा का ही एक रूप है' तब भाषा को अपनी अध्ययन सामग्री बनाने वाले भाषावैज्ञानिक को अपने कार्यक्षेत्र के भीतर कविता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। अब वह समय हमसे काफी पीछे छूट गया है जब भाषावैज्ञानिक और साहित्य के इतिहासकार काव्य संघटना सम्बन्धी प्रश्नों को टाल जाया करते थे। अगर अभी भी कुछ आलोचक ऐसे हैं जो काव्यशास्त्र की चर्चा को भाषाविज्ञान की सामर्थ्यशक्ति के बाहर समझते हैं तब मैं व्यक्तिगत रूप से इसमें विश्वास रखता हूँ कि उनकी काव्यात्मक अक्षमता को भूल से स्वयं भाषाविज्ञान की ही सीमा समझा जाने लगा है। यहाँ पर उपस्थित प्रायः सभी व्यक्ति यह अनुभव कर रहे हैं कि भाषा के प्रकार्य के प्रति बधिर भाषावैज्ञानिक समस्याओं से उदासीन एवं भाषावैज्ञानिक प्रणाली से अपरिचित साहित्यशास्त्री, दोनों ही समान रूप से अपने समय से बहुत पीछे हैं।" याकोब्सन की यह मान्यता है कि जिस प्रकार चित्रकला की विवेचना, चित्रों की संघटना की प्रकृति का विश्लेषण है उसी प्रकार काव्यशास्त्र भाषिक संघटना की प्रकृति को अपनी अध्ययन सामग्री बनाता है। और भाषिक संघटना के अध्ययन का मूल शास्त्र भाषाविज्ञान है। अतः काव्यशास्त्र आपाततः भाषाविज्ञान का ही एक अंग ठहरता है।

साहित्य के संदर्भ में 'शैली' वस्तुतः शब्द (भाषा) और कला (साहित्य) के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनुबंधन की संकल्पना है। यही कारण है कि साहित्य को 'शाब्दिक (भाषिक) कला' (वर्बल आर्ट) कहकर परिभाषित किया जाता है। शैलीविज्ञान, भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र के अनुबन्धन का क्षेत्र है। इस दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि भाषाविज्ञान की अन्तर्दृष्टि से सन्दर्भित और उसकी विश्लेषणात्मक प्रणाली से संयुक्त काव्यशास्त्र ही शैलीविज्ञान है।

शैलीविज्ञान की प्रकृति एवं उसके व्यवहार क्षेत्र को लेकर उसके पक्ष और विपक्ष में इधर काफी लिखा गया है (और आज भी लिखा जा रहा है।) एक ओर "ह्लाइटहाल (१९५७) जैसे विद्वान हैं जो यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आज काव्यशास्त्र की प्रकृति का निरूपण न तो परम्पराबद्ध साहित्यशास्त्री कर सकते हैं और न नव्य समीक्षक (न्यू क्रिटिक); उसके निर्देशन की बागडोर अब केवल भाषावैज्ञानिक ही कर सकता है।" दूसरी ओर बैटसन (१९६८) प्रभृत आलोचक हैं जो यह मानते हैं कि साहित्य के सन्दर्भ में भाषा, शैली के एक सामान्य एवं सतही स्तर को ही स्पर्श करती है। और साहित्यिक संवेदनशीलता के प्रति भाषाविज्ञान का न तो कोई अनुराग है और न उससे कोई उसका संबंध। अतः साहित्य के आलोचक को भाषाविज्ञान से कोई गहरी प्रेरणा या अन्तर्दृष्टि मिलने का प्रश्न ही नहीं है। इन दो अतिवादी दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में एक ओर रेब्जिन (१९६५), तोपोरोव (१९६२), सोल सपोर्टा (१९६२) आदि जैसे विद्वानों की मान्यताओं को रखा जा सकता है जो काव्यशास्त्र को भाषाविज्ञान के उपांग के रूप में मानते हैं और दूसरी ओर विनोकुर (१९५६), रेनेवैलेक(१९६०), झिरमुन्स्की (१९६१), विनोग्रादोव (१९६३), कोझिनावे (१९६५) आदि विद्वान हैं जो यह मानकर चलते हैं कि भाषाविज्ञान, भाषाशैली का अध्ययन तो कर सकता है पर 'कलाशैली' को भाषा के आधार पर नहीं समझा जा सकता। उनके अनुसार काव्यवस्तु का संबंध जीवन दृष्टि और भावजगत के साथ रहता है जो मूल्यों का निर्माण करने में सक्षम है और 'मूल्यों' की चर्चा भाषाविज्ञान के बाहर का क्षेत्र है।

इन दोनों दृष्टियों की समीक्षा अन्यत्र विस्तारपूर्वक की जा चुकी है (श्रीवास्तव, १९६८)। यहाँ शैलीविज्ञान संबंधी आधारभूत तथ्यों का संकेत पर्याप्त होगा–

(१) (अ) अगर भाषाविज्ञान अपने व्यापक अर्थ में भाषा के प्रत्येक प्रकार्य (फंक्शन) और व्यवहार (यूसेज) के अध्ययन का शास्त्र है तब शैलीविज्ञान, भाषाविज्ञान का ही एक उपांग है, क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र साहित्य में प्रयुक्त भाषासंरचना और उसका साहित्यिक कार्यफलन है।

(आ) अगर भाषाविज्ञान को उसके सीमित अर्थ में लिया जाए तो शैलीविज्ञान, उसी प्रकार का व्यावहारिक (एप्लाइड) भाषाविज्ञान का क्षेत्र है जिस प्रकार का मनोभाषाविज्ञान (साइकोलिंग्विस्टिक्स), समाज-भाषा विज्ञान (सोशियोलिंग्विस्टिक्स) आदि। इस दृष्टि से शैलीविज्ञान भाषाविज्ञान और काव्यशास्त्र के अनुबंधन का क्षेत्र है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

(२) शैलीविज्ञान का चिंतन वस्तुवादी है और दृष्टि भाषावादी।

(३) शैलीविज्ञान, साहित्यिक आलोचना का सिद्धांत भी है और प्रणाली भी।

(४) (अ) शैलीविज्ञान के अनुसार काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) स्वयं काव्यकृति है।

(आ) भाषावादी सिद्धान्त के रूप में शैलीविज्ञान की यह मान्यता है कि साहित्य, 'शाब्दिक कला' है और कृति के रूप में साहित्यिक रचना, भाषा की अपनी सीमा में बँधी एक स्वनिष्ठ (आटोनॉमस) इकाई है। कृति स्वायत्त है अतः उसका विश्लेषण न तो कवि के उस अभिप्राय के आधार पर करना समीचीन है जिसे लेकर वह अपनी कृति की रचना करता है और न पाठकों पर पड़े प्रभाव के रूप में उसकी व्याख्या उचित है।

(५) (अ) साहित्य अगर 'शाब्दिककला' है तो काव्यकृति शाब्दिक प्रतीक (लिंग्विस्टिक साइन)।

(आ) प्रतीकवत होने के परिणामस्वरूप काव्यकृति में कथ्य (वाच्य) और अभिव्यक्ति (वाचक) पक्ष की अन्तरंग अन्विति– आभ्यंतर अभिन्नता स्वयं सिद्ध रहती है। शैलीविज्ञान के अनुसार कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों की प्रकृति के आधार पर ही काव्यात्मकता का उद्‌घाटन संभव और अभीष्ट है।

(६) (अ) भाषा की व्यापक संभावना के संदर्भ में भाषिक प्रतीक एवं प्रतीक पद्धति के अनेक विकल्पों में किसी एक के चयन का परिणाम ही शैली है।

(आ) यह चयन भाषा के विभिन्न स्तरों पर संभव है।

(इ) विकल्प के सन्दर्भ में चयन की प्रकृति को नियंत्रित करने वाले विभिन्न उपादानों के सन्दर्भ में शैली का वर्गीकरण और उसकी अभिव्यंजक परिभाषा संभव है। यथा, चयन के नियामक के रूप में अगर साहित्यकार का व्यक्तित्व है तो साहित्यकार विशेष की शैली (निराला, पंत, अज्ञेय, प्रेमचन्द की शैली), अगर नियामक युग विशेष की प्रवृत्ति है तो युग विशेष की शैली (रीतिकालीन, छायावादी,नयी कविता की शैली); और अगर चयन का नियामक विधा है तो विधा विशेष की शैली (नाट्य, काव्य, उपन्यास की शैली) आदि।

(ई) अगर चयन की प्रकृति को नियंत्रित करने वाला उपादान स्वयं काव्य वस्तु हो तब यह कृति की शैली है। जिस प्रकार व्यक्ति, युग अथवा विधा विशेष की शैलीगत विशिष्टताओं को कृति की काव्यवस्तु से अलग किया जा सकता है उसी प्रकार काव्यकृति की शैली को उससे अलग नहीं किया जा सकता क्योंकि यह शैली ही काव्यवस्तु की आत्मा है।

(उ) शैलीविज्ञान अपने व्यापक अर्थ में साहित्य में प्रतिफलित सभी प्रकार की शैलियों के अध्ययन को अपनी विषयवस्तु बनाता है पर उसका आधारभूत लक्ष्य काव्यवस्तु की आत्मा को पकड़ना है अतः वह मूलतः काव्यकृति की शैली को ही अपना साध्य मानता है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस लेख के सीमित दायरे में न तो शैलीविज्ञान की इन आधारभूत मान्यताओं का विस्तारपूर्वक विवेचन संभव है और न उसके संदर्भ में भारतीय काव्यशास्त्र का सही मूल्यांकन ही। अतः हम ऊपर संकेत दिए गए पहली चार मान्यताओं के सन्दर्भ में यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तन सरणि और विश्लेषणात्मक पद्धति शैलीवैज्ञानिक मान्यताओं से कितनी निकट और कितनी दूर है।

पहले यह संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान की दृष्टि भाषावादी है। वह यह मानकर चलता है कि काव्य, भाषा संरचना का ही एक सर्जनात्मक रूपान्तरण है। भाषा की प्रकृति और उसकी संरचना को समझने का अपना विज्ञान है जिसे हम 'भाषाविज्ञान' अथवा 'भाषाशास्त्र' के रूप में जानते हैं। काव्य, भाषा का ही अगर एक उपांग है (भले ही वह कितना ही विशिष्ट क्यों न हो) तो उसके अध्ययन का शास्त्र (काव्यशास्त्र) भी भाषा के अध्ययन के शास्त्र (भाषाशास्त्र) का ही एक अंग ठहरता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि प्रश्न भाषाशास्त्र के विभिन्न सिद्धांत, सम्प्रदाय अथवा प्रारूपों (मॉडल) का नहीं है। साहित्य सिद्धान्त की जो दृष्टि काव्यशास्त्र और भाषाशास्त्र के इस अंग-अंगी संबंध को स्वीकार कर चलेगी वह आपाततः भाषाशास्त्र के अपने सिद्धान्तों एवं प्रारूपों से प्रभावित होगी ही। यही नहीं अगर चिंतन-प्रक्रिया जीवन्त है और सिद्धान्त विकासात्मक तो न केवल भाषाशास्त्र के विकास के चरण काव्यशास्त्र से संबंधित चिन्तन में गुणात्मक विकास लाने में समर्थ होंगे अपितु काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के विकासमान चरण स्वयं भाषाशास्त्रीय चिन्तन को भी आगे बढ़ाने और नयी दिशा देने में सक्षम होंगे। खेद है कि क्रिया-प्रतिक्रिया को इस उभयगामी प्रकृति के संदर्भ में भाषाशास्त्र और काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा का अभी विश्लेषण प्रस्तुत ही नहीं किया गया है और न चिन्तन के इतिहास को इस द्वंद्वात्मक प्रकृति की प्रक्रिया के सन्दर्भ में ही लिखा गया है।

मूल प्रश्न यह नहीं कि आज शैलीविज्ञान, साहित्य विश्लेषण के लिए जिस भाषावैज्ञानिक सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपना रही है वह भारतीय काव्यशास्त्र के अध्ययन विश्लेषण के सिद्धान्त अथवा प्रारूप थे या नहीं। इसमें तो सन्देह ही नहीं कि काल और स्थानभेद के कारण भाषावैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली में भेद होगा। पर यह भेद जिस प्रकार भाषाविज्ञान के शास्त्र को नहीं बदलता और बदलता है तो केवल उस शास्त्र के 'पैराडाइम' को। उसी प्रकार भाषाविज्ञान के प्रारूप भेद (जब तक वह यह स्वीकार कर चलता है कि काव्यशास्त्र उसका एक अंग है) शैलीविज्ञान के शास्त्र (डिसिप्लिन) को नहीं बदल सकता; बदल सकता है तो केवल उनके 'पैराडाइम' को, अध्ययन के केवल आयाम और स्तर को। आज भाषाविज्ञान के कई सिद्धान्त और प्रारूप प्रचलित हैं– संघटनात्मक, टैग्मेमिकः सिस्टेमिक, रूपान्तरण (ट्रान्सफॉर्मेशनल) आदि। शैलीविज्ञान के सन्दर्भ में यह भी देखा जा सकता है कि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

किसी काव्यकृति के अध्ययन के निमित्त इनमें से किस प्रारूप का प्रयोग किया जा सकता है। (और सम्प्रति किया भी जा रहा है)। पर इसका यह अर्थ नहीं कि भाषाविज्ञान के इन विभिन्न प्रारूपों के प्रयोग से शैलीविज्ञान का अपना शास्त्र ही खण्डित हो गया अथवा वह अपनी समन्वित दृष्टि के आधार पर अपना शास्त्र बनाने में अब सक्षम न रहा।

अतः प्रश्न यह नहीं कि काव्यशास्त्र, भाषाविज्ञान के किस सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपना आधार बनाता है वरन् मूल प्रश्न यह है कि वह भाषाविज्ञान (अथवा भाषाशास्त्र) के किसी भी सिद्धान्त अथवा प्रारूप को अपनी काव्यदृष्टि के लिए अपनाता है या नहीं?

प्राचीन भारतीय चिन्तन और कलाशास्त्र का थोड़ा भी अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न केवल कलाशास्त्र की वरन् सम्पूर्ण चिंतन की पीठिका वाक् है। भारतीय आचार्य यह स्वीकार कर चलते हैं कि वाक् केवल संचार का साधन मात्र ही नहीं, वरन् विश्व में जो कुछ भी सत्य है, सुन्दर है उन सबका वह व्यंजक है। डॉ. मिश्र ने अपने लेख– "पाणिनीय भाषादर्शन और भारतीय चिन्तन" में इस तथ्य की ओर इन शब्दों द्वारा संकेत दिया है– "भारतीय कलाबोध की पीठिका वाक् है (सा सर्वविधशिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी। तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्व वस्तु विभज्यते। वाक्यपदीय १/१२५) क्योंकि वाक् के कारण समस्त वस्तुजगत अनुभाव्य आकार ग्रहण करता है और भारतीय साधना की पीठिका नाम का ध्यान है। भारतीय वैयाकरणों के चिन्तन का इसीलिए भारतीय प्रज्ञा, भारतीय आनन्दबोध और भारतीय धर्मसाधना तीनों के स्तरों को व्याकृत करने में और तीनों को अनुस्यूत करने में बहुत बड़ा योगदान है।"

अगर भारतीय चिन्तन की पीठिका मूलतः वाक् है और उसके आनन्दबोध पर भारतीय वैयाकरणों के चिन्तन की गहरी छाप है तो यह सोचना भी कि काव्यशास्त्रीय विचारसरणि पर भाषावादी चिंतन का व्यापक प्रभाव न होगा, अत्यन्त भ्रामक होगा। अधिक स्वाभाविक तो यह सोचना होगा कि काव्यशास्त्र के मूल में न केवल भाषाचिंतन की अपनी प्रेरक शक्ति और समन्वित दृष्टि कार्य कर रही होगी वरन् भाषाशास्त्र के विभिन्न प्रारूप अथवा सम्प्रदाय, काव्यशास्त्रीय अध्ययन को भिन्न मोड़ देने में भी सक्रिय रहे होंगे। यह तथ्य भी इस संदर्भ में द्रष्टव्य है कि काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों– रस (भरतमुनि), अलंकार (भामह, उद्भट और रुद्रट), गुण (दण्डी तथा वामन), वक्रोक्ति (कुन्तक), ध्वनि (आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त), औचित्य (क्षेमेन्द्र) का आविर्भाव हो चुका था वरन् उसके विभिन्न सम्प्रदाय भी बन चुके थे। यास्क, पाणिनि, व्याडि, कात्यायन आदि व्याकरणाचार्यों के भाषा संबंधी सिद्धान्त चौथी शती ईसापूर्व प्रतिपादित हो चुके थे। अगर भरत मुनि को छोड़ दें तो पतंजलि, वसुरात (यहाँ तक कि भर्तृहरि) आदि के भाषा सिद्धान्त छठीं शती तक न केवल निरूपित हो चुके थे वरन् उन पर टीकाएँ भी लिखी जा चुकी थीं।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

यह तथ्य इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि काव्यशास्त्री का पहला सम्प्रदाय (अलंकार) व्यवस्थित रूप में भामह के काल से माना जा सकता है और विद्वान भामह के जीवनकाल को छठीं शताब्दी मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि काव्यशास्त्र के चिन्तन एवं उसके सम्प्रदायों के आविर्भाव के बहुत पहले व्याकरणशास्त्र निरूपित हो चुका था और दर्शन के रूप में वह एक सशक्त चिन्तनधारा के रूप में, ज्ञान की अन्य चिन्तन सरणियों पर भी प्रभाव डालने लगा था। भारतीय काव्यशास्त्रीय चिन्तन न तो इससे अप्रभावित रह सकता था और न इससे तटस्थ रहकर फल-फूल ही सकता था।

भारतीय काव्यशास्त्र, व्याकरणदर्शन एवं उसकी प्रणाली से प्रभावित होता रहा है, यह इस तथ्य से भी पुष्ट होता है कि साहित्याचार्यों ने न केवल व्याकरणकारों की उक्तियों का समर्थन अथवा उनको स्पष्ट शब्दों में प्रतिध्वनित किया है अपितु व्याकरणकारों को आदर के साथ स्मरण भी किया है। उदाहरण के लिए अगर भर्तृहरि यह व्यक्त करते हैं कि व्याकरण, शब्दसमूह के पुण्यतम ज्योति का ऋजु मार्ग है और शब्द समूह के प्रकाश से ही सम्पूर्ण चर-अचर जगत दीप्यमान है[1] (वाक्यपदीय, हरिवृत्ति टीका १/१२) तो गुण सम्प्रदाय के समर्थक दण्डी (काव्यादर्श १/४ का कथन है–

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह् वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।

यह भी तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि पदार्थ विचार अथवा शब्दों के संकेत ग्रह के संबंध में भारतीय काव्यशास्त्र नैयायिकों अथवा मीमांसकों का नहीं वरन वैयाकरणों का ऋणी है। वैयाकरणों ने शब्द प्रवृत्ति को 'चतुष्टयी' माना है– जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। काव्याचार्यों ने इसी विभाजन को स्वीकार किया। यही नहीं उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलंकारशास्त्र के पारिभाषिक शब्द, पाणिनि के अष्टाध्यायी और पतंजलि के महाभाष्य में भी देखने को मिल जाते हैं। अगर ध्यान से देखें तो उपमा के 'श्रोती' तथा 'आर्थी' विभाजन तथा उसके कुछ प्रमुख उपभेदों का मूलभूत स्रोत पाणिनि के सूत्र कहे जा सकते हैं। ध्वनि-सम्प्रदाय काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट सम्प्रदाय है जिसने परवर्ती काव्य-चिन्तन को सबसे अधिक प्रभावित किया है। डॉ. नगेन्द्र ने 'ध्वनिकाल' को रससिद्धान्त का स्वर्णयुग कहा है। अगर किंचित भी गहराई में जाकर देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन प्रणीत ध्वनि सम्प्रदायवादी काव्यशास्त्र की मूल प्रेरक शक्ति भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित भाषा सिद्धान्त ही रहा है। व्याकरणशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में भर्तृहरि को भी उसी प्रकार युग प्रवर्तक कहा जा सकता है जिस प्रकार काव्यशास्त्र में आनन्दवर्धन को; भर्तृहरि का 'वाक्यपदीय', आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से कम युगान्तरकारी नहीं और न अर्थविचार के संदर्भ में उनकी 'स्फोट' की संकल्पना ही किसी भी प्रकार आनन्दवर्धन की 'व्यंजना' की संकल्पना से कम व्यंजक और सारपूर्ण है। सच तो

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

यह है कि व्याकरणशास्त्र में भर्तृहरि रचित 'वाक्यपदीय' के कारण जो युगान्तरकारी मोड़ आया, वही 'ध्वनिसम्प्रदाय' के रूप में काव्यशास्त्र को भी एक विशिष्ट दिशा देने का कारण बना।

आनन्दवर्धन के दो-तीन शती पूर्व भर्तृहरि ने तत्कालीन भाषाशास्त्र की सीमा की आलोचना करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि मात्र शब्द अथवा शाब्दिक अर्थ के आधार पर भाषासिद्धान्त का निरूपण खण्डित दृष्टि का परिचायक है। उनके अनुसार पदों के पारस्परिक संसर्ग के परिणाम से आविर्भूत जो आधिक्य है वही वाक्यार्थ है अतः वाक्यार्थ अनेक पदों पर आश्रित संसर्ग का परिणाम है–

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेक पद संश्रयम्।।– वाक्यपदीप २/४२

भाषा द्वारा संकेतित जगत (पदार्थ) असत्य है पर वाक्यार्थ सत्य है। पदार्थ पृथक अर्थ रख भी सकते हैं पर वाक्यार्थ में वे अर्थ के प्रत्यायक तभी हो सकते हैं जब वे संसर्ग रूप में सिद्ध हों–

संसर्गरूपं संसृष्टेष्वर्थवस्तुषु गृह्यते।।– वाक्यदीय २/४२८

भर्तृहरि के भाषा सिद्धान्त के अनुसार 'शब्द' की तरह 'वाक्य' भी एक भाषिक प्रतीक है। उसमें भी वाच्य और वाचक का अन्तरंग एवं अविच्छिन्न संबंध रहता है और भाषिक प्रतीक के दोनों पक्ष अमूर्त और सामान्यीकृत (एब्स्ट्रैक्ट) होते हैं। (इसकी तुलना आधुनिक भाषाशास्त्र के जनक सस्यूर के 'भाषिक प्रतीक' (लिग्विस्टिक साइन) की संकल्पना से करें तो एक अद्‌भुत साम्य पाते हैं। सस्यूर की दृष्टि में भी रूपिम, शब्द, वाक्य आदि भी भाषा के भिन्न स्तरों पर स्थित इकाइयां हैं जो अपनी प्रकृति में अमूर्त भाषिक प्रतीक के रूप में सिद्ध रहती हैं।

अर्थाभागैस्तथा तेषामान्तरोर्थ प्रकाशते।।– वाक्यपदीय २/३१ अर्थात् पूरा वाक्य, शब्द (भाषिक प्रतीक के समान) है और उसके भी दो भाग (पक्ष) हैं– अन्तः शब्दतत्त्व (अमूर्त वाचक) और अन्तःअर्थतत्त्व (अमूर्त वाच्य)। अपने 'स्फोट' सिद्धान्त के आधार पर भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया कि सम्पूर्ण वाच्य एक समन्वित भाषिक प्रतीक है; वाक्यार्थ अनेक पदों पर आश्रित संसर्ग का परिणाम होता है; वह सन्दर्भ बाधित होकर ही सिद्ध रहता है क्योंकि वाक्य मूल रूप में अविभक्त है, अखण्ड है, एक समन्वित भाषिक इकाई है तथा ऐसा संभव है कि वाक्य का अर्थ वाक्य में प्रयुक्त सभी पदों के समन्वित अर्थ से भिन्न हो।

भर्तृहरि की भाषा-संबंधी इन धारणाओं का स्पष्ट प्रभाव आनन्दवर्धन के ध्वनि सम्प्रदाय पर परिलक्षित होता है। डॉ. कुन्हनि राजा के शब्दों में तो आनन्दवर्धन ने भर्तृहरि की मान्यताओं के आधार पर ही अपनी भाषा-संबंधी धारणाओं का निर्माण किया। लेकिन उन्होंने अपने विचार को केवल काव्यपरक सौन्दर्य तक ही सीमित रखा, इसलिए भाषा प्रक्रिया की अन्य जटिल समस्याओं पर प्रकाश डालने का उन्होंने प्रयत्न नहीं किया। 'ध्वन्यालोक' में आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से भर्तृहरि के

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

'स्फोट' सिद्धान्त के प्रति अपना आभार व्यक्त किया है।

डॉ. सुशील कुमार डे (१६५६) का भी यह मत है कि ध्वन्यालोककार भर्तृहरि के व्याकरणदर्शन से प्रभावित है और उसके सिद्धान्त का बीज स्फोट सिद्धान्त के रूप में पहले ही पड़ चुका था। रामसुरेश त्रिपाठी (१६७२ :१२१-२) के शब्दों में– "भर्तृहरि ने नानात्ववाद के प्रसंग में प्रतीयमान शब्द और प्रतीयमान अर्थ का संकेत किया है। प्रतीयमान अर्थ ही आनन्दवर्धन का 'ध्वनिसिद्धान्त' है जिसके सहारे व्यंजनावृत्ति पल्लवित हुई है। कुछ आचार्यों का मत था कि श्रूयमाण शब्द की सदा प्रत्यायक नहीं होती, अनुमीयमान शब्द भी प्रत्यायक होता है।" (वाक्यपदीय २/३६२ हरिवृत्ति हस्तलेख)।

अनुमीयमान शब्द का भाई प्रतीयमान शब्द है। किसी ने विप्रतिपत्ति उठाई थी कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता। (वाक्यपदीय २/३६३) इससे स्पष्ट है कि ध्वनि सिद्धान्त का बीज व्याकरण दर्शन में मिल जाता है। केवल प्रतीयमान अर्थ का ही नहीं, आनन्दवर्धन के अविवक्षित वाच्य आदि वादों का भी मूल भर्तृहरि के वचन हैं। भर्तृहरि ने प्रश्न उठाया है कि शब्द के प्रयोग होते हुए भी अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है? स्वयं उसका उत्तर घट प्रदीप न्याय के आधार पर दिया है। (वाक्यपदीय २/३०० हरिवृत्ति, हस्तलेख) यह उल्लेखनीय है कि आनन्दवर्धन ने भी वाच्य और प्रतीयमान के प्रसंग में दीपशिखा का उदाहरण दिया है। "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।" ध्वन्यालोक।[२]

'ध्वन्यालोक' के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने भी भर्तृहरि को जब स्मरण किया तब उनके लिए 'तत्रभवान्' शब्द का प्रयोग किया है। भर्तृहरि का व्याकरण दर्शन अपने समय में लोक प्रसिद्ध हो चुका था। विद्वत्समूह का झुकाव इस मत की ओर था और जनता उसे आदर की दृष्टि से देखने लगी थी– स्वयं अभिनवगुप्त ने स्पष्ट शब्दों में इस तथ्य का संकेत किया है। (ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्भा संस्कृत, पृ. ५५३)।

कहने का तात्पर्य यह कि भारतीय काव्यशास्त्र, व्याकरणदर्शन से प्रभावित होता रहा है और व्याकरण चिन्तन में अगर कोई मोड़ आया है तो उसका प्रत्यक्ष प्रभाव काव्यशास्त्र पर भी देखने को मिलता है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों ने मान्य व्याकरणाचार्यों को न केवल आदर के साथ स्मरण किया और उनके विशिष्ट कथनों को प्रतिध्वनित किया है वरन् उनके सिद्धान्तों के आधार पर अपनी चिन्तन पद्धति और विश्लेषण प्रणाली का विकास भी किया है।

किसी एक शास्त्र का दूसरे शास्त्र से प्रभावित होना एक बात है और उसका किसी अन्य शास्त्र का अंग बनना अथवा किसी दूसरे शास्त्र के व्यापक संदर्भ में परिभाषित होना एकदम दूसरी बात है। जैसा पहले संकेत दिया जा चुका है कि शैलीविज्ञान यह स्वीकार कर चलता है कि साहित्यशास्त्र, वस्तुतः भाषाशास्त्र का एक उपांग है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या भारतीय काव्यशास्त्र

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भाषाचिन्तन एवं उसकी प्रणाली से मात्र प्रभावित ही होता रहा है अथवा वह शैलीविज्ञान की धारणा के अनुसार अपने को भाषाशास्त्र का उपांग भी मानता है?

काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री में भरतमुनि रचित 'नाट्यशास्त्र' प्राचीनतम ग्रंथ है। पर यह ग्रंथ मूलतः ललितकलाओं का शास्त्र है जिसमें प्रमुखता नाट्यकला की है। आनुषंगिक रूप में हम अलंकार (काव्य) शास्त्र, संगीतशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि की भी विवेचना अथवा उनके मूल सिद्धान्तों की चर्चा पाते हैं। जिस 'रस' की संकल्पना को हम बाद में काव्यशास्त्र के संदर्भ में विकसित एवं निरूपित देखते हैं, भरतमुनि की विवेचना के सन्दर्भ में उसे नाट्याश्रित ही पाते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस 'अलंकारशास्त्र' या 'रस' का विवेचन हमें 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है वह न तो काव्यशात्र के रूप में एक स्वतंत्र शास्त्र का विषय है और न उसका चिन्तन ही भाषा के किसी व्यापक संदर्भ में हुआ है।

भामह पहले आचार्य हैं जिन्होंने न केवल काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त किया वरन् उसे भाषा के व्यापक संदर्भ में निरूपित किया। उन्होंने साहित्य (काव्य) की व्यापक परिभाषा के रूप में उसे शब्द और अर्थ के युगल सम्बन्धों के रूप में देखा– 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं'। भामह ने जब काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ' कहा तो इसका यही तात्पर्य निकलता है कि वह काव्य को भाषा की व्यापक पृष्ठभूमि में परिभाषित करना चाहते थे अन्यथा 'भाषा' और 'काव्य' का भेद उन्हें स्पष्ट था। भामह के अनुसार सामान्य 'शब्दार्थ' तो मात्र 'वार्ता' है, वह केवल एक भाषिक (व्याकरणिक) यथार्थ है पर मात्र 'वार्ता' (शब्दार्थ) साहित्य बनने की क्षमता नहीं रखता। वह तो केवल सामान्य कथन है, यथा–

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येत्मेववादि किं काव्यं? वार्तामेनांप्रचक्षते। काव्यालंकार २/८६

अर्थात् सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमकता है, पक्षी अपने बसेरों में लौट जाते हैं– आदि कथन तो सामान्य हैं, वे वार्ता मात्र हैं। उनमें काव्य (का सौन्दर्य) कहाँ? भामह ने काव्य को लक्ष्य रूप में 'अतिशय उक्ति' अथवा शब्दार्थ की 'रमणीयता' के रूप में ग्रहण किया है। काव्य-विश्लेषण की प्रणाली के रूप में उन्होंने काव्य को 'लोकातिक्रान्तगोचरं' वचन के रूप में देखा।

निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरं।
मन्यत्रेऽतिशयोक्ति तामलंकारतया यथा। काव्यालंकार २/८१

भामह के अनुसार 'लोकातिक्रान्तगोचरं' वचन ही 'अतिशय उक्ति' है और यह अतिशय उक्ति ही काव्य की रमणीयता है, उसका अलंकार (अथवा प्राण-शक्ति) है। वही 'वक्रोक्ति' है जो उसे सामान्य कथन अर्थात् 'वार्ता' से अलग कर देती है। इस वक्रोक्ति के अभाव में काव्य सौन्दर्य की प्रतीति कहाँ?

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया बिना।

–काव्यालंकार २/८५

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्पष्ट है भामह का काव्यशात्रीय चिन्तन पहले काव्य को सामान्य भाषा के व्यापक संदर्भ में परिभाषित करता है– 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं', तदुपरान्त उसकी विशिष्टता को भी भाषा के आधार पर ही यह संकेत देकर समझना-समझाना चाहता है कि यद्यपि सभी काव्यात्मक उक्तियाँ भाषिक होती हैं पर सभी भाषिक कथन काव्यात्मक के विश्लेषण के लिए जिस 'अलंकार' की कल्पना को प्राणभूत शक्ति के रूप में उसने मान्यता दी है वह भी भाषा-सन्दर्भित है क्योंकि 'वक्रोक्ति' (अथवा अतिशय उक्ति) के बिना काव्य संभव नहीं। इस दृष्टि के अनुसार वक्रोक्ति और कुछ नहीं अपितु 'लोकातिक्रान्तगोचरं वचन' होने के कारण लोक में व्यवहार्य सामान्य कथन (वार्ता) का ही अतिक्रमण है।

शैलीविज्ञान की आधुनिक दृष्टि के साथ इस काव्यचिन्तन की तुलना करने पर एक अद्‌भुत साम्य देखने को मिलता है। शैलीविज्ञान की मान्यता के अनुसार, "कविता के 'विशिष्ट' एवं 'असामान्य' अर्थ को पकड़ने के लिए काव्यभाषा एक 'विशिष्ट' शैली का प्रयोग करती है। 'विशिष्टता' को सामान्य के अतिक्रम के रूप में ही परखना संभव है क्योंकि 'विशिष्ट' और 'सामान्य' सापेक्षिक प्रत्यय हैं और सामान्य का परिचय सहज साध्य होता है। भाषा का सामान्य रूप बोलचाल की भाषा पर आधारित होता है। अतः कविता की भाषा-शैली को सामान्य बोलचाल की भाषा की संघटना के अतिक्रम के रूप में ही देखना तर्कसम्मत है।"(श्रीवास्तव, १९७२,५३), रेब्जिन (१९६५), तोपोरोव (१९६२), सोल सपोर्टा (१९६०) आदि विद्वान भी काव्य को सामान्य कला के अंग के रूप में देखने की अपेक्षा उसे भाषा के विशिष्ट प्रयोग के रूप में देखने के समर्थक हैं और काव्य के और काव्य के भाषागत वैशिष्ट्‌य को भाषा के सामान्य नियम (नॉर्म) के अतिक्रमण के रूप में परिभाषित करने के पक्ष में हैं। काट्‌स (१९६४) ने इस अतिक्रम के लिए सामान्य भाषा के सामान्य 'व्याकरण' के सन्दर्भ में एक 'काउंटर' व्याकरण की आवश्यकता व्यक्त की है। ओहमान (१९६४) और थार्न (१९६५) इस अतिक्रम के सिद्धान्त को रूपान्तरण व्याकरण के 'सेलेक्शनल रेस्ट्रिक्शन' नियम के सन्दर्भ में प्रतिस्थापित करना चाहते हैं। लेविन (१९५८) के अनुसार इस अतिक्रम को काव्य के बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही स्तरों पर देखना अपेक्षित है।

भामह ने जिस 'अतिशय उक्ति' को 'वक्रोक्ति' एवं 'लोकातिक्रान्तगोचरं वचन' कहकर परिभाषित किया और जिसे काव्य की प्राणभूत शक्ति (अलंकार) के रूप में मान्यता प्रदान की उसका चरम विकास हम कुन्तक के 'वक्रोक्तिजीवितं' में पाते हैं। कुन्तक के अनुसार भी काव्य, शब्द (वाचक) और अर्थ (वाच्य) के मंजुल सम्बन्धों पर आधारित है। पर सामान्य अभिधा के जिस अतिक्रमण के कारण वह विशिष्ट होता है वह 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' होता है। और यह 'वैदग्ध्य' अलंकार्य के दोनों ही स्तर– बाह्य (शब्द) और आन्तरिक (अर्थ) पर देखा जा सकता है–

उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते।।– व० जी०, १/१०

इसमें सन्देह नहीं कि कुन्तक ने काव्य को 'सहृदयों को आह्लाद देने वाला बन्ध' कहा है पर उसके साथ ही उन्होंने उसे शब्द और अर्थ के उस विशिष्ट संबंधों के आधार पर निरूपित किया है जो कवि के वक्रव्यापार से युक्त होता है–

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी।।– व० जी, १/७

यह ध्यान देने की बात है कि भामह ने काव्य की विशिष्टता को 'वार्ता' के सन्दर्भ में समझाया है। काव्य को 'विचित्र अभिधा' कहकर कुन्तक ने इसे शब्द-शक्तियों के सन्दर्भ में रखा है। 'विचित्र अभिधा' भी उसी प्रकार 'लोकोत्तर चमत्कारकारि', 'शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दाथौपनिबन्धव्यतिरेकि', 'प्रसिद्धप्रस्थान व्यतिरेकि' और 'अतिक्रान्तप्रसिद्धव्यवहारसरणि' है जिस प्रकार भामह की अतिशय उक्ति 'लोकातिक्रान्तगोचरं' है।[3]

इसमें सन्देह नहीं कि 'कुन्तक' ने भामह के काव्यशास्त्रीय लक्षण की न केवल व्याख्या प्रस्तुत की वरन् उसको विश्लेषणगम्य भी बनाया। विश्लेषण के लिए उन्होंने भाषा संरचना के जितने स्तरों अथवा उपस्तरों की स्थापना की उनके नामकरण से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे उनको भाषाशास्त्रीय उपकरणों से युक्त और भाषा चिंतन से संदर्भित करने के पक्ष में हैं। साथ ही उनके द्वारा संकेतित वक्रता के भिन्न स्तरों की प्रकृति से स्पष्ट ध्वनित हो जाता है कि काव्यशास्त्र को वे न केवल 'सिद्धांत' के रूप ग्रहण करते हैं वरन् उसे 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' के रूप में भी विकसित करने के लिए वे कितने उत्सुक थे, यह उनके इस कथन से स्पष्ट व्यक्त हो जाता है–

"यह साहित्य इतने असीम समय की परम्परा में केवल साहित्य शब्द से प्रसिद्ध ही रहा है। कविकर्म कौशल के कारण रमणीय इस (साहित्य शब्द) का यह वास्तविक अर्थ है, इस बात का आज तक किसी विद्वान ने तनिक भी विचार नहीं किया। इसलिए सरस्वती के हृदयारविन्द के मकरन्द-बिन्दुसमूह से सुन्दर कवि-वचनों के आंतरिक आमोद से मनोहर रूप में प्रस्फुटित होने वाले इस (साहित्य) को सहृदय-मधुपों के सामने प्रकट करते हैं। (अर्थात् साहित्य शब्द का प्रयोग अब तक काव्य आदि के लिए होता रहा है, परंतु इसके वास्तविक अर्थ का प्रकाशन अब तक किसी भी विद्वान ने नहीं किया। अब तक इसका रसास्वादन ही हुआ है, विश्लेषण विवेचन नहीं।" (हिन्दी वक्रोक्ति जीवितं, १६वीं कारिका की वृत्ति)।

स्पष्ट है– कुन्तक के मत में साहित्य का रसास्वादन एक चीज है और उसका विश्लेषण-विवेचन उससे भिन्न दूसरी चीज; साथ ही साहित्य के वास्तविक अर्थ का प्रकाशन 'रसास्वादन' अथवा रस प्रक्रिया के सन्दर्भ में संभव नहीं। साहित्य के सही अर्थ को जानने के लिए शब्द और अर्थ के उस विशिष्ट सहभाव को पहचानना आवश्यक है जो वक्रता-वैचित्र्य से युक्त रहता है, और इस वक्रता-वैचित्र्य

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

को उद्‌घाटित करने के लिए उसका विश्लेषण विवेचन आवश्यक है, जो भाषाशास्त्री प्रणाली पर आधारित होकर ही 'वस्तुवादी' रह सकता है।

भामह ने काव्यशास्त्र के लिए जिस भाषावादी व्यापक पृष्ठभूमि की कल्पना की उसे केवल वक्रोक्तिवाद के प्रतिपादक कुन्तक ने व्यावहारिक और विश्लेषण गम्य नहीं बनाया। कुन्तक के पूर्व अलंकार सम्प्रदाय के समर्थक दण्डी, उद्‌भट, रुद्रट और रीति सम्प्रदाय के प्रतिपादक वामन ने भी एक सीमा तक इस भाषावादी काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा को विकसित और परिष्कृत कर लिया था। भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' उक्ति के समान ही अलंकारवादी रुद्रट भी यह मानते हैं कि शब्दार्थ ही काव्य का मूलाधार है– 'शब्दार्थौ काव्यं'। इसी प्रकार अगर अलंकारवादी दण्डी अलंकार को काव्य के शोभाकारी धर्म मानते हैं ('काव्यशोभा करान् धर्मान्, अलंकारान् प्रचक्षते'। काव्यादर्श २/१) तो वे उसे 'इष्टार्थ-व्यवच्छिन्न पदावली' के भाषावादी आधार पर प्रतिस्थापित भी करते हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्य वामन 'रीति' को काव्य की आत्मा मानते हैं ('रीतिरात्माकाव्यस्य') और 'रीति' को गुणों के आधार पर प्रतिस्थापित करना चाहते है। क्योंकि उनके अनुसार काव्यशोभा के मूलभूत धर्म गुण हैं (अलंकार नहीं); अलंकार तो उसके अतिशय करने वाले धर्म हैं– (काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशय हेतवस्त्वलंकाराः) लेकिन इसके साथ ही वे गुणों को शब्द और अर्थ के संबंधों के व्यापक आधार पर ही निरूपित करते हैं और रीति को पदों की विशिष्ट 'पद रचना' कहकर परिभाषित करते हैं।– 'विशिष्टपदरचना रीतिः'। (का० सूत्र, १/२/७)

यही नहीं रस सम्प्रदाय के समर्थक भी काव्य को भाषावादी संदर्भ के साथ ही ग्रहण करते हैं। जो यह मानते हैं कि काव्य की आत्मा 'रस' है वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह काव्य की शक्ति नहीं, वरन् उस शक्ति का फल है। रस काव्य का उद्देश्य या प्रयोजन है (स्वयं काव्य की आत्मा नहीं।) आत्मा का निवास स्थल तो स्वयं काव्य ही हो सकता है। इसीलिए ध्वन्यालोककार ने काव्य की आत्मा को 'ध्वनि' माना है–'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (पृ० २)। ध्वनि, भाषा का गुण है और उसे शब्द (भाषा) शक्तियों के आधार पर ही समझा जा सकता है। अतः आनन्दवर्धन के अनुसार विद्वानों में सर्वप्रथम 'वैयाकरण' आते हैं (प्रथमे हि विद्वांसौ वैयाकरणः) और व्याकरण सभी विधा के मूल में है (व्याकरण मूलत्वात् सर्वविधानां– ध्वन्यालोक, पृ. ४७)

ध्वनि सम्प्रदाय भी काव्य को 'शब्दार्थ' के आधार पर ही विश्लेषित करना चाहता है; वह भी भाषा और व्याकरण से संदर्भित कर ही काव्यशात्र का निरूपण करने के पक्ष में है पर इसके साथ ही वह अर्थ के क्षेत्र का व्यापक विस्तार करने का आग्रही भी है। वह काव्यार्थ की सीमा को केवल वाच्यार्थ तक सीमित करने के पक्ष में नहीं। अतः शब्द शक्तियों के रूप में वह अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना की भी उद्‌भावना करता है। वह यह मानकर चलता है कि यद्यपि काव्य में

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अर्थ वाच्यपरक भी होता है और प्रतीयमान भी पर प्रतीयमान अर्थ ही मूलतः काव्यात्मा से सम्बद्ध होता है। लेकिन प्रतीयमान अर्थ शाब्दिक अर्थ से कहीं अधिक गहरा, उससे कहीं अधिक व्यापक होता है इसलिए उसे वाचक शब्द के संदर्भ में नहीं अपितु पूरे काव्य के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। ध्वनि सम्प्रदाय, अपने पूर्ववर्ती सम्प्रदायों से इस आधार पर भी अलग किया जा सकता है कि वह. अर्थग्रहण के लिए व्यक्तिगत शब्दों को नहीं वरन् भाषा की बड़ी इकाइयों को अपना आधार बनाता है।

काव्यशास्त्रीय चिन्तन में आनन्दवर्धन का सर्वाधिक महत्व इस तथ्य में है कि उन्होंने ध्वनि को रस-सिद्धान्त के व्यापक संदर्भ में देखने का प्रयास किया। उन्होंने ध्वन्यालोक (पृ. १६३) में स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनका लक्ष्य मात्र ध्वनि सिद्धांत की प्रतिस्थापना ही नहीं है वरन् ध्वनि का रस सिद्धांत के साथ सामंजस्य स्थापित करना भी है। यह सत्य है कि आनन्दवर्धन रस को भावों के परिज्ञान के रूप में न देखकर उसका संबंध 'सहृदय' की 'चित्तवृत्ति' से जोड़ते हैं पर इसके साथ यह भी सच है कि उनका लक्ष्य मूलतः आर्थी (सिमेण्टिक) पक्ष के संदर्भ में काव्य लक्षण की प्रकृति का निरूपण करना है। वे काव्य के अर्थ की व्यापकता को सार्वकालिक (यूनिवर्सल) लक्षण के संदर्भ में साधारणीकृत करके एक निश्चित पद्धति (सिस्टम) में रखना चाहते हैं। वे (काव्य) भाषा के आर्थी स्तर के मनोवैज्ञानिक पक्ष ढूंढने के लिए भी उद्यत दीखते हैं इसलिए 'सहृदय' की चित्तवृत्तियाँ उनके लिए वे संदर्भगत उपकरण (या पैरामीटर) हैं जिनके परिप्रेक्ष्य में वे सामान्य भाषा और काव्यभाषा की आर्थी असमानता का विवेचन और काव्यात्मकता के आधारभूत गुणों का उद्घाटन करते हैं।

'सहृदय की चित्तवृत्तियाँ' (भाव/रस) आदि आर्थी पक्ष के संदर्भगत उपकरण हैं। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन ध्वनि (व्यंग्यार्थ) को काव्यात्मा मानते हैं और उनके लिए 'रसादि ध्वनि' वस्तुतः तीन प्रकार की ध्वनियों (रसादि, अलंकार और वस्तु) में से एक प्रकार की ध्वनि है। साथ ही चित्र काव्य के संदर्भ में वे अपनी ही उठाई शंका से सहमत दीखते हैं कि "सभी काव्य इस विश्व की किसी-न-किसी वस्तु का वर्णन हैं। काव्य में वर्णित सभी वस्तुएँ किसी-न-किसी रस अथवा भाव के विभाव के रूप में रहती हैं। क्योंकि रस और भाव, और कुछ नहीं वरन् चित्तवृत्तियाँ ही हैं अतः विश्व में ऐसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती जो चित्तवृत्तियों के जन्म के कारण न हो। अतः विभिन्न वस्तुओं के वर्णन को समाहित करने वाला काव्य अनिवार्यतः रसयुक्त होता है। इसलिए रसविहीन चित्र काव्य की संकल्पना ही असंभव है।" (ध्वन्यालोक, पृ. ४६५-७)

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय के प्रवर्तक शैलीविज्ञान की इस मान्यता से सहमत रहे हैं कि काव्यशास्त्र, भाषा के संदर्भ में ही निरूपित हो सकता है; काव्य शब्दार्थ के मंजुल और विशिष्ट

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सम्बन्धों के आधार पर ही परिभाषित किया जा सकता है; और काव्य-विश्लेषण के लिए व्याकरणिक (भाषिक) उपकरणों को ही मूलतः साधन रूप में ग्रहण करना अपेक्षित है।

काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, शब्दार्थ की विशिष्टता को समझने के लिए प्रयुक्त भिन्न भाषिक उपकरणों के बीच किसी एक को मूलभूत उपकरण मानने के परिणाम हैं। वे काव्यात्मा के विवेचन के सन्दर्भ में उस 'तत्त्व' के अनुसंधान के परिणाम हैं जिसकी सत्ता काव्य में 'काव्यत्व' की प्रतिस्थापना करती है। यह तथ्य विशेष महत्त्व का है कि काव्यात्मा के जिस 'तत्त्व' को जिस भी सम्प्रदाय ने काव्य सिद्धान्त अथवा काव्य विश्लेषण के लिए अपना साध्य बनाया (अलंकार, रीति (गुण), वक्रोक्ति, ध्वनि आदि) उसकी प्रकृति उन्होंने मूलतः भाषिक ही स्वीकार की।

इसके साथ यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि "प्राचीन भारतीय उच्चतर संस्कृति (अमूर्त और अभौतिक संस्कृति) की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें बौद्धिकता की जितनी व्याप्ति है, उतनी ही तीव्र अभिलाषा। उसमें सिद्धान्तों की तर्कसंगत स्थापना तथा तथ्यों के विश्लेषण और वर्गीकरण आदि करने की है।" (एमेन्यु : ४५६) अमेरिका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्री एमेन्यू के अनुसार– "प्राचीन भारतीय व्याकरणिक अध्ययनों में भी बौद्धिकता का वही स्तर दृष्टिगोचर होता है जो अन्य शास्त्रों या दर्शन में दृष्टिगोचर होता है तथा व्याकरणिक अध्ययन, जो साक्षात्कृत 'वेद' को यथावत सुरक्षित रखने के मौलिक प्रयोजन से प्रेरित होकर प्रारंभ हुए थे, आगे चलकर भारतीय मनीषा की उपलब्धि के अन्यतम रूप में सिद्ध और प्रसिद्ध हुए।..... इसीलिए वे हजारों वर्ष पहले 'व्याकरण' के लिए व्याकरण बनाने में प्रवृत्त हुए थे।.... वस्तुतः पाणिनि के समय में ही विज्ञान 'धार्मिकता' से मुक्त और स्वतंत्र हो गया था तथा जैसा कि पहले कहा जा चुका है उसका व्याकरण "व्याकरण के लिए लिखा गया व्याकरण था।" (एमेन्यू : ४५७)

भारतीय काव्यशास्त्र का आविर्भाव पाणिनि काल के बहुत बाद आविर्भूत हुआ। वह उसी भारतीय चिन्तन की देन है जो अपनी दृष्टि में वस्तुपरक और प्रणाली में तर्कसंगत है; वह भी बौद्धिकता के एक उच्चतर आयाम की सृष्टि करता है तथा 'काव्यशास्त्र के लिए' काव्यशास्त्र बनाने का परिणाम है। पर इसके साथ ही वह काव्यशास्त्र के उस उचित संदर्भ को कभी भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं करता जो अपनी प्रकृति में वस्तुवादी और चिन्तन में भाषावादी रहा है।

अगर भामह ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त कराया तो अभिनवगुप्त ने 'रस' को नाट्यशास्त्र के सीमित क्षेत्र से निकालकर उसका व्यापक प्रसार करते हुए एक बार फिर काव्यशास्त्र के नियामक तत्त्व के रूप में प्रतिस्थापित किया। उन्होंने 'रस' की सत्ता को काव्य के उस गुरुत्वाकर्षक शक्ति के रूप में स्वीकार किया जिसकी ओर काव्य के सभी अन्य उपादान– अलंकार, रीति, गुण आदि– न केवल अपने आप खिंच जाते हैं वरन् जिसके सन्दर्भ में ही वे अपनी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सार्थकता की सिद्धि पा सकते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार रस-ध्वनि ही काव्यात्मा है तथा वस्तु और अलंकार ध्वनि के उद्देश्य एवं प्रकार्य का रस-ध्वनि में स्वयंमेव पर्यवसान हो जाता है। रस-ध्वनि को काव्यात्मा मानने की इसी धारणा का प्रतिफलन पण्डितराज जगन्नाथ की इस उक्ति में होता है– "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अथवा "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"।

रसवादी साहित्यशास्त्री वस्तुतः काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) काव्यकृति को न मानकर 'प्रेक्षक' या 'पाठक' को मानते हैं। काव्यात्मकता स्थित 'कहाँ' रहती है– इस प्रश्न के उत्तर में कई स्थान नियम किये जा सकते हैं– कवि, काव्यकृति अथवा पाठक। रस को काव्य की आत्मा मानने वाले कलाशास्त्री वस्तुतः पाठक (या प्रेक्षक) को ही कला का केन्द्रक मानते हैं। रस तो आस्वाद्य है "रस इति कः पदार्थः? आस्वाद्यत्वात्....." (नाट्यशास्त्र ६/२६) वह बिना सहृदय या रसिक के प्रतिफलित ही नहीं हो सकता। चाहे 'रस' कहिए या 'चमत्कारनिवेश', 'रसना', 'आस्वाद', 'भोग', 'सभापति', 'लय' अथवा 'विश्रान्ति', ये सभी सहृदय के अलौकिक अनुभव के साक्ष्य पर आधारित हैं। इसका अगर कोई प्रमाण है तो विश्वनाथ के अनुसार वह 'सहृदय' ही हो सकता है (साहित्यदर्पण; ।।।, २०) अतः रस मम्मट के अनुसार 'अनुभव साक्षिक' है तो यह आत्मा काव्य में स्थित न होकर सहृदय (पाठक या प्रेक्षक) में केन्द्रस्थ है।

अभिनव गुप्त ने अपने साहित्य सिद्धान्त के आधार पर काव्यात्मकता के केन्द्रक को काव्याकृति से हटाकर सहृदय बना दिया और अपने पक्ष को इतनी सबलता और परिपूर्णता के साथ रखा कि परवर्ती विद्वान इस मत की उपेक्षा न कर सके। रस सिद्धान्त की धारा आगे चलकर इतने प्रवाह के साथ आगे बढ़ी कि इस सहृदय के केन्द्रक को बदलने वाले साहित्य सिद्धान्त को आज (डॉ. डे जैसे) कुछ विद्वान प्रतिक्रियावादी सिद्धान्त मानते हैं अथवा (डॉ. नगेन्द्र प्रभृत) कुछ विद्वान इसके विरोधी सभी सम्प्रदायों को देहवादी की संज्ञा दे बैठते हैं।

पर अभिनवगुप्त ने जिस 'ध्वन्यालोक' की टीका के रूप में 'लोचन' में अपने सिद्धांत का प्रतिपादन किया उसके प्रणेता के मत में रस की सत्ता काव्य के लिए आवश्यक तो है पर काव्यात्मकता का नियामक तत्त्व रस नहीं वरन् 'ध्वनि' है– 'काव्यस्यात्माध्वनिः'। अतः उनके अनुसार न केवल रस ध्वनि अपितु वस्तु और अलंकार ध्वनि भी काव्यात्मकता ही नियामक शक्ति है। 'ध्वन्यालोककार' काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति ही स्वीकार करते हैं अतः वे शब्द अर्थ के सम्बन्धों की उपेक्षा करने के पक्ष में नहीं क्योंकि वे ही तो व्यंग्य के व्यंजक हैं। वे यह मानते हैं कि गुण, अलंकार आदि (जो व्यंजक तत्त्व हैं) की सार्थकता व्यंग्य के साथ उनके सम्बन्धों की प्रकृति पर निर्भर करती है पर व्यंग्य की सिद्धि के साधन के रूप में उनकी सत्ता काव्यकृति में स्वयंमेव सिद्ध रहती है। रसवादी आलोचकों ने काव्यात्मकता के केन्द्रक को काव्यकृति से स्थानान्तरित कर सहृदय (पाठक) में सीमित कर ध्वनि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सिद्धान्त के आचार्य के काव्यशास्त्र की इस व्यापक पृष्ठभूमि– वस्तुवादी दृष्टिकोण और भाषिक चिन्तन को, सीमित कर आत्मवादी विचारसरणि में रूपान्तरित कर दिया। यह इसी रूपान्तरण का परिणाम है कि बाद में चलकर साहित्यशास्त्रियों ने 'काव्यास्यात्मा ध्वनिः' जैसी वस्तुवादी एवं भाषा सन्दर्भित परिभाषा में अतिव्याप्ति दोष देखना शुरू कर दिया और अविवक्षित वाच्य की बात तो छोड़िए, संलक्ष्य क्रम व्यंग्य को भी काव्यात्मा मानने से इनकार कर दिया।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक जैसे देहवादी आचार्य और आनन्दवर्धन जैसे रसवादी आचार्य की न तो अन्तर्दृष्टि में कोई मूलभूत अन्तर है और न भाषा संदर्भित चिन्तन पद्धति में ही आधारभूत विभेद है। कुन्तक काव्य में व्यंग्यार्थ की सत्ता के विरोधी न थे। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को न केवल स्वीकार किया है अपितु 'विचित्र' मार्ग के अन्तर्गत वाक्यार्थ की प्रतीयमानता का सूक्ष्म विवेचन भी किया है। प्रतीयमान रूपक, प्रतीयमान व्यतिरेक, औपम्यगम्य प्रतीयमान उपमा आदि सभी व्यंग्यमुखेन वक्रोक्ति के उदाहरण कहे जा सकते हैं। इसी प्रकार यद्यपि 'परिवृत्ति' को कुन्तक अलंकार्य मानते हैं पर उसके साथ उनका यह भी निर्देश है कि प्रतीयमानता मात्र अलंकरण नहीं होती; वह अलंकार्य वस्तु की द्योतिका भी होती है। कुन्तक और आनन्दवर्धन की अन्तर्दृष्टि की इस समानता को देखकर ही संभवतः महिमभट्ट ने यह संकेत दिया कि अगर कुन्तक की वक्रोक्ति की संकल्पना का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो वह व्यंजना से भिन्न नहीं दिखाई पड़ेगी।

वक्रोक्तिवाद पर महिमभट्ट की यह आलोचनात्मक उक्ति वस्तुतः वक्रोक्तिवाद की उस व्यापक दृष्टि को ही व्यंजित करती है जिसके भीतर ध्वनि के सभी प्रमुख भेद और उपभेदों का अन्तर्भाव मिल जाता है। पर अन्तर्दृष्टि एवं लक्ष्य की इस एकता के बावजूद देहवादी कुन्तक और आत्मवादी आनन्दवर्धन में विश्लेषणात्मक पद्धति एवं व्याख्यात्मक सन्दर्भ में महत्वपूर्ण विभिन्नता है। एक की दृष्टि अगर वस्तुपरक है तो दूसरे की आत्मपरक; एक भाषा के उपकरणों के आधार पर ही प्रतीयमानता की व्याख्या करने के पक्ष में है तो दूसरा प्रतीयमानता को मनोविज्ञान के सन्दर्भ में व्याख्यायित करने का अनुमोदक है, एक 'अभिधा' के भीतर ही व्यंजना का अन्तर्भाव कर लेता है तो दूसरा अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से अनुपलब्ध पर शब्दप्रमाण से प्राप्त व्यापार के रूप में उसे सिद्ध करना चाहता है अतः यह कथन सर्वथा उचित है कि "काव्य के जिन सौन्दर्य भेदों की आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी को कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचन प्रस्तुत करने की चेष्टा की। इस प्रकार वक्रोक्ति प्रायः ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना ही थी।"

यह बात नहीं कि जिन्हें देहवादी या रूपवादी आचार्य कहा जाता है उन्होंने 'काव्यात्मा' की बात न की हो अथवा काव्य के सारतत्व अथवा उसकी मूल शक्ति

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

की चर्चा न उठाई हो। काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के अभ्युदय के पीछे की कहानी ही यही रही है कि उनके प्रवर्तक आचार्यों ने काव्यात्मा को न केवल भौतिक ढंग से निरूपित किया वरन् अपनी मान्यता के अनुसार उसकी 'शक्ति' को परिभाषित भी किया। किसी ने 'अलंकार' को मूल शक्ति माना और किसी ने 'रीति' को काव्यात्मा कहा; किसी ने 'गुण' को 'सारतत्व' कहा और किसी ने 'वक्रोक्ति' को। पर ये सभी तथाकथित देहवादी आलोचक इस तथ्य के समर्थक रहे कि काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) काव्यकृति है, पाठक (या सहृदय) अथवा कवि नहीं। यहाँ तक कि जो कुन्तक, काव्य को कवि व्यापार के रूप में देखने के समर्थक हैं और जो उस ा लक्ष्य 'आह्लादकारिणी' मानते हैं वे भी काव्य शरीर और काव्यात्मा का भेद सामने रखते हुए शब्द और अर्थ को काव्य शरीर (अलंकार्य) के रूप में ग्रहण करते हैं और वक्रोक्ति को काव्यात्मा के रूप में।

सच तो यह है कि इन तथाकथित देहवादी आचार्यों ने न तो 'काव्यात्मा' की खोज और उसकी चर्चा से कभी अपना सम्बन्ध तोड़ा है और न कविता के हृदय पक्ष की ही कभी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिए भामह 'काव्यपाक' (जो काव्य की सिद्ध दशा के रूप में ग्रहीत है) को दो श्रेणियों में विभाजित करते हैं– अहृद्य (कपित्थ पाक) और हृद्य। अहृद्य पाक की धारणा पहले से ही प्रचलित थी जिसके अनुसार सुबन्त एवं तिङन्त पदों के समुचित संयोग का परिणाम ही काव्यार्थ माना जाता था। भामह के अनुसार यह असुकुमार मार्ग है; हृदय के रंजन में असमर्थ है अतः इसे काव्यपाक न कहकर 'सौशब्द्य' ('सुशब्दता' अथवा सुन्दर शब्दों का विलास) कहना अधिक उचित होगा।

आज शैलीविज्ञान यह मानता है कि 'शैली' की संकल्पना के मूल में 'चयन का सिद्धान्त' (थियरी ऑव सेलेक्शन) काम करता है। चयन की इसी संकल्पना को आधार बनाते हुए भामह, काव्यपाक को 'पदनिवेश निष्कम्पता' के रूप में देखते हैं। इसी पदस्थैर्य के नियामक की खोज के परिणामस्वरूप वामन काव्यपाक को 'परिवृत्ति विमुखता' के सन्दर्भ में परिभाषित करते हैं अर्थात् पदस्थैर्य तभी संभव है जब पद का पर्याय शब्दों द्वारा स्थानान्तरित करना असंभव हो, और न ही उसकी रूप च्युति करना ही संभव हो।

य त् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दापाकं प्रचक्षते।।– काव्यालंकार १/३/१५

अतः भामह के अनुरूप ही वामन भी काव्यपाक को दो वर्गों में विभाजित करते हैं– वृत्ताक पाक (जो सुप, लिङ्; नाम, क्रियापद का समुचित संयोग है पर जहाँ गुण, अस्फुट रूप में रहते हैं।) और सहकार पाक (जो पदों का परिवृत्ति विमुखता और जहाँ गुण स्फुट रूप में रहता है।)

स्पष्ट है भामह और वामन दोनों शब्द सौन्दर्य (कपित्थ और वृत्ताक पाक) और गुणों से स्फुट और हृदय के रंजन मे समर्थ शक्ति (हृदय और सहकार पाक)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

में अन्तर देखते हैं।

'अलंकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबन्ध ने काव्यशास्त्र सम्बन्धी विभिन्न सम्प्रदायों के उदय के सन्दर्भ में व्यापार (काव्य प्रक्रिया) को सामने रखकर अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले दो आचार्यों का नाम लिया है– वक्रोक्तिवादी कुन्तक और मुक्तिवादी भट्टनायक। दोनों व्यापार प्राधान्यवादी आचार्य यह मानते हैं कि काव्य व्यापार के सन्दर्भ में तीन अंश हैं– (१) कवि, (२) काव्यकृति, और (३) सहृदय। शब्दार्थ के सन्दर्भ में भट्टनायक तीन भिन्न प्रकार के व्यापार मानते हैं– (१) अभिधा (जो अपने व्यापक अर्थ में कवि के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति है, (२) भावकत्व (जो कृति के सन्दर्भ में परिभाषित होता है और विभाव अनुभाव के साधारणीकरण का व्यापार है) और (३) भोजकत्व (जो सहृदय के सन्दर्भ में वह भोक्तृत्व व्यापार है जिसके आधार पर प्रेक्षक (पाठक) रस का भोग करने में सक्षम होता है)। कुन्तक भी एक ओर कवि के वक्रव्यापार की बात उठाते हैं और दूसरी ओर काव्य को 'तद्विदाह् लाददायी' कहते हैं और इनको काव्य के 'व्यवस्थित बन्ध' के सन्दर्भ में रखने के पक्ष में हैं। कुन्तक कवि कौशल को जीवन्त तभी मानते हैं जब कि उनमें कवि स्वभाव (कौशल), अलंकार (काव्यात्मकता) तथा रस की प्रतीति हो। (रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषं कविकौशलमेव जीवितम्– व० जी०, १४६)। लेकिन इन दोनों आचार्यों की उद्भावना काव्य प्रक्रिया के तीनों अंशों कवि, कृति और सहृदय को– समान रूप में स्वीकार कर भी काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) के सन्दर्भ में नितान्त भिन्न है। भट्टनायक 'सहृदय' को केन्द्रक मानते हैं अतः अभिधा और भावकत्व दोनों भोजकत्व (रसविषयक चर्वणव्यापार) के अधीन हैं। पर कुन्तक 'व्यवस्थित बन्ध' (काव्यकृति) को ही काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) मानते हैं। अतः वक्रोक्ति को काव्यात्मा मानते हुए उस (काव्यात्मकता) को 'विशिष्टा अभिधा' द्वारा परिभाषित करते हैं।

केंद्रक के रूप में काव्यकृति को स्वीकार करने के फलस्वरूप ही ये तथा कथित देहवादी आचार्य रस को काव्यात्मकता के अनिवार्य तत्व के रूप में ग्रहण करने के मत में नहीं। तथ्य द्रष्टव्य है कि 'रस' की सत्ता से ये आचार्य भी अपरिचित नहीं। अगर 'भामह' ने काव्यशास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतंत्रता से मुक्त कराया तो इस वक्तत्व का यह भी अर्थ है कि वे भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' से परिचित और नाट्यशास्त्र के 'रसवादी' सिद्धान्त से पूरी तरह अवगत थे। पर उन्होंने 'काव्य' के परिप्रेक्ष्य में 'रस' को काव्यात्मा मानने से इनकार कर काव्य के लक्षण को काव्यकृति में ढूंढने का आग्रह किया; उसे 'शब्दार्थ' के 'विशिष्ट' सन्दर्भ में परिभाषित करने का प्रयास किया और 'अतिशय कथन' के रूप में 'वक्रोक्ति' की सत्ता को काव्यात्मा के रूप में प्रतिस्थापित किया। अन्यथा 'रसोक्ति' अलंकार की चर्चा तो इनके विरचित काव्यशास्त्र में भी है। भामह की 'वक्रोक्ति' की संकल्पना के भीतर ही स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति और रसोक्ति तीनों का समाहार है। दण्डी ने

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के भेद को सामने रखकर रस सम्बन्धी सभी अलंकारों को वक्रोक्ति के भीतर स्वीकार किया। कुन्तक तो रस सिद्धान्त से पूर्णतया परिचित थे। उनका जीवनकाल भी आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और राजशेखर के काल के बाद का है। उनके सिद्धान्त में 'रसवत' अलंकार अथवा रस की सत्ता का पूर्ण विधान है। रस के प्रति उनका कितना अधिक आग्रह है वह इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है–

यथा स रसवन्नाम सर्वालंकारजीवितं
काव्यैकसारतां याति......' – व० जी०, १७४

प्रबन्ध तथा प्रकरण वक्रता के सन्दर्भ में कुन्तक ने रस चमत्कार के कई उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इसकी विवेचना करते हुए बलदेव उपाध्याय (पृ. ३३५) का कथन है– "यह अनुशीलन हमें इसी परिणाम पर पहुँचाता है कि कुन्तक काव्य में रस के सूक्ष्म उन्मेष के गौरव को भली-भांति जानते थे, वे रस के मर्म से परिचित थे। रस कुन्तक की वक्रोक्ति के नाना प्रकारों में से एक सुन्दर प्रकार है।"

लेकिन यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि कुन्तक अथवा अन्य वे सभी आचार्य जो काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति मानते हैं, रस का एक छोर अगर सहृदय में मानते हैं तो उसका दूसरा छोर काव्यवस्तु (काव्य-शरीर) में। इनके मत में यह दूसरा छोर ही रस का नियामक है। अतः काव्यवस्तु अर्थात् वर्ण्य विषय और उसके अभिव्यक्त बाह्य शरीर के स्वभावाधायक रूप में ही वे रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे आनन्दवर्धन की भाँति यह मानते हैं कि रस, 'स्वशब्दावाच्य' है, परन्तु आनन्दवर्धन के विपरीत वे रस की सत्ता को सहृदय के भीतर न मानकर काव्यवस्तु के भीतर मानते हैं। इसीलिए उनके अनुसार 'रसवत' अलंकार, अलंकार नहीं अलंकार्य है, वह काव्य का गुण नहीं, काव्य शरीर की शोभा है जिस प्रकार 'स्वभावोक्ति' 'अलंकृति' नहीं अपितु 'अलंकार्य' है और जिस प्रकार उसमें वर्ण्यवस्तु के स्वभाव का सहज सौन्दर्य रहता है उसी प्रकार रस भी काव्य शरीर की सहज शोभा है और रसवक्रता और कुछ नहीं वस्तुवक्रता का प्रतिफलन है। अलंकारवादी कुन्तक स्वभावोक्ति या रसोक्ति के लालित्य से न तो अपरिचित हैं और न वे उसकी उपेक्षा ही करते हैं। रसवादियों से अन्तर है तो इतना ही कि वे 'रस' की सत्ता को स्वीकार कर भी उसे 'काव्यात्मकता' (काव्यकृति) के अधीन रखने के आग्रही हैं और साथ ही वे 'रस' को पारिभाषिक रूप में वर्ण्यविषय से सन्दर्भित करने के पक्ष में हैं।

ध्वनि संदर्भित रस सिद्धान्त के पहले के अन्य आचार्यों में यद्यपि 'रस' की संकल्पना भिन्न भूमि पर स्थित है पर यह भूमि भी 'सहृदय' की न होकर 'काव्यकृति' की है। यथा दण्डी के अनुसार यह रीति के अनेक गुणों में एक गुण के रूप में है। 'माधुर्य' के संदर्भ में दण्डी शब्द और वस्तु के भीतर रस को 'स्थित' मानते हैं ('वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः १/५१) लेकिन अन्यत्र (।।, २६२) के माधुर्य गुण को 'अग्राम्यता'

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

से सम्बद्ध करते हैं। उनके अनुसार माधुर्य गुण दो भिन्न स्थितियों में व्यक्त होता है– श्रृत्यनुप्रास के रूप में 'वागरस' और अग्राम्यता के रूप में 'वस्तुरस'। अन्यत्र दण्डी ने (१/६४) स्पष्ट निर्देश दिया है कि वर्ण्य वस्तु की 'अग्राम्यता' ही माधुर्य गुण का कारण है। वामन भी 'रस' को 'काव्यात्मकता' के संदर्भ में ही पारिभाषित करते हैं। उनके अनुसार गुण, शब्द और अर्थ के धर्म हैं और वे ही काव्यात्मकता के नियामक हैं, अतः रस की स्थिति अर्थ गुण की क्रान्ति में ही स्थित है (दीप्त-रसत्वम् ।।। २/१५)

कहने का तात्पर्य यह है कि जिन साहित्याचार्यों को सामान्यतः देहवादी या रूपवादी बतलाकर यह कह दिया जाता है कि 'रस' के मर्म को उन्होंने ठीक से नहीं समझा, यह उचित नहीं। वे न तो मात्र रूपवादी हैं और न रस विरोधी। रसवादियों से उनका विरोध इस तथ्य में निहित है कि वे काव्यात्मकता का केन्द्रक (लोकस) काव्यकृति मानते हैं, सहृदय नहीं; 'रस' की जो स्वीकृति उनके काव्य-सिद्धान्त में है उसका संबंध वर्ण्य वस्तु या शब्दार्थ की अपनी प्रकृति ये है, पाठक की 'चित्तवृति' अथवा 'वासनार्गत संस्कार' से नहीं। रस उनकी दृष्टि में काव्य का उपजीव्य है पर 'आत्मा' नहीं, वह काव्य का एक रूप है पर उसका मुख्य रूप नहीं।

शैलीविज्ञान की यह आधारभूत मान्यता है कि साहित्य व्यापक रूप में भाषा क्रिया (लैंग्वेज ऐक्ट) ही है जो अपनी (कलात्मक) विशिष्टताओं के फलस्वरूप भाषा अध्ययन के शास्त्र के भीतर ही एक उपश्रेणी अथवा उपशास्त्र का निर्माण करता है। साहित्य को वह 'शाब्दिक' कला के रूप में देखता है। अतः उसकी रूप प्रकृति को समझने में उसके 'शाब्दिक' पक्ष की वह उपेक्षा नहीं करता। पर उसके साथ यह तथ्य भी उपेक्षणीय नहीं कि साहित्य 'शाब्दिक' (भाषिक) है, मात्र शब्द (भाषा) नहीं; उसकी आत्मा कला के 'सौन्दर्य' व्यापार से रंजित रहती है, न कि भाषा के सामान्य लौकिक व्यापार से बाधित। अतः साहित्य के संदर्भ में वह 'शैली' को शब्द (भाषा) और कला (सौन्दर्य) के अनुबन्ध की संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है।

शैलीविज्ञान की इन आधारभूत मान्यताओं एवं अन्तर्दृष्टि के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की भी दृष्टि मूलतः भाषावादी ही है। वह यह पहले मानकर चलता है कि शब्द और अर्थ के युगल संबंध ही काव्य हैं। प्रायः सभी भारतीय साहित्याचार्यों ने अपने सिद्धान्त प्रतिपादन के लिए काव्य सौन्दर्य की आधारशिला 'शब्दार्थ' को ही माना है। पर इसके साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि मात्र शब्दार्थ, साहित्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तो व्याकरणिक तथ्य है, 'वार्ता' है, 'अहृदय' अथवा 'वृत्ताक' पाक है। साहित्य 'विशिष्ट' शब्दार्थ है जो व्याकरणिक होने के साथ ही साथ 'रमणीय' (सौन्दर्यपरक) भी होता है; वह 'हृदय' अथवा 'सहकार' पाक है जो सौन्दर्यबाधित शब्दार्थ की विशिष्टता की सिद्धावस्था) नहीं हो सकता; वह तो मात्र 'सौशब्द्य' (सुशब्दता) है, जो काव्य का बाह्य उपकरण हो सकता है पर उसके अन्तस्तल की प्रकृति नहीं बन सकता।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

काव्यात्मा तो 'सौन्दर्य' है, चारुत्व है जो काव्य में ही नहीं अपितु सभी ललित कलाओं की प्राणशक्ति के रूप में स्थित होती है।

विवाद अथवा मतवैभिन्नय के कितने भी आधार क्यों न देखने को मिलें– यथा, काव्य 'रसात्मक' होता है या नहीं; काव्यार्थ का मूलाधार अभिधा, लक्षणा है अथवा व्यंजना; व्यंजना अनुमानाश्रित है, भाषाश्रित है अथवा वह अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्यवृत्ति से अनुपलब्ध प्रकाशन व्यापार है आदि, पर इस तथ्य से सभी भारतीय आचार्य सहमत हैं कि काव्य की आत्मा सौन्दर्य ही है– "चारुत्व प्रतीतिः तहि काव्यस्थ आत्मा इति तद् अंगीकुर्म एवं। नास्ति खल्वयं विवाद इति।" (अभिनवगुप्त, 'लोचन', पृ. ३३) शैलीविज्ञान की ही भाँति भारतीय काव्यशास्त्र का भी चिन्तन वस्तुवादी रहा है। अतः इस 'सौन्दर्य' की संकल्पना को उसने वस्तुवादी पद्धति से ही देखने का आग्रह किया।

यह ध्यान देने योग्य है कि विषय पक्ष का भावपरक या वस्तुपरक होना एक बात है और विश्लेष्य विषय सामग्री के प्रति चिन्तनधारा का भाववादी या वस्तुवादी होना– उससे नितान्त भिन्न बात है। मनोभाव, अनुभूतियों या संवेदनात्मक प्रतीति की प्रकृति 'भाव' परक हो सकती है पर इसके साथ उसके अध्ययन का दृष्टिकोण अथवा विज्ञान (मनोविज्ञान) का पूर्णतः वस्तुवादी (ऑब्जेक्टिव) होना भी संभव है। शैलीविज्ञान यह स्वीकार कर चलता है कि शास्त्र के रूप में उसकी चिन्तन पद्धति की प्रकृति का वस्तुवादी होना उसकी पहली शर्त है। वह यह मानता है कि 'सौन्दर्य' की प्रकृति अगर 'अबौद्धिक कथ्य' और 'भावजगत' की जीवनदृष्टि पर आधारित भी हो तो काव्यकला के सन्दर्भ में भाषा (शब्दार्थ) की प्रकृति के आधार पर ही समझा जा सकता है। स्पिट्जर (१९६२ : १४१-२) के शब्दों में "यह कहने के बजाय कि कविता शब्दनिर्मित नहीं होती और कविता में शब्द अपने अर्थ से मुक्त होकर बौद्धिक प्रत्यय के पार लयात्मक प्रत्यय का सृजन करते हैं, मैं यह कहना चाहूँगा कि कविता शब्द निर्मित होती है और उन शब्दों का अर्थ भी उसमें स्थित होता है। लेकिन कवि की चमत्कारपूर्ण प्रतिभा, जो काव्य संघटना को एक समग्र दृष्टि के लयात्मक प्रत्यय में बाँधती है, इन शब्दों में एवं उसमें स्थित अर्थ को बौद्धिक प्रत्यय के पार ले जाकर लयात्मक प्रत्यय तक पहुंचा देती है। और यह भाषाशास्त्र के अध्येता (शैलीवैज्ञानिक) का कार्य है कि वह इस तथ्य का विश्लेषण करे कि निर्देशित रूपान्तरण की प्रक्रिया क्या है। कविता के अबौद्धिक पक्ष भाषावैज्ञानिक (शैलीवैज्ञानिक) के हाथों में अपनी सत्ता समाप्त नहीं हो जाती। इसके ठीक विपरीत धैर्यपरक विश्लेषणात्मक पद्धति का सहारा लेते हुए वह उस पथ को ढूंढ़ने का प्रयत्न करेगा जो बौद्धिक से अबौद्धिक की ओर कविता को ले जाता है और जिस दूरी को कवि अपनी एक छलांग में ही तय कर लेता है।"

शैलीविज्ञान की ही भाँति भारतीय काव्य सम्प्रदाय भी यह देखने का प्रयास करता है कि किस प्रकार भाषिक प्रत्यय (शब्दार्थ) का रूपान्तरण 'अबौद्धिक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

लयात्मक कथ्य' (सौन्दर्य) में हो जाता है; वह भी शैलीविज्ञान की ही भाँति विश्लेषण की इस प्रक्रिया के आधार को भाषा के प्रकार्य (फंक्शन) और उसकी संघटना में ही ढूंढता है। विभिन्न काव्य सम्प्रदायों के मूल में इसी वस्तुवादी चिन्तन पद्धति की स्वीकृति है। अन्तर है तो इस प्रश्न के उत्तर में कि "अनेक भाषिक तत्वों में कौन तत्व सौन्दर्य विधायक है और कौन नहीं? सौन्दर्य विधायक इन भाषिक तत्त्वों की मूल प्रकृति अन्य किन उपकरणों द्वारा बाधित या नियंत्रित है?"

उदाहरण स्वरूप अलंकारवादी आचार्यों की मान्यता को ही देखें। वे पहले यह मानते हैं कि काव्य की मूलशक्ति (प्राणतत्त्व) सौन्दर्य है और इस काव्यात्मक सौन्दर्य का अभिधायक 'अलंकार' है। दण्डी के शब्दों में अलंकार और कुछ नहीं अपितु काव्यशोभाकारक धर्म है– "काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।।२।।"। पर उनके अनुसार अलंकार, शरीरभूत शब्दार्थ नहीं वरन् शब्दार्थ के वे सभी मूलभूत तत्त्व हैं जो सौन्दर्य विधायक हैं। इन अलंकारवादियों की 'अलंकार' की संकल्पना काफी व्यापक है। वह वस्तुतः 'सौन्दर्य' का काव्यशास्त्रीय संकल्पनात्मक रूपान्तरण है। यह इस तथ्य से भी स्पष्ट हो जाता है कि दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा, रूपक आदि प्रसिद्ध अलंकारों को मात्र 'साधारण अलंकार' कहा है। पर इस 'अलंकार' की समतुल्य भाषिक रचनात्मक इकाई क्या है? इसके उत्तर में अगर भामह या कुन्तक 'वक्रोक्ति' की संकल्पना सामने लाते हैं तो वामन 'गुण' की। भामह के अनुसार वक्रोक्ति ही 'अलंकार' के मूल में है– –"कोऽलंकारोऽनया विना"। यह वक्रोक्ति वस्तुतः काव्यशास्त्रीय प्रत्यय 'अलंकार' का ही भाषाशास्त्रीय संकल्पनात्मक रूपान्तरण है। काव्य के सभी रूपों में यह वक्रोक्ति तत्त्व देखा जा सकता है– "युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैत दिष्यते। २१/३०।।" परिभाषित रूप में अन्यथा यह 'लोकोतिक्रान्तगोचरं वाक्यम्' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' के संदर्भ में यह 'लोकातिक्रान्तगोचरता' और कुछ नहीं अपितु 'लोकोत्तरचमत्कारकारि','प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकि' अथवा 'शास्त्रादि प्रसिद्ध 'शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' है।

वामन भी काव्य की आत्मा अन्ततोगत्वा 'सौन्दर्य' ही स्वीकार करते हैं। अलंकार शब्द तो सौन्दर्य का पर्यायवाची है 'सौन्दर्यमलंकारः' (काव्यालंकार १/१/२) पर जिस अलंकार को भामह और कुन्तक 'वक्रोक्ति' के आधार पर निरूपित करना चाहते हैं उसके लिए वे 'रीति' की संकल्पना सामने लाते हैं। पर 'रीति' का पारिभाषिक आधार उन्होंने भी भाषिक ही माना है, इसीलिए रीति उनके अनुसार और कुछ नहीं वरन् विशिष्ट पदरचना है– 'विशिष्टा पदरचना रीतिः'। पर वामन इस भाषिक स्तर की संकल्पना तक ही अपनी विवेचना सीमित नहीं कर देना चाहते। वे 'विशिष्ट पदरचना' के रूप में पारिभाषित 'रीति' को और भी गहराई में विश्लेषित करने के लिए भाषिक धरातल (पदरचना की विशिष्टता) को प्रभेदक उन उपलक्षणों (डिस्टिन्क्टिव फ़ीचर्स) के आधार पर समझाना चाहते हैं जिनकी प्रकृति

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भाषेतर है। पदरचना के वैशिष्ट्य के उपलक्षण वामन के अनुसार 'गुण' है (विशेषीगुणात्मा' १/२/८) अतः उसके अनुसार ये ही गुण अन्ततोगत्वा काव्यार्थ के शोभाकारक धर्म हैं (२/२/१) ध्वनिवादी आचार्य भी काव्य की आत्मा, 'चारुत्व प्रतीति' (सौन्दर्य) ही मानते हैं। पर काव्यात्मक संकल्पना के रूप में वे 'रीति' के स्थान पर 'ध्वनि' और भाषिक संकल्पना के धरातल पर 'विशिष्ट पदरचना' के स्थान पर 'व्यंजना' की स्थापना करते हैं। भाषेतर प्रभेदक उपलक्षण के रूप में वे 'गुण' के स्थान पर अधिक सूक्ष्मतर इकाई 'मनोभाव' (रस) की परिकल्पना करते हैं। अन्यथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से 'गुण' और 'भाव' दोनों मनःस्थितियों के ही परिचायक हैं। पर ध्वनिवादियों के 'भाव/रस' की परिकल्पना मानव मन की सार्वकालिक (यूनिवर्सल) मनःस्थितियों के घटक (कन्स्ट्रक्ट) के रूप में सिद्ध होने के कारण कहीं अधिक व्यापक, गहरे और आधारभूत हैं।[४]

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि भारतीय काव्यशास्त्र का चिन्तन वस्तुवादी और दृष्टि भाषावादी रही है और इस वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि की एक निर्दिष्ट विकासात्मक दिशा है। यह कहना कि "पाश्चात्य साहित्यालोचन की ही भाँति 'भारतीय साहित्यालोचन' की परम्परा बड़ी पुरानी है परन्तु वह अपने पश्चिमी प्रतियोगी की-सी सुनिर्दिष्ट नहीं है, अथवा भारतीय काव्यशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय, जैसे रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति इत्यादि अपने आरंभिक और मूलरूप में केवल काव्य सिद्धान्त के विभिन्न पक्ष ही थे न कि सम्पूर्ण काव्यदर्शन के स्थानापन्न।" (वाजपेयी १६५६ : १०१) भारतीय काव्यशास्त्र के वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि के निरन्तर गुणात्मक परिवर्तन की विकासमान प्रकृति को न समझने का परिणाम ही है। यहाँ यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि प्रत्येक सम्प्रदाय की आँखों से देखा है। यथा, जो 'अलंकार' की संकल्पना भामह ने की उसी रूप में प्रतिस्थापित किया उसी गुणात्मक स्तर के साथ ध्वनिवादियों ने उसे नहीं अपनाया। पर काव्यात्मक प्रकार्य के रूप में भामह ने अलंकार 'वक्रोक्ति' की संकल्पना की, उसी के समानान्तर (पर प्रभेदक उपलक्षणों के समुच्चय के रूप में उससे भिन्न) वामन की रीति। गुण, आनन्दवर्धन की ध्वनि– व्यंजना भाव की संकल्पना कही जा सकती है।

यही नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र की मूल परम्परा शैलीविज्ञान की ही भाँति चिन्तन में वस्तुवादी और दृष्टि में भाषावादी है वरन् जब तक वह चिन्तन में वस्तुवादी और दृष्टि में भाषावादी रही वह काव्यात्मा की 'सौन्दर्य' और काव्यात्मकता के केन्द्रक (लोकस) को शैलीविज्ञान की ही भाँति 'काव्यकृति' मानती रही। पर परवर्ती रसवादियों ने 'केन्द्रक' को काव्यकृति से हटाकर 'सहृदय' में स्थापित कर दिया; काव्यात्मक संकल्पना एवं उसके सृजनात्मक घटक के भाषाशास्त्रीय रूपान्तरण इकाइयों को समझने के लिए प्रयुक्त भाषेतर प्रभेदक उपलक्षणों को साधन के स्थान पर साध्य बना दिया। परिणाम भी स्पष्ट है। काव्यात्मक की 'सौन्दर्यवादी' प्रकृति

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

का पर्यवसान 'रसवाद' में हो गया; रस भोक्ता का वैयक्तिक विषय बनकर वस्तुवादी चिन्तन को 'आत्मवादी' बनने के लिए बाध्य करने लगा और सौन्दर्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र, काव्यशास्त्र तथा भाषाशास्त्र, भाषाशास्त्र तथा भाषेतरशास्त्र की श्रृंखला का उच्छेदन कर उसने भाषावादी दृष्टि को 'भाववादी' बनने पर मजबूर किया।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि 'शैलीविज्ञान' वस्तुतः आलोचना की प्रभाववादी (इम्प्रेशनिस्टिक) अथवा आत्मपरक (सब्जेक्टिव) धारा की प्रतिक्रिया के रूप में आविर्भूत धारा का ही एक विकासमान चरण है। इसकी पूर्वपीठिका के रूप में विभिन्न देशों में उद्‌भूत विभिन्न काव्यसम्प्रदाय के उदय की कहानी है—यथा, रूप में 'रूपवादी' (फॉर्मल) आलोचना, जर्मनी में Stilforschug, फ्रांस में 'पाठ्यविश्लेषवादी' समीक्षा और अमेरिका में 'नव्य समीक्षा'। पर आज हिन्दी समीक्षा सिद्धान्त और साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में हम आलोचना सिद्धान्त का वही प्रभाववादी और साहित्यशास्त्र का वही आत्मपरक चिन्तन पाते हैं जो भारतीय काव्यशास्त्र की अपनी मूल चिन्तनधारा के प्रतिकूल है और जिसे पाश्चात्य साहित्यशास्त्र भी आज के ज्ञान के सन्दर्भ में अपनाने से इनकार करता जा रहा है।

इतिहास की दृष्टि सर्वांगीण होती है। वह दर्शन की ही भाँति समग्रतावादी दृष्टि पर आधारित और ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र के घात-प्रतिघात की सक्रिय चेतना से स्पन्दित रहती है। काव्यशास्त्र के इतिहास के सन्दर्भ में यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि जब तक भाषाचिन्तन के सन्दर्भ में नयी-नयी उद्‌भावनाएँ होती रहीं तब तक न केवल काव्यात्मकता का केन्द्रक काव्यकृति मान्य रहा, उसकी आत्मा 'सौन्दर्य' की वस्तुवादी संकल्पना के रूप में पारिभाषित होती रही और इस आत्मा की व्याख्या तथा विश्लेषण भाषिक आधार पर विकसित होता रहा। पर भर्तृहरि के पश्चात् कोई भाषाशास्त्र का ऐसा विचारक ही नहीं उत्पन्न हुआ जिसने भाषाचिन्तन को नई दिशा और उसकी चिन्तन प्रक्रिया में कोई गुणात्मक परिवर्तन किया हो।

आनन्दवर्धन और कुन्तक (दोनों ही का काव्यचिन्तन भर्तृहरि के व्याकरण दर्शन से प्रभावित रहा है) के बाद काव्यशास्त्र का सर्जनात्मक युग समाप्त हो जाता है। ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त वस्तुतः व्याकरण परम्परा की उस निर्बाध धारा से सम्बद्ध काव्यसिद्धान्त है जो अपना चरम उत्कर्ष भर्तृहरि के 'स्फोट' सिद्धान्त और 'वाक्यार्थ' की सूक्ष्म विवृति में पाते हैं। इसके बाद या तो ध्वनि सम्प्रदाय की मान्यताओं की आलोचना के रूप में काव्य सिद्धान्त के प्रणेता सामने आए (यथा, मुकुलभट्ट और महिमभट्ट) अथवा उसकी पुष्टि अथवा व्यवस्थापन के लिए काव्यचिन्तन का आचार्यों ने प्रसार किया (यथा अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि)।

यहाँ यह भी संकेत दे देना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार रूसी 'रूपवादी' आलोचना या अमेरिकी 'नव्य समीक्षा' वस्तुवादी चिन्तन और भाषावादी दृष्टि से

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अनुप्राणित होकर भी 'शैलीविज्ञान' नहीं है (अपितु उसकी केवल पूर्वपीठिका के रूप में ही मान्य है) उसी प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र भारतीय शैलीविज्ञान (अगर ऐसा कोई काव्यसिद्धान्त है) की मात्र सन्दर्भगत पूर्वपीठिका ही है; स्वयं शैलीविज्ञान नहीं।

संदर्भ

१. इस कथन का महत्व इस तथ्य से अधिक स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य में 'वाणी' का स्थान 'बह्म' से नीचे है। ऐतरेय ब्राह्मण (१/१६) में बृहस्पति को ब्रह्म का प्रतिनिधि माना गया है और वाणी को क्षेत्र का। मेत्रायणी उपनिषद् (६/२३) में वाणी को बृहस्पति (ब्रह्म के प्रतिनिधि) से अवर स्थान दिया गया है। भर्तृहरि ने शब्द में परब्रह्मत्व की कल्पना की और सम्पूर्ण विश्व को इस शब्द ब्रह्म का 'विवर्तन' कहा। सूक्ष्म रूप में वाणी ही 'ब्रह्ममय' है, चिति तत्व है और स्थूलरूप में वह 'भाषा' है।

२. इस स्थिति की तुलना आज के साहित्यशास्त्रियों एवं समीक्षकों की उस मनोवृत्ति से करें जो व्याकरण को 'असत्' और काव्य को 'सत्य' मानते हैं तथा व्याकरणाचार्यों को व्यवहारवादियों (साहित्यशास्त्रियों) से निम्न स्तर पर रखते हैं। यथा, राममूर्ति त्रिपाठी (१९५७/१०६) वेदान्ती तथा भर्तृहरि जैसे स्फोटवादी वैयाकरणाचार्य के अर्थ सिद्धांत की चर्चा करते हुए लिखते हैं– "उक्त विचार शुद्ध पारमार्थिक दृष्टि से किया गया है, व्यावहारिक दृष्टि से नहीं किया गया है।.... व्यंजना व्यवहार दशा की वस्तु है, पारमार्थिक दृष्टि से तो उसका विचार ही नहीं है। वे ही वैयाकरण एवं वेदान्ती जब व्यवहार दशा में उतरेंगे, तब अभिधा के पैरों पर लौटेंगे। वाच्यार्थ मात्र समझने वाली मोटी बुद्धि के लोगों से सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न विदग्ध जनों का अन्तर सिद्ध करने के लिए व्यंजना को अगत्या स्वीकार करेंगे ही।"

३. वर्णविन्यास वक्रता, २. पदपूर्वार्द्ध वक्रता, ३. पदपरार्द्ध वक्रता, ४. वाक्य वक्रता, ५. प्रकरण वक्रता, ६. प्रबन्ध वक्रता।
इन प्रमुख छह भेदों के भी अनेक प्रभेद कुन्तक ने दिखलाए हैं। उदाहरण के लिए पदपूर्वार्द्ध वक्रता के आठ मुख्य प्रभेद हैं।

४. रूढ़िवैचित्र्य वक्रता, २. पर्याय वक्रता, ३. लिंग वैचित्र्य वक्रता, ४. विशेषण वक्रता, ५. संवृत्ति वक्रता, ६. वृत्ति वक्रता, ६. लिग-वैचित्र्य वक्रता, और ८. क्रिया-वैचित्र्य वक्रता। इसी प्रकार पदपरार्द्ध वक्रता के छह मुख्य प्रभेद 'वक्रोक्तिजीवितम्' में निरूपित हैं– १. काल वैचित्र्य वक्रता, २. कारक वक्रता, ३. संख्या वचन वक्रता, ४. पुरुष वक्रता, ५.उपग्रह वक्रता, ६. प्रत्यय वक्रता।

५. यहाँ इस ओर संकेत दे देना अनुचित न होगा कि किसी एक धरातल की इकाई अथवा संकल्पना को समझने के लिए दूसरे धरातल की इकाइयों की स्थापना अथवा इन स्थापित इकाइयों के सन्दर्भ में दूसरे धरातल की इकाइयों की व्याख्या

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

न तो अनुचित है और न अवैज्ञानिक ही। उदाहरण के लिए अगर भाषावैज्ञानिक 'स्वनिम' (फ़ोनीम) को प्रभेदक उपलक्षणों के समुच्चय के रूप में पारिभाषित करता है तब इन उपलक्षणों के निरूपण के लिए यह भाषेतर धरातल का आश्रय लेते हुए कभी शारीरिक (उच्चारणात्मक अथवा श्रवणात्मक) और कभी भौतिक (ध्वनितरंगात्मक) पैरामीटर की स्थापना करता है। इसी प्रकार 'अर्थ' पक्ष को विवृत्ति के लिए वह कभी 'सामाजिक' और कभी 'मनोवैज्ञानिक', पैरामीटर के आधार पर प्रभेदक उपलक्षणों को परिभाषित करता है।)

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२८

काव्य की रचना-प्रक्रिया-अभिनवगुप्त की दृष्टि में

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

आचार्य अभिनवगुप्त पाद की धारणा है कि जैसे आत्मचैतन्य में विश्रान्त शिवा के उन्मीलित होते ही सारा विश्व अन्य निरपेक्षता के कारण क्षण भर में समुन्मीलित हो जाता है,[१] वैसे ही रचयिता कवि की आत्मा में सतत् उदित प्रतिभा नामक परा वाग्देवता के अनुग्रह से इच्छानुसार काव्योचित विचित्र तथा अपूर्व अर्थ की स्फुरणा होने लगती है– काव्यजगत् क्षण भर में निर्मित हो जाता है।[२] अर्थात् जो कार्य शिव की शिवा करती है, वही कार्य कवि की प्रतिभा करती है– या यों कहें कि शिव की शिवा ही कवि की प्रतिभा के नाम से जानी जाती है। सच्चा कवि तो केवल माध्यम होता है– काम तो शिवापरनामा प्रतिभा ही सम्पन्न करती है।

इसी शैवी धारा के आचार्य आनन्दवर्धन[३] ने बताया है कि कवि के प्राक्तनपुण्यवशात् जब कभी काव्य निर्माण में प्रवृत्ति होती है तब वह पूर्वसूरियों द्वारा परम्परा प्राप्त अन्य सृष्टि सामग्री का उपयोग करने से विरत हो जाता है। स्वकीय सीमित कर्तृत्व का उपयोग निरर्थक है– इसलिये आनन्दवर्धन उसके भी उपयोग को मना करते हैं। अभिप्राय यह कि दूसरों द्वारा प्राप्त सामग्री का उपयोग कवि स्वयं नहीं करना चाहता है– राजशेखर[४] ने तो यहाँ तक कहा है कि वह परोपरचितार्थ के प्रति जात्यन्ध होता है–फलतः उसके ग्रहण का सवाल ही नहीं उठता है और स्वीय कर्तृव्य इतना सीमित है कि उसके उपयोग का औचित्य नहीं प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त[५] इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए कहते हैं कि कवि का अभीष्ट है– अपूर्व अर्थ का निर्माण। इस अभीष्ट की सिद्धि में या तो वह निरुद्योग होकर हाथ पर हाथ धरे बैठा रहे– या परोपजीवी हो– दोनों ही मार्ग उपहासास्पद हैं। इसलिए उन लोगों की धारणा है कि ऐसी विशिष्ट सर्जना "विसर्जना" के बिना असम्भव है। विसर्जन का अर्थ है– संकीर्ण अहन्ता का पूर्णता में विसर्जन-सीमित शक्ति का पराशक्ति में विलयन, सीमित कर्तृत्व का असीमित कर्तृत्व में समर्पण, ऐसा समर्पण कि वही शक्ति कवि को माध्यम बनाकर सक्रिय हो जाये। कवि केवल माध्यम रह जाये और शिवाभिधाना प्रतिभा अपना कार्य आरम्भ कर दे। वही अपूर्व तथा विचित्र काव्योचित अर्थ की स्फुरणा करने में समर्थ है– महाकवित्व के उन्मेष की प्रक्रिया यही है। शैवी धारा रचना में महत्त्व के आघात की यही प्रक्रिया स्वीकार करती है। यह अनुभव सम्मत भी है। व्यवहार, रचना और परमार्थ– सर्वत्र साधक जितनी बड़ी सत्ता में आत्मसत्ता का विसर्जन करेगा–उतनी ही बड़ी सम्भावना उसमें

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

सार्थक होगी। यह अहंकार ही है जो रचना को बड़ी होने से रोकता है– यदि वह विसर्जित हो जाये– तो रचना की अपरिमेय सम्भावना उजागर हो जाती है। शुद्धाहन्ता ही रचना की परा उपनिषद् है। सपिण्डित श्लोक यों हुआ–

अहंकारादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
विसर्गोपनिबन्धस्तु सृष्टेरुपनिषत् परा।।[६]

व्यष्टिसत्ता का समष्टिसत्ता में विसर्जन– कंचुकनिर्मुक्ति पूर्णता का साक्षात्कार है– आनन्दोच्छलशक्ति की स्थिति है– जो सृष्टिबीज है। सृष्टि उसी आनन्दभरित शक्ति की छलकन है– सूक्ष्मस्तर पर वही साक्षात्कार है और स्थूल स्तर पर वही रचना। आनन्दोच्छलित शक्ति स्वयं ही स्वयं का सर्जन करती है[७]– कवि की शक्ति आनन्दोच्छलित होकर ही अपूर्वार्थ निर्माण परायण होती है। अभिनव के गुरु भट्तौत ने ठीक ही कहा है कि केवल "साक्षात्कार" से कवि "ऋषि" का पद पाता है और "वर्णना" से कवि का। कवि के लिए "दर्शना" और "वर्णना"[८] दोनों ही अपेक्षित हैं– "दर्शना" आनन्दोल्लास है और "वर्णना" अपूर्वार्धनिर्माण। अभिप्राय यह है कि आनन्दोल्लास की प्रतिभा ही गति है। विसर्गकालीन संकोचप्रसारात्मक वड़वा वरांग की भांति संकोचप्रसारात्मिका आत्मसृष्टि विसृष्टिकाल में आनन्दभरित रहती है। इसलिये यह धारा काव्यरचना के लिए हृदयायतन में विश्रान्त अथ च सततोदित प्रतिभा को समुच्छल होने के लिए उसे रस से भरना ही है। यही रसमयता काव्य का सर्वस्व है– सम्भावनाभरित बीज है। मयूराण्डरसन्याय से इसी से काव्यवृक्ष का विकास होता है जो सहृदय ग्राहक में रसात्मक परिणति पाती है।

इसी आशा से शैवी धारा के आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है–

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः।।[९]

आदिकाव्य की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण इतिहास के ब्याज से स्पष्ट करते हुए आचार्य ने कहा है कि रचना प्रक्रिया के विषय में ऐसा ही होता रहा है। हमारे यहाँ "इतिहास" का अर्थ "ऐसा हुआ था" यह नहीं रहा–"ऐसा होता रहता है"– यह है (इति+ह+आस)। रामायण और महाभारत हिस्ट्री के अर्थ में इतिहास नहीं है। हमारे यहाँ इतिहास की दृष्टि वर्तमान में केन्द्रित है– ऐसा वर्तमान जो अतीत के सातत्य में है– एक प्रकार से यह अतीत की घटनाओं के सन्दर्भ में प्रत्यावलोकन की दृष्टि है।[१०] "राम या कृष्ण जैसे लीलापुरुषों की उपासना इतिहासपुरुष (ईसा-मूसा) के रूप में न होकर अपने बीच उपस्थित अपनी ईश्वरीयता के प्रमाण के रूप में या विराट् सृष्टि में स्पन्दित मानवीयता की नित्य अभिव्यञ्जना के प्रमाण के रूप में एक जीवन्त उपस्थिति के तौर पर की जाती है।"[११] अभिनव गुप्त पाद ने अपनी "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविभर्शिनी" में इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि सत् न तो केवल कोई कालनिरपेक्ष प्रतीति है, न दिक्काल से नियन्त्रित प्रतीति है– बल्कि यह दिक्काल से अलग रह सकने की अपनी क्षमता की प्रतीति है– पर इसके साथ ही

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

ऐसी क्षमता की प्रतीति भी जो दिक्काल में संसक्त हो सकती है।[१२] इस सबसे मैं यह कहना चाहता हूँ कि आनन्द ने इतिहास के ब्याज से कविता के लिए एक चिरन्तन सत्य का उद्घाटन किया है न कि केवल काव्य-विशेष दिक्काल नियत काव्य विशेष गत सत्य का। अभिनवगुप्त ने काव्यरचना प्रक्रिया का सार संकेत इसी कारिका की व्याख्या के ब्याज से स्पष्ट कर दिया है–" स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रान्द्राद्यनुभावर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानता प्रतिपन्नः, करुणरसरूपतांलौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः, रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् चित्तवृतिनिःष्यन्दस्वरभाववाग् विलापादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नये नाकृतकतयै वावेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादि -नियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः"– "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमित्यादि।"[१३]

इस विस्तृत उद्धरण में काव्य के उत्सभूत रसमयी हृदयदशा से लेकर काव्य के स्थूल रूप व्यक्त होने की सारी प्रक्रिया निर्दिष्ट है। रचना की सोपान-प्रक्रिया इस प्रकार है– विमलप्रतिभनिशक्ति हृदय-सहृदय वाल्मीकि आश्रम- क्रौंच से हृदय संवाद तन्मयीभवन-आस्वाद करुणरसास्वाद-लोकोत्तर आस्वाद आस्वाद का परिपूर्ण कुंभवत् उच्चल प्रवौह-प्रवाह का अनायास आवेशवश समुचित शब्द तथा छंदोवृत्त आदि उपकरणों में सम्मूर्त होकर रचना के रूप में परिणति।

१. इस क्रम में सबसे पहली स्थिति आती है– उत्सभूत हृदय की रसमयी दशा आनन्दोच्छलदशा।"[१४] कविगत रस की स्थिति निर्विवाद है। इस बिन्दु पर काफी कुछ विचारणीय है। पहला यह कि रसप्रतीति सहृदय ग्राहक को ही होती है या कवि भी? दूसरा रोमैंटिक चिन्तकों का यह आक्षेप कि क्लैसिक्स चिन्तनधारा में– रसवादी धारा में रसोद्बोधक माध्यमभूत सामग्री ही सब कुछ है– रचयिता के आत्मगत सौन्दर्य के साक्षात्कार का अवसर या प्रसङ्ग वहाँ नहीं है। तीसरा यह कि आनन्दवादी शैली ने करुणरस को केन्द्र में रखकर रस को काव्य का उत्स सिद्ध करने का प्रयत्न क्यों किया? बात यह है कि शैवी धारा में रस चमत्कार सार है[१५] और चमत्कार पूर्णाहन्ता का ही दूसरा नाम है।[१६] शिव आत्मपरामर्श आत्मशक्ति से ही कर पाता है– इसलिए शक्ति को चेतना की चेतना कहा जाता है। शक्ति ही है जिसके सहारे शिव को मैं पूर्ण हूँ– अहम् यह आत्मपरामर्श होता है और इस आत्मपरामर्श से जो अद्भुत प्रत्यय हैं– वह "चमत्" इस अनुकरणात्मक शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। 'कार' प्रत्यय लगाकर उसे ही "चमत्कार" कहा जाता है। यही चमत्कार आदि रस है– श्रृंगाररस है।[१७] विश्वसृष्टि के मूल में यही रस तत्व प्रतिष्ठित है। जो विश्वसृष्टि के मूल में है– वही काव्य-सृष्टि के मूल में भी होना चाहिये और अब यह होना चाहिये तब शैवी धारा करुण को केन्द्र में कैसे रख रही है? अभिनवगुप्त-सम्मत रसप्रक्रिया के प्रथम सोपान पर ऐसे अनेक प्रश्न स्वतः ही समुद्भूत होते हैं।

जहाँ तक पहला प्रश्न है– वह तो निर्विवाद है कि कवि को रसप्रतीति होती

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है। विवाद इसलिए खड़ा कर दिया गया था कि रसप्रतीति विश्रान्ति की दशा है और कवि सक्रिय सत्ता है– क्रियाशील है– वर्णप्रवण है। एक ही सत्ताधिकरण में विश्रान्ति रूप निष्क्रियता और काव्यक्रिया रूप सक्रियता– दोनों किस तरह सम्भव है? उत्तर दिया जा चुका है। कवि को "दर्शना" और "वर्णना" दोनों अपेक्षित हैं। पहली विश्रान्ति है और दूसरी क्रिया। दोनों का पौर्वापर्यक्रम से "संयत सातत्य" गतिशील रहता है। तर्क और अनुभव भी साक्ष्य हैं। तर्क यह है कि यदि मूल में ही रस नहीं रहेगा तो परिणति में कहां से आ जायेगा? अभिनवगुप्त का कथन है–

संसारनाट्यजननधातृबीजलताजुषीम्।
जलमूर्तिं शिवां पत्युः सरसां पर्युपास्महे।।[१८]

शिवा संसारजननधात्री है– प्रतिभानाट्यजननाधात्री-फलतः दोनों बीज हैं– एक से विश्वलता और दूसरी से नाट्यलता विकसित होती है। सो-यह शिवां या प्रतिभा शिव या कवि की जलमयी सरस मूर्ति है। अभिनव ने स्थल-स्थल पर कविगत रस की बात कही है।

दूसरा प्रश्न जो कविगत रस की पुष्टि भी करता है और आत्मसौन्दर्यवादी रोमैंटिक चिन्तकों के आक्षेप समाधान से भी सम्बद्ध है– यह है कि आनन्दवर्धन ने इतिहास के ब्याज से तो कविगत रस की स्थिति बतायी ही है– सहृदय प्रतिपत्ता के अपने अनुभव का भी साक्ष्य दिया है। उनका कहना है कि महाकवियों की वाग्रूपा सरस्वती कामधेनु की भाँति प्रतिपत्ता वत्स के प्रति स्वयं आस्वाद्य अर्थवस्तु के प्रवाह को समर्पित कर देती है और प्रतिपत्ता रसास्वाद के आवेश में कवि के प्रतिभा विशेष तक का साक्षात्कार कर लेता है।[१९] श्री टी० आर० वी० रामचन्द्र दीक्षितार का मत है कि यहाँ "प्रतिभा" का अर्थ "रसानुभवयोग्यता" है– जिसका साक्षात्कार सहृदय प्रतिपत्ता करता है और अपने अनुभव से कविता रसवत्ता को प्रमाणित करता है। यद्यपि अभिनवगुप्त "प्रतिभा विशेष" की व्याख्या रूढ संस्कार से वही करते हैं जैसा अन्यत्र कह चुके हैं– अर्थात् प्रतिभा कवि की वह क्षमता या शक्ति है जो विशद रसावेश में सुन्दरकाव्य का निर्माण करती है।[२०] स्पष्ट है कि इस श्लोक की अनुभवसाक्षिक उपादेयता दीक्षितार वाली व्याख्या में है।

इसके साथ-साथ लगा हुआ जो दूसरा प्रश्न है कि रसवादी क्लैसिकल चिन्तन में रचयिता का आत्मगत सौन्दर्यबोध उपेक्षित रह जाता है– उसका भी समाधान अभिनवगुप्त वाली व्याख्या से हो जाता है। यह प्रश्न आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने मुझसे किया था। अभिनवगुप्त ने

सरस्वती स्वादुतदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।[२१]

"प्रतिभाविशेषम्" की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा– "अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा, तस्याः विशेषम्– रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माण क्षमत्वम्।"[२२] स्पष्ट की "प्रतिभा"– कविगत "प्रतिभा"– की इस व्याख्या में रचयिता का आत्मगत सौन्दर्य

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

विद्यमान है जिसका अपरोक्षीकरण प्रतिपत्ता सहृदय करता है।

अब तीसरा प्रश्न आता है और वह यह कि जो शैवी धारा श्रृंगार को "श्रृंगार एवं मधुरः परः प्रह्लादनो रसः[२३] सृष्टिबीज मानती है, वही काव्यसृष्टि में करुण को केन्द्र में क्यों रखती है? इसके कई उत्तर सम्भव हो सकते हैं। पहला तो यह कि "न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"– में "रस" एक ही माना गया है और वह है– पार्यन्तिक परिणति। यहाँ तक पहुँचने में सामग्री भेद हो सकता है, पर गन्तव्यगत किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है।

दूसरा उत्तर यह है कि "इतिहास" की भारतीय अवधारणा क्या है, यह ऊपर कहा जा चुका है। उक्त वक्तव्य के माध्यम से आनन्दवर्धन ने एक देशकालबद्ध घटना का उल्लेख नहीं किया है– बल्कि यह बताया है कि ऐसा सदा होता रहा है, आज भी होता है, और आगे भी होता रहेगा। यह एतद्देशीय ही नहीं, सार्वदेशिक प्रसिद्ध भी है। स्तरीय काव्यसृष्टि के लिए करुण को पकड़ने के मूल में कुछ विशेष संकेत हैं। पश्चिम में भी कहा गया है–

Our sweetest songs are those that tell us of saddest thoughts. । इस सार्वभौम प्रत्यय संवाद के मूल में कुछ है।

इस प्रश्न को काव्यशास्त्र और शैवी दृष्टि दोनों के आलोक में देखना है– ससुत्तरित करना है। काव्यशास्त्र में जहाँ तक ध्वन्यालोक का प्रश्न है– मानता है– "श्रृंगारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्"–माधुर्य करुण में सर्वाधिक है–अर्थात् चित्त की सत्वस्थता सर्वाधिक है– अर्थात् विषय सम्पर्कात्मक काठिन्य या अनाविष्टता सर्वाधित विगलित है। यद्यपि इसी ध्वन्यालोक में कहा गया है "श्रृंगार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः"– पर अभिनवगुप्त इस अन्तविरोध का समाधान करते हुए कहते हैं कि "स्वकार" का व्यावर्त्य करुण जैसा अन्य रस नहीं, प्रत्युत क्रमागत यह धारणा कि गुण शब्दार्थ रचनागत[२४] है– व्यावर्त्य है। यद्यपि आगे चलकर मम्मट ने इस धारणा के विपरीत यह कहा है कि करुण से अधिक माधुर्य विप्रलम्भ में है और सर्वाधिक शान्त[२५] में। कहा गया है कि यदि हृदयगत काठिन्य या अनाविष्टता (विक्षेप) विषय सम्पर्कवश आता है–तो वह सम्पर्क शत-प्रतिशत शान्त में समाप्त होता है– या वहाँ विषय संविदाकार हो जाता है– पृथक् रह ही नहीं जाता है। आनन्दवर्धन "शान्त" के पक्षधर हैं और अभिनव ने "ध्वन्यालोक"– तृतीय उद्योत के "लोचन" में इसकी पुष्टि[२६] की है– फिर भी वह मम्मट की भांति "शान्त" में माधुर्यातिरेक की बात क्यों नहीं मानते हैं, वह करुण तक ही क्यों रह गये– उन्हें विप्रलम्भ में करुण से द्रुति की मात्रा कम क्यों भायी? परवर्ती मुनि तो वाग्देवतावतार मम्मट ही हैं। हो सकता है कि"शान्त" को (समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा शम का परिपुष्ट क्षेत्र) क्वाचित्क होने से अलग कर दिया गया हो। लेकिन करुण से विप्रलम्भ में द्रुति के आधिक्य के विषय में क्या कहा जायेगा? अनुभवसाक्षिक मतभेद कहकर टाल दिया जाये? "शान्त" के विषय में तो यह भी कहा जा सकता है कि

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

वह सबकी प्रकृति है– "शान्ताद् भावः प्रवर्तते"[२७]– और जो सबकी प्रकृति है– वह विकृति के समकक्ष विचारणीय क्यों हो? वहाँ तो श्रृंगार करुण सबको पहुंचना है। पर करुण से विप्रलम्भ की प्रकर्षवत्ता पर क्या कहा जाये? मम्मट का आशय स्पष्ट करने वाले तो यह कहते हैं कि विप्रलम्भ की अपेक्षा करुण में रति के सर्वथा निरपेक्ष होने से विक्षेप ज्यादा होता है और विक्षेप ही तो अनाविष्टता पैदा करता है– जो द्रुति का बाधक है– इसलिये मम्मट का पक्ष दुर्बल नहीं होता है। विप्रलम्भ और करुण का मतभेद भी मान लिया जाय तब भी दोनों में इतना सामान्य तत्त्व तो है ही कि दोनों "अभावग्रस्त" हैं– विप्रलम्भ में सावधि है और करुण में निरवधि निरपेक्ष। चाहे विश्वसृष्टि और काव्यसृष्टि में जितना भी साम्य हो–एक अन्तर तो रहेगा ही कि एक शक्ति का सीधा रूपान्तर है। इसलिए प्रजापति सृष्टि का मूल जिस तरह का खालिस आत्मपरामर्श है– समुच्छल आनन्द है–कवि सृष्टि में उसके साथ कुछ और है। इसलिए काव्य के लिए अपेक्षित "रस" ब्रह्मस्वाद नहीं–ब्रह्मास्वाद सहोदर है–दोनों सृष्टियों के मूल में शक्ति और आनन्दोच्छलन के बावजूद दोनों की प्रकृति में अन्तर है। काव्य में सृष्टि के ज्ञात उपादानों और उनसे प्राप्त मानस सुख-दुःखात्मक प्रतिक्रियाओं का परिष्करण रहता है– यह सामग्री लौकिक रहकर भी अपनी प्रक्रिया विशेष के कारण लोकोत्तर हो जाती है। कवि प्रजापति सृष्ट स्थूल सृष्ठ को उपादान बनाकर बहिः प्रकाश करती है। शैवी धारा में अन्तःस्थिति पदार्थ का बहिःप्रकाश ही सृष्टि है– सो अहम् रूप में द्रष्टा के साथ एकाकार रहता है और "इदम्" के रूप में पृथक् भाव में परिस्फुट हो उठता है। अभिनवगुप्त ने इसी आशय को स्पष्ट करते हुए "ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी" में कहा है–

चिदात्मैव हि देवोनतः स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुधादानमर्थजातं प्रकाशयेत्।।७।।[२८]

काव्यसृष्टि में इसी सृष्टि की पुनः सृष्टि होती है, अतः अन्तर कहीं न कहीं तो होगा ही। मूलसृष्टि में श्रृंगार का चमत्कार होता है– पर सृष्टि के रूप में जब अव्यक्त भाव रूप में व्यक्त होना चाहता है तब अभाव के साथ होता है– अभाव में ही भाव प्रतिफलित होता है– इसलिये सृष्टि भावभावात्मक है– अभावग्रस्त है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी इस मूल अभाव की वेदना से ग्रस्त है। इसलिए वह व्यवहार में निरन्तर अभावग्रस्तता के कारण विक्षिप्त रहता है। जीवन के छोटे-छोटे अभावों में यही मूल अभाव निहित रहता है। छायावादी चिन्तक इसी चिरविरह की ओर संकेत करते हैं। लगता है सृष्टि का स्थायीभाव यही चिरविरह है। विरह राग के बिना सम्भव नहीं है, अतः उसके मूल में राग प्रतिष्ठित है। वाल्मीकि का सत्त्व, राम का सत्त्व विकसित है– पर वह व्यवहार की संकीर्ण प्रतीति से भिन्न प्रकृति का होता है– लोकोत्तर होता है। इसीलिये वाल्मीकि का शोक करुण रस बन गया– "पुटपाकप्रतीकाशः रामस्य करुणोरसः"।[२९] इस प्रकार इतिहास जिस चिरन्तन सत्य का प्रकाशन करता है, वह ठीक ही है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इस इतिहास से एक और निष्कर्ष निकलता है और वह यह कि रस का सम्बन्ध हृदय की एक अवदात स्थिति से है– उस भूमिका पर जिसका हृदय प्रतिष्ठित रहता है। लोक उसको अन्यथा प्रतीत होता है। वह निखिल जगत् को नाट्यरसिक की भाँति क्रीडा के रूप में देखता है, और हर प्रकार से अनुभूति का पर्यन्ततः रस में पर्यवसान करता है– सामग्री चाहे लोक की हो या काव्यादि की। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[३०] भी ऐसा मानते हैं कि सामग्री किसी भी तरह की हो– स्थिति हृदय की यदि अवदात हो– तो प्रतीति रसात्मक हो जाती है, तथापि उनकी चिन्तन पद्धति और अभिनव की चिन्तन पद्धति में अन्तर है– दोनों में से एक ही भूमि बुद्धिवादी है और दूसरे की आत्मवादी। एक ही रसप्रतीति मुक्त हृदय– अवदात मनोदशा है, दूसरे की आत्मपरामर्शदशा। इसलिये एक सुखदुःखोभयात्मक रसप्रतीति मानता है और दूसरा अनिवार्यतः आनन्दमय।

इस प्रकार कविगत रसानुभूति जो सर्जनप्रक्रिया का मूल उपादान है– आन्तरिक वाह्य सर्वविध सामग्री से व्यक्त हो सकती है। बाल्मीकि की अनुभूति बाह्य सामग्री से दीप्त हुई और "दर्शना" से "वर्णना" तक पहुंची– जबकि राम की अनुभूति आन्तर सामग्री से व्यक्त हुई और "दर्शन" से "वाग्विमायनादि" तक ही रह गयी। अभिनव के उपर्युक्त वक्तत्व में आस्वाद या रसानुभूति तक पहुंचने के तीन सोपान निर्दिष्ट हैं–

१. विभावादि की चर्वणावश हृदय संवाद

२. तन्मयीभवन

३. आस्वाद करुणरसास्वाद

व्याधनिहतसहचरीदर्शन विभाव, शोकमग्न सहचर का आक्रन्द अनुभाव, आदि वश बाल्मीकि का निर्मल हृदय उसी रंग से रञ्जित हो गया–तदनन्तर तन्मयीभवन चेत्य और चित्त का चित् का संविद रूप हो जाना– संविद विकास की दशा, तदनन्तर आस्वाद या करुण रस की मानस साक्षात्कारात्मिका प्रतीति निष्पन्न होती है। शाङ्कर वेदान्त की तन्मयीभवन वाली प्रक्रिया से शैवी धारा की तन्मयीभवन की प्रक्रिया भिन्न है। वहाँ चित्त विषयाकार परिणत होता है और फिर विषयावच्छिन्न तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का एकीकार होने से साक्षात्कार[३१] होता है। यहाँ विषय का ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मनः पटल पर प्रतिफलन होता है, जो मन चित् का ही स्पन्दनविशेष है। अन्ततः इस प्रकार के चित्त को आत्मरूप करता है। विषय का साक्षात्कार संविद् की व्याप्ति का विकास है। अभिनवगुप्त स्पष्ट कहते हैं–"तथा च घटो मम स्फुरति– इति कोऽर्थः ? मदीयं स्फुरणं स्पन्दनमाविष्टः मद्रूपतामापन्न एवं, चिन्मयत्वात्।"[३२] भास्कर कण्ठ ने इसे और स्पष्ट कर दिया है–

"ग्रहणसमये भावस्य मायया भावत्वेच भासितं निजं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवतियतः, तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकी भवति। यदुक्तम्"–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते।।[33]

व्यापकी भवे च तद्वस्तु स्वात्मसात्करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुतः शुद्धप्रकाशरूपत्वा-सादनमेव, प्रमातुः शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात्–

इन वक्तव्यों के आलोक में स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष तन्मयीभवन का अर्थ है– स्वरूप के रूप में ही बोध।

तन्मयीभवन के अनन्तर आता है– आस्वाद या रसास्वाद। अभिनवगुप्त उसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं– "अनुभावविभावबोधनोत्तरमेव तन्मयीभवनयुक्त तद् विभावानुभावोचित्तचित्तवृत्तिवासनानुरञ्जितस्वसंविदानन्दचर्वणागोचरोऽर्थः रसात्मा"–[34]

विभावादिबोधवश हृदयसंवाद-तन्मयीभवन-तदन्तर-विभावानुभावोचित चित्तवृत्ति की वासना से अनुरञ्जित स्वसंविदानन्द की चर्वणा। इस चर्वणागोचर अर्थ को रस कहा जाता है। यह प्रतीति लौकिक अनुभव तथा स्मृति आदि की सरणि से भिन्न है। इसलिये लोकोत्तर है।

इस समस्त विमोचन का निष्कर्ष यह हुआ कि सृष्टि-काव्यसृष्टि के लिये अहं का विसर्जन करता हुआ कवि मात्र माध्यम रह जाये, उसका अपना सीमित व्यक्तित्व सक्रिय न रहे, वाग्देवतात्मक प्रतिभा सक्रिय हो जाये, उसके अनुग्रह से अपेक्षित काव्योचित् सामग्री स्फुटित होने लगे और इस स्फुरण का उत्स रसमयी हृदयभूमि हो– उसी बीज से कविता रूपी लता विकसित हो। काव्यरचना प्रक्रिया में रसावेश में सक्रिय विचित्र प्रतिभा की ही स्थिति महत्त्वपूर्ण है। अतः अभिनव की दृष्टि से में "प्रतिभा" विषयक अवधारणा का स्पष्टीकरण आवश्यक है। उन्होंने जहां-जहां "प्रतिभा" का स्वरूप स्पष्ट किया है– वहां-वहां सर्वत्र उसे रसावेश में सक्रिय "विचित्र" तथा "अपूर्व" वस्तुनिर्माणक्षम प्रज्ञा कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि रसात्मक चित्तवृत्तिसमुच्छकलित होकर अनायास काव्यात्मक परिणति पा लेती है। गुणोपसंहारन्यास से दोनों वक्तव्यों को मिलाकर यही आशय स्पष्ट होता है कि रसावेश में स्फुरणात्मक प्रतिभा सक्रिय रहती है और उससे काव्य निष्पन्न होता है।

वास्तव में व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाये तो "प्रतिभा" में प्रतिउपसर्ग दीप्त्यर्थक "भा" धातु तथा "भाव" अथवा "करण" में "क्विप्"? प्रत्यय तीनों का योग घटित है। इस प्रकार "प्रतिभा" भावव्युत्पत्तिक तथा करणव्युत्पत्तिक उभयविध है। भाव व्युत्पत्तिक की दृष्टि से वह एक क्रियाशक्ति है– प्रतिभानं प्रतिभा। करण व्युत्पत्ति से प्रतिभा वह माध्यम है– वह शक्ति है जिसके बल पर प्रतिभान होता है। अभिनव ने "शक्तिः प्रतिभानं"[35] भी कहा है–सम्भवतः यह औपचारिक प्रयोग है। वास्तव में इन दोनों में भावव्युत्पत्तिक "प्रतिभा" ही सटीक बैठती है। हां, विश्रान्त दशा में वह माध्यम है और जाग्रत दशा में स्फुरणाः (A Flash of light revealative) मम्मट जब 'शक्तिः कवित्वबीजभूतसंस्कार विशेष"[36] कहते हैं तब वे

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"स्वात्मायतनविश्रान्तप्रतिभा" की ही बात करते हैं और जो लोग उसे "काव्य घटनानुकूलशब्दार्थोपरिस्थिति"[३७] रूप मानते हैं वे जाग्रत क्रिया शक्ति के रूप में ही स्वीकार करते हैं। अभिनव में दोनों रूपों का सङ्केत मिलता है।

यह "प्रतिभा" आर्ष भी होती है और कदाचित् अनार्ष भी। हो चाहे जो, पर जाति एक ही है। शैवी धारा में इसका प्रयोग "पराशक्ति" के रूप में मिलता है– अन्यत्र सहज ज्ञान के रूप में। आगमों में त्रिपुरा शक्ति रूप में भी उसकी चर्चा मिलती है। उत्तररामचरित में ब्रह्मा से आदिकवि वाल्मीकि के लिए कहलवाया गया है– "आव्याहृतज्योतिरार्ष ते चक्षुः प्रतिभाति। आद्यकविरसि।"[३८] उत्तररामचरित के टीकाकार वीरराघव ने इस आर्षचक्षु या आर्षप्रतिभा की व्याख्या करते हुए कहा है– "आर्षम् ऋषिसम्बन्धि योगजन्यज्ञानं चक्षुः नेत्रं ज्ञानमिति फलितोऽर्थः।"[३९]

आर्षचक्षु का अर्थ हुआ– ऋषि का ज्ञान विशेषकर जो योग से प्राप्त हुआ हो। वैसे ऋषि शब्द जिस दृश् धातु से निष्पन्न है– वह स्वयं गत्यर्थक है– और गत्यर्थक धातुएँ बुद्ध्यर्थक होती हैं, अतः ऋषि शब्द का अर्थ है– अतीत, अनागत तथा वर्तमान सभी काल की वस्तुओं का ज्ञान रखने वाला– साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति। पातञ्जल दर्शन के "विभूतिपाद" नामक तीसरे अध्याय में कहा है– "ततःप्रतिभाश्रवणवेदनादर्शस्वादवार्ता स्वादवार्ता जायन्ते।"[४०] इस प्रतिभा ज्ञान की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट ने कहा है कि-दृष्टकारणं विनैव अकस्माद् व्यवहित विप्रकृष्टातीतानागतसूक्ष्मार्थेषु यथार्थज्ञानसामर्थ्य प्रतिभा"[४१]- अर्थात् प्रतिभा वह पुरुष प्रज्ञा है जिससे योगीजन दृष्ट कारणों के बिना ही अकस्मात् व्यवहित, विप्रकृष्ट अतीत, अनागत तथा सूक्ष्म अर्थों का साक्षात्कार कर लेता है। राजशेखर ने अपनी "काव्यमीमांसा" में भी प्रतिभा (कवि) के इसी रूप की पुष्टि की है और सोदाहरण बताया है कि किस प्रकार कवि प्रतिभा अदृष्ट देश और काल का वर्णन सही-सही कर डालती है। राजशेखर के कहने से लगता है कि आर्ष और अनार्ष-उभयविध प्रतिभा का कार्य एक ही है– पर ऋषि योग शक्ति से प्राप्त करता है और कवि विसर्जन की प्रक्रिया से। ऋषि प्रतिभा ही है और कवि पराशक्ति प्रतिभा का यंत्र। "योगकालतंत्र" में प्रतिभा को प्रज्ञा कहा गया है। व्याकरण दर्शन में जो शैवी और ब्राह्मी धारा का संगम है– "पश्यंती" रूप "प्रतिभा" मानी गई है। आगमों में कहीं-कहीं यह "संवेद्" रूप भी कहा गया है। बौद्ध केवल प्रज्ञा से ही परिचित हैं। जैनधारा अवधिज्ञान और केवल ज्ञान के रूप में आर्ष ज्ञान की विवेचना करती है। न्याय, वैशेषिक और वेदांत प्रतिभा को आर्षज्ञान का पर्याय मानते हैं। इस प्रकार आर्ष ज्ञान के अर्थ में प्रतिभा का सर्वत्र उल्लेख मिलता है– पर शैवी धारा उसे पराशक्ति के रूप में ही ग्रहण करती है। प्रजापति और कवि-उभयत्र वह "विश्रांत" और "क्रियाशील"– दोनों स्थितियों में ही है। कारिका में अभिनव उसे "विश्रांत" कहते हैं और "अभिनवभारती" की वृत्ति में "सततोदित वाग्देवता" कहते हैं। अवश्य ही दोनों में वे संगति देखते होंगे।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

धनिक ने दशरूपक की "अवलोक" नामक टीका में अनार्ष प्रतिभा सम्पन्न कवियों को सम्भवतः दृष्टिगत कहा है– "न कि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषाध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति किं तर्हि सर्वलोकसाधारणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधिः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीर्विदद्यति।"[४२] अर्थात् जिनमें आर्ष प्रतिभा नहीं है– ऐसे कवियों में अनार्ष प्रतिभा है। ये कवि योगी नहीं हैं कि ध्यानचक्षु से रामादि की व्यक्तिगत चेष्टाओं का साक्षात्कार कर इतिहासकार की भांति उसे यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करते हैं– विपरीत इसके अपनी उत्प्रेक्षा शक्ति या अनार्ष प्रतिभा से सर्वजनसंवेद्य धीरोदात्त आदि पात्रों की अवस्थाओं को भावनापटल पर ले आते हैं और किसी पात्र से उसे एक रूप कर देते हैं। आस्वाद की प्रक्रिया में ये पात्र अपना विशेष रूप खो देते हैं और आस्वाद में साधन बन जाते हैं। सवाल यह खड़ा किया गया है कि न तो कवि ने ऐतिहासिक पात्र को इतिहास लेखक की तरह रखा है और न ही आस्वाद की ओर से उस रूप में उसकी उपयोगिता है– तो उसे ऐतिहासिक नाम देने की आवश्यकता ही क्या है? यदि सर्जन और ग्रहण दोनों ओर से पात्र की वास्तविकता अनुपयोगी और अपारमार्थिक है तो उसके वर्णन में उपादान क्यों किया जाता है? दशरूपककार धनञ्जय का पक्ष है कि खेल में जैसे बालक अपारमार्थिक मिट्टी के बने हाथी घोड़ों से खेलता हुआ उत्साह का आस्वाद करता है वैसे ही अर्जुनादि पात्रों को अपारमार्थिक मानता हुआ भी ग्राहक सहृदय भावों का सही आस्वाद करता है। अभिनवगुप्त ने भी "अभिनवभारती" में "भावकस्य (दुष्यंतस्य) अपारमार्थिकत्वात्"[४३] कहकर निर्विशेष "भीत" से "भय" के आस्वाद को ही परमार्थतः नाट्य माना है।

इस प्रकार आर्ष और अनार्ष प्रतिभा का अन्तर भी बताया जाता है। आर्ष प्रतिभा में वर्ण्य प्रत्यक्ष दृष्ट होता है और अनार्ष में प्रत्यक्षायमाण होता है। इस तरह स्वरूपतः अंतर होने पर भी काव्य सृष्टि के लिये जब "प्रतिभा" सक्रिय होती है तब लगता है कि सामग्री स्वविषयक व्युत्पत्ति के निमित्त यथावत् रूप में उपात्त नहीं होती है– वहाँ आस्वाद मुख्य होता है– सामग्री उसके लिये जहां तक अनुगुण होती है– वहीं तक इतिहास से लेकर कांटी-छांटी और तराशी जाती है अथवा रसावेश में सक्रिय प्रतिभा अनुगुण सामग्री स्वतः स्फुटित होती जाती है–वहां सामग्री पारमार्थिक हो या न हो– रसानुगुण अवश्य हो। इस प्रकार आर्ष प्रतिभा की आस्वाद-परतंत्र अभिव्यक्ति और स्वतंत्र अभिव्यक्ति में अंतर है। यहाँ संदर्भ काव्यसृष्टि का है और तदर्थ अपेक्षित प्रतिभा के कार्य का है। अभ्यास और साधना की प्रगाढ़ता से कवि की समाधि जब लग जाती है तब ऐसा स्वानुभव सिद्ध है कि लेखक आविष्ट है और आवेश में वह पराधीन-सा अनुभव करता है– सृष्टि अज्ञातभाव से होती चलती है–चाहे आर्ष हो या अनार्ष– उभयत्र अहं का विसर्जन महत् सृष्टि के लिये सर्ववादि सम्मत है निश्चय ही यह प्रतिभा शक्ति अव्यक्तिगत है।

उक्त विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि प्रतिभा दो कार्य करती है– पहला

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

तो यह कि वह व्ययहित और बिप्रकृष्ट-परोक्ष वस्तुओं का अपरोक्षीकरण (दर्शन) करती है। और दूसरा यह कि वह रसावेश में साक्षात्कृत वस्तुओं या सामग्री में लोकोत्तरत्त्व का आधान करती है। इसी लोकोत्तरता को नव-नवता, अपूर्वता, विलक्षणता, आतिशय्य– आदि नामों से पुकारा जाता है। यह है– प्रतिभा का "दृष्टि" (दर्शना) पक्ष। प्रतिभा "दर्शन" ही नहीं करती है– जिस "सत्य" का साक्षात्कार करती है– स्थूल स्तर पर उसमें निहित सम्भावनाओं के अनुरूप वह रचती भी है। यह रचना उसका निर्माण पक्ष है– सृष्टि पक्ष है। अभिनव की विवेचनाओं में इसके भी संकेत हैं कि वह परोक्ष का अपरोक्षीकरण किस कोटि की करती है और अपरोक्षीकृत सामग्री लोकोत्तरता का स्वभाव बना होता है।

जहां तक अनागत या अतीत के अपरोक्षीकरण का सम्बन्ध है– भट्टतौत ने स्पष्ट कहा है कि सर्जक प्रतिभा में अतीत और अनागत वर्तमान बन जाते है।

कालौ भूतभविष्यन्तौ वर्तमानमवीविशत्।[४४]

उनको लगता है जैसे सब कुछ सामने घटित हो रहा हो– अतीत और अनागत व्यवधायक रेखाओं को तोड़कर वर्तमान से घुलमिल कर एकरस हो जाते हैं। इधर दृश्य वर्तमान हो जाता है– उधर द्रष्टा-हृदय-व्यक्तिहृदय की सीमा लांघ कर समष्टि के साथ तादात्म्यापन्न हो जाता है– व्यक्ति हृदयलोक हृदय में निमग्न हो जाता है– यही कवि की उत्प्रेक्षा शक्ति है, जिससे वह सर्वलोक साधारण सहृदयमात्र सम्बन्ध काव्योचित सुन्दर सत्य का साक्षात्कार करता है। इस "दर्शन" में उपादान सामग्री लोकानुभूत ही रहती है– पर उसका संयोजन या सन्निवेश लोकोत्तर प्रभावकारी होता है।

बात यह है कि विश्व में इंद्रियगोचर स्थूल विषय ही नहीं है– अतीन्द्रियगम्य सूक्ष्म विषय भी है, जिनमें से कुछ की प्रतीति वैज्ञानिक उपकरणों से है और सबकी मानसिक क्रिया विशेष से। मन की अद्‌भुत महिमा है, वह सत्-असत् सबका साक्षात्कार ही नहीं, सृष्टि भी कर सकता है और करता भी है। सृष्टि के सारे पदार्थ महामन से ही तो निकले हैं और आगे भी नये पदार्थ उससे निकल सकते हैं, पर मानव द्वारा सृष्ट पदार्थों के उपादान उसी महामन की अभिरुचि से निर्मित सृष्टि के होते हैं। वह उन्हीं उपादानों से नई-नई सृष्टि कर सकता है–पर वह चाहे कि नया उपादान ही निर्मित कर ले– सर्वथा मौलिक सृष्टि कर ले, यह सम्भव नहीं है। आपाततः मनःसृष्ट संसार चाहे जितना असंगत और विलक्षण लगे– पर बोध अन्ततः सुसंगत और सलक्षण ही होना चाहिये। अन्यथा अभिनवगुप्त उसे अविश्वसनीय कहते हैं– फिर ऐसी सामग्री से विवेक का निर्माण नहीं हो सकता है। विनेय ग्राहक के लिए कवि मनः सृष्ट सामग्री विश्वसनीय और बोधगम्य होनी चाहिये। इन सबके बावजूद मन और बुद्धि साधन ही हैं– मंत्र ही हैं। उनमें स्वतः चेतना नहीं होती है, प्रकाश नहीं होता है। वे जिसके प्रकाश में अपना कार्य करते हैं– वह वही महाशक्ति है–प्रतिभाभिधान पर वाग्देवता है। उसी के अनुग्रह से विचित्र और अपूर्व पदार्थ

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

स्फुरित होते हैं। आनंदवर्धन ने काव्य की नवता पर विचार करते हुए देशकाल तथा व्यक्ति भेद से अनंतता सिद्ध की है– अभिव्यक्ति भंगी से अनंतता की मात्रा बुद्धि सम्भावित की है–पर माना है कि सहृदय मात्र में समान भावोद्बोध क्षमता सम्पन्न हो– सामान्यीकृत हो। दशरूपककार का यह कहना भी सही है कि कवि योगी की भाँति प्रातिस्विक रूप में पात्रों को देखकर उपनिबद्ध नहीं करता है; अपितु रसिक होकर रसात्मक ढंग से, सर्वसाधारणीकृत विशेषताओं से संबलित करके काव्य में प्रस्तुत करता है– इसलिए उनकी नवता का अर्थ नया की तरह– होता है– नया ही नहीं।

दृष्टपूर्वा इपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।।[४५]

रसमग्न कवि की प्रतिभा में स्फुटित अर्थ नये की तरह मालूम पड़ते हैं– इसी अर्थ में वे विचित्र हैं– नये हैं। लोकोत्तर का अर्थ भी यही है कि इस "काव्यार्थ" की सृष्टि "व्यवहार" और "शास्त्र" की मनः स्थिति से भिन्न "कुछ और" ही मनःस्थिति में नहाकर बाहर आती है और ग्राहक को भी "कुछ और" ही स्थिति में डुबो देती है– इसलिये लोकोत्तर है। लोक की भांति काव्यार्थ के पास कोई अर्जन विसर्जन की नीयत से नहीं आता है– अतः लौकिक सुख-दुःख का नैयत्य भी अनुभव नहीं करता है– उससे ऊपर कुछ आनंदकर या विश्रान्ति दशा में पहुंचता है। इसलिये कवि की प्रतिभा इस नये से जान पड़ने वाले काव्यार्थ में लोकोत्तरता अहित करती है। कहा ही है–

प्रस्तुतातिशयविधानमन्तरेण न किञ्चिदत्रापूर्यमस्ति।[४६]

सृष्टि प्रक्रिया में इन लोगों के यहाँ "मायूराण्डरसंन्यास" की बात आती है। वही न्याय काव्य की रचना प्रक्रिया में भी लागू होती है। वहाँ सृष्टि का अर्थ ही है– अंतः स्थित का बहिः प्रकाश। उसी प्रकार यहाँ भी कवि की रसमयी अवन्ध्य वन्ध्याभावशून्य सर्जनात्मक अनुभूति से ही धीरे-धीरे काव्य का स्थूल शब्दार्थमय कलात्मक रूप उभरता है– जीवंत सृष्टि की भांति उसमें आवयविक अखण्डता विद्यमान है। प्रतिभा केवल सर्जनात्मक अनुभूति को अनुरूप सुन्दर काव्य सामग्री में मूर्त कर देने को आविष्ट है– कवि का सारा यत्न अनुभूति की अभिव्यक्ति में एकतान रहता है– यही एकतानता समाधि है– इसके सधने से सब सधा रहता है और इसके शिथिल होने से सब शिथिल हो जाता है। इसके शिथिल होने का आशय है– यत्न का विभक्त हो जाना। प्रयत्न अभिव्यक्ति के लिए है। अनुभूति के उसी आवेश में कलात्मक उपकरण स्वतः स्फूर्त होते हुए चले जाते हैं। इस प्रकार अभिनवसम्मत काव्य की रचना प्रक्रिया में शतपत्रभेदनन्याय से अपेक्षित सोपान निम्नलिखित क्रम से घटित होते हैं–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

समुचित सामग्री से हृदय संवाद

तन्मयी भवन

(अहं भाव) आस्वाद–विश्रान्त दशा

(प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः)

(अहमिदम्भावः चमत्कारात्मा) विमर्शमयी प्रतिभा का उद्रेक

(आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना)

दर्शना सूक्ष्म भाग का आकलन (दृक् भाव)
क्रिया-सृष्टि

वर्णना समुचित शब्दछन्दोवृत्तमय काव्य की रचना

संदर्भ

१. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रांतां वन्दे तां प्रतिभां शिवाम्।।
ध्वन्यालोकलोचन, चौखम्भा, १९४० पृ. १६४

२. कवेरापि स्वहृदयायतनसततोदितप्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थ निर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतेरिव कामजनितजगतः। नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती, प्रथम अध्याय, पृ. २१, का० हि० वि० वि० वाराणसी १९७१

३. येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थ-परिग्रहनिः स्पृहाणां स्वव्यापारी न क्वचिदुपयुज्यते। सैव भगवतीसरस्वतीएवमभिमतमर्थमाविर्भावयति ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ५५१

४. सारस्वतं चक्षुरवाङ् मनसगोचरेण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातंस्वयमेव विभजति। तदाहुः सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौं सरस्वती दर्शयति, तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽयंधंचक्षुः। अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यंधास्तद् विपरीतेतु दिव्यदृशः। काव्यमीमांसा-राजशेखर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना, १९५४, पृ. १५३

५. कुतः खल्वपूर्वमानयामीत्याशयेन निरुद्योगः परोनिबद्धवस्तूपजीविका वा स्यात् ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ५५१

६. स्वकीय

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

७. "आनंदोच्छलिता शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना"
उत्पलदेव की "स्तोत्रावली" की व्याख्या में क्षेमराज द्वारा उत्तर

८. नानृषिः कविरित्युक्तः ऋषिश्च किलदर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्वप्रख्या च दर्शनम्।।
अविद्याबीजप्रध्वसाद्–अयमार्षेण चक्षुषा।
कालौ भूतभविष्यन्जतौ वर्तमानमवीविशत्।।
न तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनाद् वर्णनाच्याय रूढालोके कविश्रुतिः।।
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽयादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता तावद्यावज्जाता न वर्णना।। भट्टतौत
काव्यानुशासन, ८ की वृत्ति में उदधृत।

९. ध्वन्यालोक-प्रथम उद्योत, ५वीं कारिका, पृ. ८५
१०. वही, पृ. १९
११. वही, पृ. २९
१२. वही, पृ. २७
१३. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ८६
१४. कविगतसाधारणीभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्तरो नटव्यापारः। सैव च संवित् परमार्थतो रसः। तदेवंमूलं बीजस्थानीयः कविगतो रसः
अभिनवभारती पृ. ६६१
१५. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
१६. भारतीय संस्कृति और साधना, वि० रा० भा० प० पटना, १९६३, पृ. २०
१७. वही, पृ. २०
१८. नाट्यशास्त्र अभिनवभारती, द्वितीय अध्याय की टीका, मंगलाचरण, पृ. १५८
१९. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यंदमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।।
ध्वन्यालोक १. ६, पृ. ६१
२०. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ६१
२१. ध्वन्यालोक, पृ. ६१
२२. वही, पृ. ६२
२३. वही, द्वितीय उद्योत का० ७ पृ. २०५
२४. वही, पृ. २०८
२५. काव्यप्रकाश, पूना (भं० ओ० रि० इं०) १९३३ ई०, पृ. ४७५
२६. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ३९०
२७. वही, पृ. ३९१ से उदधृत
२८. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी, पृ. १४२

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२६. उत्तररामचरित
३०. रसात्मक बोध के विविध रूप चिंतामणि, भाग-१
३१. वेदान्त परिभाषा
३२. वही
३३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा भाग १, वृहतीविमर्शिनी, पृ. ४२
३४. अभिनवगुप्त, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, पृ. २८६,७
३५. ध्वन्यालोकलोचन, पृ. ८१
३६. वही, पृ. ३१७
३७. काव्यप्रकाश, पृ. ११ (पूना संस्करण-वामनी), पृ. ६
३८. रसगंगाधर, निर्णयसागर, बंबई, १६४७, पृ. –
३६. उत्तररामचरित
४०. वही टीका
४१. पातंजलयोगदर्शन ३/३६
४२. नागेशकृत टीका पा० यो० दर्शन, पृ. १५८
४३. दशरूपक-अवलोकसमे, निर्णयसागर, १६४१, पृ. ६७
४४. अभिनवभारती (वाराणसी), पृ. ६५३
४५. भट्टतौत (उपरि उद्धृतः)
४६. ध्वन्यालोक, पृ. ५२८
४७. भारतीय साहित्य दर्शन, में उद्धृत, पृ. ५१, वाराणसी १६५१

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

२६

वक्रोक्ति मत का स्वरूप

ऐतिहासिक और दार्शनिक पीठिकायें

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

Dealing with the concept of Vakrokti ("crooked or uncommon way of expression") the author opines that it is a व्यापार and not a poetic figure (अलंकार), He points towards a close relationship of the concept of 'Spanda' in Ka'smira Saivism with the Vakrakti of Kuntaka and contends that though accepting Vakrokit as the lifesubstance (जीवितम्) of poetry, Kuntaka did ot consider it to be an alternative of रस (aesthetie pleasure) but rather held the view that Vakrokti culminated in rasa.

भारतीय रचनात्मक तथा शास्त्रात्मक वाङ्मय में भामह दण्डी जैसे अलंकारवादी आचार्यों से पूर्व वक्रोक्ति को उस तरह से उपस्थापित नहीं किया गया, जिस तरह से इन लोगों ने किया। भामह ने काव्य का केन्द्रीय तत्त्व "चारुता" मानी और उसका स्रोत अलंकार।[१] उनकी धारणा है कि इन अलंकारों की स्वरूप निष्पत्ति वक्रता-सापेक्ष है।[२] इनकी दृष्टि में "वक्रता" शब्द और अर्थ की लोकोतीर्ण रूप से अवस्थिति है।[३] इन्होंने "अतिशय" को उसके पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया है। यह मानना कि "वक्रता" में उक्ति को घुमा-फिरा कर प्रयुक्त किया जाता है और "अतिशय" में बढ़ा-चढ़ा कर– फलतः दोनों में भामह अंतर करते हैं– ठीक नहीं।[४] भामह पर यह अपना आरोपण है, वास्तव कथन नहीं। दण्डी ने वाङ्मय को वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति[५], जैसे दो भेदों में विभाजित किया है और कहा है कि शास्त्र में स्वभावोक्ति तथ्य कथन होती है और काव्य में वक्रोक्ति।[६] किन्तु इसका आशय यह नहीं कि काव्य में स्वभावोक्ति होती ही नहीं। निश्चय ही उनकी दृष्टि में शास्त्रीय "स्वभाववाख्यान" असुन्दर तथा काव्यगत स्वभावाख्यान सुन्दर होता है फलतः–

"काव्येष्वप्येतदीप्सितम्"[७]।

काव्य में भी स्वभावोक्ति का प्रयोग अभीष्ट है। यह अवश्य प्रतीत होता है कि स्वभावोक्ति अलंकार में भी जिस प्रकार भामह वक्रोक्ति की व्याप्ति मानते थे, उसी प्रकार दण्डी भी मानते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। वे वक्रोक्ति के साम्राज्य से स्वभावोक्ति को पृथक् कर देते हैं और भामह की तुलना में वक्रोक्ति की व्याप्ति कम कर देते हैं। वामन ने वक्रोक्ति की अर्थव्याप्ति और भी कम की। उन्होंने कहा– "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः।"[८]

सादृश्यमूलक लाक्षणिक प्रयोगों में ही वक्रोक्ति की संस्थिति कही जाती है।

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

यद्यपि उन्होंने "अतिशय"[९] की भी बात की है, पर उसकी व्याप्ति कतिपय इने-गिने अलंकारों में ही प्रदर्शित की है। रुद्रट[१०] ने इस वक्रोक्ति को और सीमित कर दिया। उन्होंने उसे शब्दालंकार के एक भेद के रूप में स्वीकार किया, जिसके दो भेद किये गये– काकु वक्रोक्ति और श्लेष वक्रोक्ति। इस अलंकारिकों ने अर्थालंकार के वर्गीकरण संदर्भ में वास्वत[११], औपम्य, श्लेष के साथ अतिशय का भी नाम लिया। पर "अतिशय" भामह की वक्रोक्ति का पर्याय नहीं था, सीमित था। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने परम्परागत दोनों अर्थों में "वक्रोक्ति"[१२] का उल्लेख किया, पर वह जिस "अलंकार" स्वरूप का निवर्तक माना गया, उसे व्यवस्थित कर दिया गया। सौन्दर्य स्रोतों में से एक और असाक्षात् (आत्म) सम्बद्ध तथा अनियत[१३] निरूपित किया गया।

इस रूप में परम्परा चर्चित "वक्रोक्ति" को निर्माण की दृष्टि से सोचने वाले कुन्तक ने काव्य को "जीवित"[१४] रूप में उपस्थापित किया।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि "जीवित" शब्द का आशय क्या है? डॉ० राघवन ने क्षेमेन्द्र के औचित्य सम्बन्धी चिंतन के प्रसंग में "रस" को आत्मा और "औचित्य" को जीवित के रूप में ग्रहण कर यह सिद्ध करना चाहा है कि क्षेमेन्द्र (ध्वनित) रसवादी अभिनवगुप्त के विरोधी नहीं हैं, अन्यथा यदि अभिन्नार्थक माना जाता तो क्षेमेन्द्र अभिनव के विपक्ष में चले जाते। निष्कर्ष यह कि काव्यात्मवाद के संदर्भ में डॉ० राघवन् ने आत्मा को Soul तथा जीवित को Life के अर्थ में लेकर अभिनव और क्षेमेन्द्र के बीच एक संगति लगाई है। लेकिन इस भिन्नार्थकता से एक दूसरी समस्या भी खड़ी होती है और वह यह कि कुन्तक के "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" में भी क्या इसी प्रकार "जीवित" को समझा जाय? काव्यस्यात्मा स (रसः) एवार्थः"[१६] काव्यस्यात्मा ध्वनिः"[१७] "रीतिरात्मा काव्यस्य"[१८]– इन धाराओं में प्रयुक्त "आत्मा" शब्द और वक्रोक्ति धारा का "जीवित" शब्द क्या भिन्नार्थक माने जायें? विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृष्टान्त में भले ही "आत्मा" और "जीवित" भिन्नार्थक हों, पर "काव्य" में दोनों शब्द समानार्थक ही सम्भव हैं। काव्यात्मवाद के सन्दर्भ में "आत्मा" शब्द का आशय "सारसत्ता" ही है, जो "जीवित" का भी अभिप्रेत है। कुन्तक के प्रयोगों का भी साक्ष्य लिया जाय–

(१) उचिताख्यानजीवितम्– उदाराभिधांन जीवितं परमार्थो यस्य।[१९]
(२) काव्यैकजीवितम्– काव्यस्य परः परमार्थ इत्यर्थः।[२०]
(३) शरीरं जीवितेनैव स्फुरितेनैव जीवितम्।[२१]
बिना निर्जीवतां येन वाक्यं याति विपश्चिताम्।।

इन प्रयोगों को देखने से लगता है कि कुन्तक ने जीवित शब्द का प्रयोग सारसत्ता के ही अर्थ में किया है। निष्कर्ष यह कि आत्मवाद के सन्दर्भ में प्रयुक्त "आत्मा" और "जीवित" को समानार्थक ही माना जाना चाहिये। फिर "औचित्यमत" के सन्दर्भ में जो भिन्नार्थकता बताई गई उसका क्या होगा? श्री रामपाल विद्यालंकार ने भी भेद नहीं माना[२२], भेद तो डॉ. के० कृष्णमूर्ति ने भी नहीं माना[२३], फलतः काव्य

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

में रस को अंगी मानने वाले अभिनव ने ''औचित्य'' को अंगी मानने वाले क्षेमेन्द्र को विरोधी बताया और कारण यह बताया कि क्षेमेन्द्र रसौचित्य को औचित्य का एक भेद मानते हैं। मेरा विचार यह है कि डॉ. राघवन् व्यर्थ ही अवरोध के लिये ''आत्मा'' और ''जीवित'' को भिन्नार्थक मानते हैं। भिन्नार्थक माने बिना भी उनका पक्ष सिद्ध हो सकता है। यदि यह मान लिया जाये तो क्षेमेन्द्र आलोचक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तत्त्व का अनुसंधान कर रहे हैं और अभिनव ग्राहक की ओर से– अतः पहला ''औचित्य'' (जो जहाँ है वह वहाँ ठीक तो है) को महत्त्व दे रहा है– रस को भी औचित्य की परिधि में ले रहा है और दूसरा ग्राहक रस को। अतः दृष्टिभेद से ही अभिनव तथा क्षेमेन्द्र के आपाततः प्रतीयमान विरोध का निरास हो जाता है– इसके लिये ''आत्म'' और ''जीवित'' को भिन्नार्थक मानने का प्रयास निरर्थक है।

एक बात अवश्य है कि काव्य के सारतत्व पर आलोचक, सर्जक और ग्राहक– तीनों दृष्टियों से विचार हुआ है। आलोचक की दृष्टि से यह तत्त्व ''औचित्य'' है, ग्राहक की दृष्टि से ''रस'' और सर्जक की दृष्टि से अलंकार, रीति और वक्रोक्ति। सर्जक अभीष्ट प्रभाव में उत्पन्न करने के लिये किस सार तत्त्व का उपयोग करे? प्रभाव की प्रकृति क्या हो? भामह की कारिका ''न कांतमपि निर्मूलं विभाति वनितानननम्[२४] से स्पष्ट है कि जिस प्रकार अलंकारवादियों को वनिता के आनन पर राजमान कमनीयता आकृष्ट नहीं कर पाती– फलतः आकर्षण के लिये भूषण द्वारा उत्पादित या प्रवर्द्धित सौन्दर्य ही अपेक्षित होता है, उसी प्रकार इन अलंकारवादियों को सहज कमनीयता संवलित उक्ति तब तक आकर्षक नहीं होती जब तक उस पर आलंकारिक छटा न उभर जाये। रुचि-रुचि की बात है। रीतिवादी यौवन प्रभाव सहज कमनीया में ही कवित्व का प्रस्फुटन मान लेता है– अलंकार उसको प्रवृद्ध मात्र करते हैं।[२५] भामह की कारिका बता रही है कि सहज कमनीयता की भित्ति तो अवश्य होनी चाहिये– पर वह आलंकारिक पेंटिंग कवित्व के उन्मेष के लिये अपेक्षित है और इस पेंटिंग के लिये रंग– ''वक्रता'' या ''लोकोत्तर अतिशय''[२६] का हो– यह शर्त है। यह अतिशय लोकोत्तर रूप से उक्ति की संस्थिति[२७] पर निर्भर है– शास्त्र और व्यवहार की पिटी-पिटाई पद्धति से अलंकार निर्माण के लिये अपेक्षित वक्रता कुछ और ही होती है। उक्ति में यह वक्रता सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के प्रातिभ आवेश में फूटती है। उक्ति की काव्यात्मक परिणति के लिये अलंकारवादी वक्रता गर्भ अलंकारों की अनिवार्यता मानता है और रीतिवादी[२८] गुणों की। एक अलंकारों में सभी सौन्दर्य स्रोतों को समाविष्ट करना चाहता है और दूसरा गुणों में। सौन्दर्य दोनों को अभीष्ट है– उस तरह का प्रभाव दोनों उत्पादित करना चाहते हैं–पर एक सहज और दूसरा कृत्रिम। लोचनकार ने इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा था–''चारुत्वं द्विविधं स्वरूपनिष्ठं, संघटनानिष्ठं[२९] च'' अर्थात् चारुता या सौन्दर्य उक्ति के स्वरूप में भी है और संघटना में भी। स्वरूपनिष्ठ सौन्दर्य का स्रोत अलंकार है और संघटना (रीति) निष्ठ सौन्दर्य का स्रोत गुण। इन अलंकार और रीतिवादी आचार्यों की दृष्टि से श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत ''रस'' को वह सर्वातिशायी

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

मान्यता प्राप्त नहीं थी–जो आनन्दवर्धन था अभिनव गुण के मत से आगे चल कर हुई।[३०] भामह अलंकार में ही उसे अन्तर्भूत कर लेता है और रस व अलंकार नाम कहता है जबकि वामन दीप्त रस वाले ओजोगुण से संपृक्त होने पर भी गौडी या[३१] रीति को अनात्मभूत या तुच्छ समझता है। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन से पूर्व श्रव्यकाव्य में चारुता का प्रवाह और दृश्यकाव्य में रसानुभूति का प्रवाह स्थापित था। यह आनन्दवर्धन है जिसने उभयत्र "रसप्रवाह"[३२] के प्रामुख्य की बात की। दृश्यकाव्य में ही नहीं, मुक्तक काव्य[३३] में भी रस की सर्वातिशायी प्रतिष्ठा की। इन्होंने गुण और अलंकार की जगह व्यंजकत्व[३४] चारुता को स्रोत निरूपित किया और इस चारुता को रस में पर्यवसित किया। वैसे कवि की प्रतिभा सर्वोपरि है–मूलतः सौन्दर्य स्रोत का सौन्दर्यमय वही है। जिसे चाहे, उसके सिर पर सौन्दर्य स्रोतस्कता का सेहरा बाँध सकती है। उसके लिये अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का नियम नहीं है– वह नियतिकृत नियम रहित और स्वतन्त्र है। इसीलिये कालिदास की अभिधा समर्थित उपमा में जो सौंदर्य फूटता है, वह उत्प्रेक्षा सम्राट हर्ष की व्यंजना समर्पित उपमा में नहीं। इसीलिये प्रतिभावादी आनंदवर्धन व्यंजकत्व को चारुता का स्रोत कहकर भी अभिधा की सम्भावना का निराकरण नहीं करते। यदि कवि की प्रतिभा-शक्ति का का हस्तावलंब अभिधा को मिल गया, तब वह भी काव्योचित चारुता का स्रोत बन सकती है। इस गूढ़ तथ्य का संकेत आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत में किया है। उन्होंने कहा है– "वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषा "भेदनेव प्रतीयते"[३५]– काव्य में शास्त्र और वाच्यार्थ की अपेक्षा काव्यार्थ की प्रतीति प्रत्यक्ष की भाँति प्रातिन्विक विशेषताओं से संवलित रूप में होती है– फलतः काव्योचित चारुता से मंडित होती है। यह प्रत्यक्षायमाण वाच्यार्थ ही नहीं होगा, यदि अभिधा का विषय नहीं होगा। व्यवहार और शास्त्र में सामान्य रूप से वाच्यार्थ की प्रतीति होती है, पर काव्य में विशिष्ट रूप में होती है। महिमभट्ट ने कहा है कि शब्द की अभिधा शक्ति से समर्थित अर्थ दो प्रकार के होते हैं– सामान्य और विशिष्ट।[३६]

अभिधा लब्ध अर्थ का विशिष्ट रूप वही है जो प्रत्यक्ष का विषय (व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित) होता है। महिम के मत के– "स एव सत्कविगिरां गोचरः।"[३७]

यह व्यक्तिगत विशेषताओं से संवलित प्रत्यक्षगोचर अर्थ ही प्रतिभाप्रसूत कवि की वाणी या शब्द का अर्थ होता है। बात यह है कि प्रतिभा कवि की तीसरी आँख है जिसके समक्ष अतीत और भूत का आवरण हट जाता है और सब कुछ वर्तमान-सा हो जाता है– प्रत्यक्षायमाण हो जाता है। राजशेखर आदि समीक्षकों की धारणा है कि कवि में यदि प्रतिभा है तो वह अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष कर लेती है।[३८] वह योगी हो या नहीं, पर प्रतिभाशक्ति उसे उस भूमि पर कभी-कभी उठा ले जाती है और वह सब कुछ दिखा देती है जो योगी साधनावश देखता है। पं० केशवप्रसाद मिश्र के इस कथन में सचाई है कि योगी जिस भूमि पर साधना के बल से पहुँचता

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

है, प्रतिभा वैभव सम्पन्न कवि वहाँ अनायास ही प्रतिष्ठित हो जाता है।[३६] लेकिन यह दृष्टांत ही है, सर्वथा एकरूपता करनी सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यह कि यदि प्रतिभाशक्ति है तो चारुता का कौन-सा स्रोत किसके बल पर कब फूट जाय यह नियम बनाना कला के क्षेत्र में असम्भव है। इसीलिये यद्यपि (अभिनवगुप्त और) आनन्दवर्धन व्यंजकत्व को काव्योचित सौंदर्य का स्रोत निरूपित करते हैं, तथापि उपर्युक्त पंक्ति के आलोक में (वाच्यानां च....)प्रातिभ सामर्थ्य के समक्ष उसे शिथिल भी कर देते हैं। "अभिनवभारती" में इस "साक्षात्कारकल्पः" अर्थ का संकेत अभिनवगुप्त भी देते हैं। अतः के० कृष्णमूर्ति जी की यह स्थापना कि रस समर्थकता[४०] के कारण ही काव्यभाषा व्यवहार और शास्त्र की भाषा से पृथक् हो जाती है– विचारित नहीं है। उसके और भी स्रोत हैं। पश्चिमी समीक्षा में तो क्रोचे[४१] ने Knowledge का विषय ही प्रत्यक्षगोचर "व्यक्ति"[४२] को बताया है। बिम्बवादी आचार्यों ने इस पर इतना बल दिया है कि कवित्व का एकमात्र स्रोत ही बन गया।[४३] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[४४] तथा प्रायः समस्त छायावादी चिंतकों[४५] ने इसी अभिप्राय से काव्य भाषा को चित्र भाषा कह दिया– चित्रार्थ बिंबार्थ समर्थक भाषा कह दिया। वहाँ तो Imagination उस शक्ति Faculty को कहा गया जहाँ Image या बिंब गंढ़ा जाता है। इसलिये भारतीय प्रतिभा उसकी आत्मसात् करती हुई भी उसका पर्याय नहीं है– विशेषकर कश्मीरी आलंकारिकों के संदर्भ में। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा कुन्तक उसी कश्मीरी धारा के आगमिक आचार्य हैं। इसी चर्चा को यहाँ रोक कर प्रकृत में यह कहना चाहता हूँ कि श्रव्यकाव्य के क्षेत्र में काव्यभाषा द्वारा जिस प्रकार का प्रभाव अलंकारवादी और रीतिवादी अभिव्यक्त करना चाहते थे– वह चारुतात्मक था। ये लोग रस को वह महत्व नहीं दे रहे थे जो आनंद और अभिनव द्वारा दिया गया।

कुन्तक का काव्य प्रस्थान सर्जनापक्षीय है– इसीलियें भाषा ही– शब्दार्थ ही– उसके लिये सब कुछ है–

आखर अरथ कविहिंबल सांचा। अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा।।[४६]

इसीलिये अलंकार और रीतिवादियों की भाँति उन्हें भी अपनी सारी क्षमता का उद्रेक शब्दार्थ को ही केन्द्र में रखकर (अलंकार्य बनाकर) बताना पड़ा। अलंकार और रीतिवादियों की तुलना में कुन्तक को विरासत में बहुत कुछ मिला था– इसीलिये उन्हें ध्वनि तथा रसवादियों की विरासत को आत्मसात् करके अपने को प्रस्तुत करना पड़ा। इसीलिये उनकी दृष्टि में एक तरफ "स्वभाव" और "रस" अलंकार्य[४७] हैं और दूसरी ओर "शब्दार्थ" भी अलंकार्य है[४८] ग्रहणपक्ष से ये वस्तु सौन्दर्य पर भी बल देते हैं और पर्यवसित रसवत्ता या लोकोत्तराह्लाद पर भी। पर इन सबका स्रोत "वक्रता" को ही निरूपित करना है इसीलिये उनकी स्थापना है–

लोकोत्तराह्लादकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वोविधीयते।[४९]

सामान्य भाषा से काव्य भाषा का व्यावर्तक पूर्व सूरियों द्वारा अनुद्भावित

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

"वक्रता" का विधान कुन्तक का अपना पौरुष है। लोकोत्तराह्लादकारिता काव्यभाषा का लक्ष्य होने से व्यावर्तक है– सामान्य काव्यभाषा यह काम नहीं करती। लोकोत्तराहलाद समर्थक होने से ही काव्यभाषा का सामान्य भाषा से प्रस्थान भेद है– काव्यभाषा में यह समर्थकता कविव्यापार स्वरूप "वक्रता" की है। काव्यगत वस्तु और काव्यगत आह्लाद व्यवहार और शास्त्रगत वस्तु और आहलाद से भिन्न प्रकृति का है– इस भिन्नता को उभारने का श्रेय कवि व्यापार को है। अलंकार और गुण भी यह काम करते थे, पर "वक्रता" की व्याप्ति उनसे बढ़कर है। अलंकार शब्दार्थ रूप भाषा की विशेषता है और वामन ने "गुण" को भी भाषा धर्म रूप[५०] से ही स्थापित किया है। कुन्तक ने अपनी "वक्रता" में इन सबका समावेश करते हुये भी (वैभिन्य या वैचित्र्य सम्पादक काव्यभाषा गत धर्म) उसे और व्यापक भूमिका दी है। अलंकार या गुण (वर्ण, पद तथा वाक्य) शब्द तथा अर्थ के ही धर्म हैं, प्रकरण या प्रबन्ध के स्तर पर उभरने वाली चारुता के स्रोत रूप में उनका विधान नहीं है। ध्वनिवादी आचार्य की दृष्टि इस ओर गई– उसने प्रकरण और प्रबन्ध के सौंदर्यस्रोत के रूप में "ध्वनि" की व्याप्ति स्थापित की, कुन्तक ने इस विरासत को भी आत्मसात किया और आगे बढ़े। एक ओर ध्वनि के समस्त प्रभेदों को "वक्रता" में आत्मसात किया और दूसरी ओर "व्यंजकत्व" को भी सौन्दर्यस्रोत के रूप में आत्मसात कर सौंदर्यस्रोत को और व्यापकता दी। व्यंजकत्व को सौंदर्यस्रोत मानने से वाचकत्व की बिंबार्थसमर्थ रूप में सौंदर्यस्रोतस्कता छूट जाती है– "वक्रता" को मानने से काव्यभाषा की कोई शक्ति नहीं छूटती। कुन्तक ने अर्थप्रत्यायकत्व रूप साम्य से उपचारतः शब्दमात्र को काव्य में "वाचक" कहा। वह वाक्य काव्य में वही "सटीक शब्द" है, जिसकी ओर आनंदवर्धन ने कारिका द्वारा संकेत किया था।[५१] अर्थात् आनंदवर्धन ने कहा था कि अभीष्ट चारुता के प्रकाशक सटीक शब्द को– जिसका कोई पर्याय किसी अन्य शंक्ति से समर्पित न कर सके– व्यंजक या ध्वनिशब्द कहते हैं। ध्वनिवादियों की धारणा ही हो गई थी– "न तादृशी कोऽपि वाच्यार्थो यो मनांगनामृष्टप्रतीयमानः स्वत एवं चमत्कारमाधातु प्र भवति "[५२] अर्थात् ऐसा कोई वाच्यार्थ हो ही नहीं सकता जो प्रतीयमान की अपेक्षा किये बिना स्वयं चमत्कारोत्पादन में सक्षम हो सके। कुंतक इस संभावना का विस्तार करते हुए काव्यभाषा मात्र से उसे जोड़ना चाहते हैं। यह अवश्य है कि वे काव्य में न तो शब्द भेद स्वीकार करते हैं न ही अर्थभेद, किन्तु व्यवहार और शास्त्र की जड़भाषा काव्यभाषा का व्यतिरेक दिखाने के लिए उसे "वक्र" या "विचित्र" कहना चाहते हैं। उनका "विचित्रैवाभिधा वक्रोतिः"[५३] प्रमाण भूत वक्तव्य है। उन्हें काव्यभाषा में प्रसिद्ध प्रस्थान से व्यतिरेक इष्ट है। यद्यपि यह व्यतिरेक निम्नगामी या अपकृष्ट होने में भी संभावित है, तथापि सौन्दर्य के साथ लोकोत्तर आह्लाद के साथ जुड़े रहने के कारण उसे उत्कर्ष के साथ ही जुड़ना होगा। काव्यभाषा अभीष्ट सौंदर्य के संप्रेषण में क्षम हो–वह चाहे जिस सामर्थ्य से हो। यह कवि व्यापार है, प्रतिभा है– जो अपने पारस स्पर्श से काव्यभाषा की प्रत्येक क्षमता को सौंदर्य संप्रेषण का स्रोत बना सकती है–

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

इसे कोई नियम रोक नहीं सकता। इसलिए तो वह नियतिकृत नियम रहित है।[५४]

कुन्तक "वक्रता" नामक अलंकृति को अलंकार्य काव्य से वस्तुतः अपृथक् सिद्ध मानते हैं– केवल समझने के लिए अलग कर लेते हैं।[५५] समूचा काव्यशब्द और उससे समर्थित अर्थ– ही "वक्र" है– लोकोत्तर है– शास्त्र और व्यवहार की अपेक्षा "कुछ और" है। वर्ण्य वस्तु यदि स्वभाव सुन्दर है तब तो कवि प्रतिभा उसे यथावत् उकेर ही देती है, यदि वैसी नहीं है तो बना देती है। सामान्यतः औचित्य तो यही कहता है कि पेंटिंग के लिए आधार को स्वभाव सुन्दर होना चाहिये। स्वभाव पर ही वक्रता फबती है। कुंतक ने तो यहाँ तक कह दिया है– "स्वभावस्यैव रूपेण निरूपणमेव हि वक्रतायाः परं रहस्यम्।"[५६] वक्रता की अंतरात्मा स्वभाव का ही सहज उभार है। मैं उन दोनों प्रकार के कवियों की वंदना करता हूँ, जो वस्तु में निहित स्वभावसिद्ध अव्यक्त सुभग तत्व को वाणी के सहारे उभार देते हैं अथवा जो भूत को अपनी क्षमता से सुन्दर बना देते हैं।[५७] मतलब कवि लीन सौंदर्य को उभारता भी है और अपनी प्रौढ़ि से आहित भी करता है– और यह सब होता है कवि व्यापार से। वर्ण्य वस्तु में लीन सुभग तत्व कहने का स्पष्ट आशय है कि सौंदर्य लोकोत्तर– चारुतर उसमें स्वभावतः है, पर न तो वह सर्वसामान्य की आँखों में आता है न ही वर्ण्य बन पाता है– उसके लिये तो कवि की तीसरी आँख अपेक्षित होती है– जिसकी ओर महिम ने संकेत किया है–

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गोयते
येन साक्षात्करोत्येव भावास्त्रैलोण्यवर्तिनः।[५८]

अर्थात् यह कवि की प्रतिभा नामक तीसरी आँख है, जिससे वह त्रैलोक्यवर्ती और त्रिकालवर्ती पदार्थ समुदाय को देख लेता है। इतना ही नहीं– वह उस लोकोत्तर सुभगतत्व का भी साक्षात्कार करता है– जो सर्वसामान्य की आँखों का विषय नहीं बना।

प्रश्न यह भी है कि यह चारुता या सुभगतत्व है क्या? कुन्तक क्या इस तरफ कोई दार्शनिक आलोक भी विकीर्ण करते हैं? यह स्वभाव है क्या, जो वक्रता का परम रहस्य है? कुन्तक इस वक्रता को केवल प्रौढ़ि प्रसूत भी नहीं मानते और नही सर्वथा लोक रूढ़। वास्तव में कुन्तक कश्मीरी आलंकारिक हैं और शैवदर्शन (त्रिक्‌दर्शन या स्पंददर्शन) से परिचित हैं। परिचित ही नहीं हैं– "वक्रोक्ति जीवित" के "मूल में वही दृष्टि अंतर्निहित है।" आरम्भ के मंगलाचरण से ही उन्होंने कहा है कि उस शिव को नमस्कार है जो विश्व चित्र का निर्माण करने में केवल परिस्पन्दस्वभाव आत्मशक्ति मात्र का सहारा लेता है।[५९] आगम का व्यवर्तक लक्षण है– शक्ति की विशिष्ट अवधारणा।[६०] इसके अनुसार मूलतत्व 'द्वयात्मक अद्वय" है। इस मत में जगत् मिथ्या नहीं है। मूलतत्व की चिन्मयी संकोच प्रसारात्मिका शक्ति का विस्तार है। एक तरफ श्रुति कहती है– "एकाकी न रमते'[६१] "स द्वितीयमैच्छत्"[६२] और दूसरी तरफ कहती है–"द्वितीया द्वे अत्र भवति"[६३]– अर्थात् एक तरफ वह लीला के लिये "द्वितीय" भी चाहता है और दूसरी ओर "द्वितीय" को भयोत्पादक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

भी मानता है। इस अन्तर्विरोध का निवारण इसमें है कि वह स्वयं अपनी क्षमता से "द्वितीय" बन जाय, इस तरह उसकी इच्छाशक्ति भी कार्यान्वित हो जाती है और भयोत्पादक की स्थिति भी नहीं आती। शंकर अद्वैत में "द्वितीय" सर्वथा भिन्न है। आगम में शक्तिमान की अपनी शक्ति का ही रूपांतरण है। यही वह शक्ति है जिसका सहारा लेकर शिव या शक्तिमान जगत् का निर्माण करता है।[६४]

इस शक्ति का स्वरूप स्पंदात्मक है–

जगत्त्रितयवैचित्र्यचित्रकर्मविधायिनम्।
शिवं शक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणं नुमः।।

सृष्टिकाल में स्पंद स्वभाव[६५] यह शक्ति आनन्द लाभ करती है।

"स्पंद" का शाब्दिक अर्थ है– कंपन, जिसकी निष्पत्ति किंचिंच्चलनार्थक "स्पदि" धातु से होती है। यह एक ज्योतिर्मय बिन्दु है। कंपनात्मक होते हुए भी इस तत्व को उस "क्रिया" शब्द से बोधित नहीं किया जा सकता जो जागतिक क्रिया का, काल विशेष से घटित होने वाली "क्रिया" का द्योतक है। स्पंद को यदि समझकर कहा जाय तो "शक्ति" भी कहा जा सकता है, स्पंद को इच्छा भी कहा जा सकता है पर यह समझकर कि स्पंद "इच्छा" बनती है, पर "इच्छा" "स्पंद" नहीं। अतः उसे "इच्छा" से भिन्न भी नहीं कहा जा सकता। "स्पंद" सक्रिय भी है और निष्क्रिय भी। सक्रिय इसलिये कि उसमें कंपन के कारण देश प्रच्युति रूप क्रिया रहती है, पर इस देश प्रच्युति की संतति नहीं चलती– अतः जागतिक क्रिया के बोधक क्रिया शब्द का प्रयोग भी यहाँ नहीं किया जा सकता– फलतः इस दृष्टि से उसे निष्क्रिय भी कहा जा सकता है। वह चित् स्वरूप नहीं चित् शक्ति रूप है। वैसे शक्ति और चैतन्य पर्याय ही है। चित्स्वरूप शिव की स्वभावभूता "शक्ति" उससे निकलकर पुनः उसी में समा जाती है– विश्रांत होती रहती है। यही आवर्तात्मक कंपन ही स्पंद है; जो निष्क्रिय एवं सक्रिय के मध्य है।[६६]

वैसे स्पंदन नैयायिकों और वैशेषिकों के परमाणु में, सांख्यों के गुण में और शक्ति में तीनों जगह हैं। योग भाष्यकार ने कहा है– जितने समय में एक परमाणु स्वदेश प्रच्युति करता है– वही समय "क्षण" है।[६७] इसी का प्रतिबिंब बुद्धिगत समुदित होकर काल कहा जाता है जिसमें भूत भविष्य की कल्पना होती है।

यह "स्पंद" स्थिर भी है और गतिशील भी। गतिशील इसलिये कि यह कंपन है और स्थिर इसलिये कि उसमें स्वदेश प्रच्युति नहीं होती। यही स्पंद सारी सृष्टि का मूल स्रोत है– पर इसके लिये सामान्य स्पंद में वैषम्य आना आवश्यक है। रामकण्ठ ने "स्पंद" की चर्चा करते हुए कहा है–"स्पंदशब्दश्चायं स्वस्वभाव -परामर्शमात्रस्य नित्यस्य शून्यव्यतिरेचनकारणभूतस्य तावन्मात्रसंरभात्मनः शक्त्यपरा-भिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किचिंच्चलनात् "स्पंद" इति अर्थानुगमात् वाचकत्वेन व्यपदिश्यते"[६८]– अर्थात् यह स्पंद परमेश्वर का किंचिंच्चलनात्मक विशेषता है– उसे शक्ति भी कहा जाता है। यह स्पंद दो प्रकार का है– सामान्यात्मक तथा विशेषात्मक। "सामान्य स्पंद" का स्वरूप इस प्रकार है– "एष उपादेयतमः

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य अयमहमस्मि– अतः सर्वप्रभवति, अत्रैव च प्रतीयते– इति प्रत्यवमर्शत्मको निजो धर्मः सामान्यस्पंदः।''[६९] अर्थात् इस संसार का परम कारण स्वरूप सत्य अपने स्वरूप का– यह मैं हूँ, इसी सब का उद्‌भव होता है इसी में सब प्रलीन हो जाते हैं– इस प्रकार का जो प्रत्यवमर्शात्मक निज धर्म है– वही सामान्य स्पंद है। यह कंपनशील पदार्थ मात्र में अनुस्यूत सामान्य स्पंद है। यह वह सदृश परिणाम वाही ज्योतिर्मय बिन्दु है जहाँ शिव और शक्ति समरस हैं। शिव तत्व की दृष्टि से वही निस्पंद है और शक्ति तत्त्व की दृष्टि से सदृश परिणामवाही शक्ति। सांख्यों का पुरुष भी ज्योतिरूप है– पर परिरमणशील नहीं। वहाँ तो इसे छोड़कर प्रकृति और तत्प्रसूत भावमात्र परिणामशील हैं। यह सदृश परिणामवाही प्रकृति या सामान्यस्पंद उस ऋतुमति स्नाता नायिका-सी है जिसमें केवल गर्भधारणा की स्वरूप योग्यता है कार्यकारी योग्यता नहीं। इस सामान्य स्पंद में अशेष-विशेष स्पंद समाये हुए हैं। उसमें इच्छा (कामाख्य बीज) का प्रतिफलन हुआ कि विशेष स्पंद बनते हैं। विशेष स्पंद का स्वरूप- निर्देश करते हुए कहा गया है कि विशेष स्पंद के कारण ही अनात्मभूत देहादि में आत्माभिमन पैदा होता है, भिन्न-भिन्न माया प्रमाताओं में ''मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ'' इस तरह का त्रिगुणात्मक ज्ञानप्रवाह उत्पन्न होता रहता है। ये विशेष स्पंद स्वरूप के आच्छादक हैं।[७०] इस प्रकार कश्मीरी दर्शन में जिस ''स्पंद'' का अत्यन्त सूक्ष्म और गहन विवेचन हुआ है– उसकी चर्चा ''वक्रोक्ति जीवित'' में अनेकशः हुई है। फलतः इस दार्शनिक विवेचन के आलोक में उसे समझने का प्रयास करना चाहिये।

कुंतक ने ''वक्रोक्ति-जीवित'' में ''स्पंद'' शब्द का प्रयोग विभिन्न रूपों में किया है। काव्यमार्ग में अर्थ का स्वरूप क्या होना चाहिये–इस पर कुंतक का कहना है– ''अर्थः सहृदयाह्लादकारि स्वस्पंदसुन्दरः''[७१] और इसकी व्याख्या में वे स्पष्ट कहते हैं–''काव्ये ये सहृदयाः काव्यार्थविदः तेषामाह्लादमानंदं करोति यः तेन स्वस्पंदेन आत्मीयेन सुन्दरः सुकुमारः''[७२]– काव्य में जिस अर्थ का विधान हो–वह अपने स्पंदात्मक स्वभाव से सुन्दर प्रतीत होकर सहृदयों को आह्लाद मग्न कर सके। यह स्पंद वस्तु का स्वभाव है– उसके बिना तो वह कही ही नहीं जा सकती। इसी स्वभाव के कारण वस्तुगत उत्कर्ष की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने ''स्वभाव'' का बहुत ही स्पष्ट व्याख्यान करते हुए कहा है– ''अपरिम्लानः प्रत्यग्रपरिपोषपेशलः यः स्वभावः पारमार्थिको धर्मः.....''[७३]– स्वभाव वस्तु का परमार्थ रूप है जो अभिनव और रसमय होता है। निष्कर्ष यह कि वर्ण्यगत जिस सुभगतत्त्व की लीनता या संस्थिति बताई जाती है–वह स्पंदमयता ही है– वही वस्तु मात्र का स्वभाव है– जो अपनी समग्रता से कवि की प्रतिभा का ही विषय होता है। कवि प्रतिभाप्रसूत वाणी से उसे उभार कर भावयित्री प्रतिभा के सामने प्रस्तुत कर देती है।

अलंकारसर्वस्व के टीकाकार समुद्रबंध ने कुंतक के आशय को और भी स्पष्ट किया है। उसने कहा और ठीक कहा कि शब्द और अर्थ की योजना में इनसे अतिरिक्त कोई अलंकार नाम ही वस्तु नहीं है। अपितु विलक्षण कविव्यापार पूर्वक

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

अभिधान ही इसका अलंकार है– स्पष्ट ही इस प्रक्रिया में व्यापार की ही वक्रता की महत्ता है– उसी का प्राधान्य है–वही काव्य का जीवित है। इसीलिए कुंतक ने अलंकृत को ही काव्य कहा, काव्य का अलंकार नहीं। आनन्दवर्धन ने कहा था कि व्यापार वाक्यार्थ नहीं होता, व्यापार से वाक्यार्थ निष्पन्न होता है और कलात्मक वाक्यार्थ व्यंग्यार्थ ही है– वही गुण और अलंकार का उपस्करणीय है–फलतः वही प्रधान है, वही विश्रन्तिधाम है– अतः आत्मा है। कुंतक ने अर्थ का यह गौरव व्यापार के योग से सिद्ध करते हुए व्यापार प्राधान्यवाद चलाया, भट्टनायक ने भी व्यापार को ही महत्ता दी थी। अभिनवगुप्त ने कुंतक और भर्तृनायक से परिचित होने के कारण ध्वनन व्यापार को प्राधान्य देकर आनन्दवर्धन का समर्थन किया और कुन्तक की प्रतिस्पर्धिता की।

अब, दूसरा सवाल यह खड़ा होता है कि वक्रता नामक अलंकार के माध्यम से ही "काव्य चमत्कार" की स्थिति सम्भव मानने वाला कुन्तक "रस" के विषय में क्या सोचता है? काव्य की आत्मा का प्रश्न उठने पर "रस" के विषय में आखिर यह क्या कहता है? यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि वे सर्जना की दृष्टि से सारसत्ता का अनुसंधान करने चले हैं और मानते हैं कि कवि व्यापार का पारससंस्पर्श उद्दिष्ट सौंदर्य की निष्पत्ति में अपेक्षित है। उसकी वक्रता वस्तु के काव्योचित स्वभाव का अविच्छेद्य वैशिष्ट्य है–

उदाररुवपरिस्पन्दसुन्दरत्वेन वर्तनम्।
वस्तुनो वक्रशब्दैकगोचरत्वेन वक्रता।[७४] ३।१।

काव्योचित शब्द द्वारा वस्तु का काव्योचित रूप में प्रतीत होना ही उसका बांकपन है। इस रूप में प्रतीत वस्तु आह्लाद पर्यवसित होती है। अतः यह कहना कि कुन्तक की आत्मा की खोज करने चले और रह गये अलंकार तक ही-माध्यम तक ही– पूर्ण विचारित नहीं है। कुन्तक आनन्दवर्धन की भाँति किसी भी स्थिति में रस को अप्रधान नहीं करना चाहते। महिम की भी यही स्थिति है। वस्तु और अलंकार की तरह रस कभी वाच्य नहीं होता और व्यंग्य होते ही वह स्वतः अन्य अर्थों को उपाय बना देता है एवं स्वयं उपेय बन जाता है। निष्कर्ष यह कि उनका विवेचन आह्लाद तक जाता है– सांध्य तक जाता है– बीच में ही नहीं रुकता।

संदर्भ

१. काव्यालंकार, भामह, पृ. २ चौखंबा १९५८
२. वही, पृ. १७
३. ध्वन्यालोक लोचन, पृ. १७
४. काव्यालंकार, सं. प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा
५. काव्यादर्श, दण्डी
६. वही,
७. वही,
८. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति वामन

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

९. वही
१०. काव्यालंकार, रुद्रट
११. वही,
१२. ध्वन्यालोक, आनन्दवर्धन
१३. काव्यप्रकाश, मम्मट, अष्टम उल्लास
१४. वक्रोक्तिजीवित, कुंतक
१५. Some Concepts of the Alankar Shastra में संकलित History of Auchitya in Sanskrit Poeties शीर्षक लेख लेखक डॉ. वी० राघवन्, १९४२।
१६. ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, पृ. ८४, चौखंबा, काशी, संवत् १९९७
१७. वही, पृ. ६
१८. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वाणीविलास प्रेस १९०६, पृ. १५
१९. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. ६७ कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १९७०
२०. वही, पृ. ६६
२१. वही, पृ. २६
२२. क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि, १९६०, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, पृ. ६
२३. वक्रोक्तिजीवितम् भूमिका सं० के. कृष्णमूर्ति, धारवाड़ विश्वविद्यालय, १९७७
२४. काव्यालंकार, भामह, पृ. २ (१/१३) चौखंबा, १९८५
२५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन, पृ. ६९-७० वही संस्करण।
२६. काव्यालंकार, भामह, चौखम्बा, पृ. १८
"सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते"।
२७. विशेषो गुणात्मा, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति वामन, पृ. १६
२८. ध्वन्यालोक लोचन, चौखम्बा काशी संवत् १९९७।
शब्दस्य हि वक्रता अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानम्।
२९. वही, पृ. सं०
३०. वही,
३१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ. १०
३२. ध्वन्यालोक लोचन– चौखम्बा, पृ. १८६।
"काव्येऽपि च..... इयमेव रसवार्ता"
३३. वही, पृ. ३६० तथा ३२५
३४. वही, पृ. ३५८
३५. वही, चतुर्थ उद्योत, पृ. ५४३
३६. व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट प्रणीत, पृ. ३६० चौखम्बा, काशी १९३६
३७. वही, पृ. ३६०
३८. काव्यमीमांसा, राष्ट्रभाषा परिषद बिहार, पृ. २७ जून, १९४५
३९. साहित्यालोचन में उद्धृत, श्यामसुन्दरदास, १९४२, पृ. २८०
४०. अभिनवभारती भाग १ अभिनवगुप्त, पृ. २८७ गायकवाड़ सं. १९५६

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

४१. अप्रकाशित लेख से, पृ. १ Abhinava Gupta's view of Aesthetic concepts- by K. Krishnamurthy पृ. १३६!
४२. चितामणि, भाग-२ में उद्धृत, पृ. १५६, सं० २०२६।
४३. कविता क्या है– चिंतामणि में संकलित लेख, पृ. १२० ना० प्र० सभा, १६७६।
४४. वही,
४५. पल्लव, सुमित्रानन्दन पंत
४६. रामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर, अयोध्याकाण्ड
४७. वक्रोक्तिजीवित, पृ. १२६, पृ. २१
४८. वही, पृ. २० "उभावेतावलंकार्यौ।"
४६. वही, पृ. २ प्रथमोन्मेष-२
५०. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, पृ. १७, समग्रगुणगुम्फितावैदर्भी। १८
५१. ध्वन्यालोक, पृ. १४६
५२. रसगंगाधर, पंडितराजजगन्नाथ प्रथम आनन, पृ. ६४
५३. काशी हिं वि० वि०, वाराणसी, संस्कृत साहित्यानुसंधान समिति।
५४. काव्यप्रकाश, मम्मट, १/१, पृ. २ भ० ओ० रि० इ०, पूना १६२२
५५. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. ६
५६. वही, पृ. १०
५७. वही, पृ. १२०
५८. व्यक्तिविवेक, महिम भट्ट, चौखंबा, १६३६, पृ. ३६१
५६. वक्रोक्तिजीवितम्, १/१, पृ. १। कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़, १६७७।
६०. तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ. ३ (प्रस्तावना) बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १६६३
६१. बृहदारण्यक, पृ. ३६
६२. वही,
६३. वही, पृ. ३८ (१/४/२) पूना १६२८
६४. वक्रोक्तिजीवितम्, १/१, पृ. १
६५. तन्त्रालोक, कश्मीर सिरीज, १६१८
६६. स्पन्दकारिकाविवृत्ति २/५
६७. पातंजल योग दर्शन, व्यास भाष्य, पृ. २८८ लखनऊ, विश्वविद्यालय।
६८. रामकण्ठ प्रणीत, स्पन्दकारिकाविवृत्ति, २/५
६६. वही,
७०. वही,
७१. वक्रोक्तिजीवितम्, पृ. १४, धारवाड़ संस्करण
७२. वही, पृ. १७
६३. वही, पृ. १३७
७४. वक्रोक्तिजीवितम्, ३/१, धारवाड़ संस्करण

*

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham

विकास प्रकाशन कानपुर
Ph. : 0512-2543549
Mob. : 9415154156, 9450057852

CC-0. Lal Bahadur Shastri University, Delhi. Digitized by Sarvagya Sharada Peetham